छायावाद-युग

शम्भूनाथ सिंह एम. ए.

प्राध्यापक—काशी विद्यापीठ

प्रकाशक

सरस्वती-मंदिर

जतनबर, बनारस।

प्रथम संस्करण] १६५२ [मूल्य ६॥)

प्रकाशक
सरस्वती - मंदिर
जतनबर, बनारस ।

मुद्रक
मुन्नीलाल
कल्याण प्रेस,
आदिविश्वेश्वर, बनारस ।

समर्थ आलोचक

गुरुवर आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी को

जिन्होंने

छायावाद को समझा और समझाया है।

आभार

आज से आठ वर्ष पूर्व एम० ए० के विशेष निबन्ध के रूप में 'हिन्दी कविता—दो महायुद्धों के बीच' नाम से इस प्रबन्ध का कार्य आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की प्रेरणा और पथ-प्रदर्शन से प्रारम्भ हुआ था। तब से अबतक इस सम्बन्ध में अध्ययन-मनन और विचार-विनिमय का सिलसिला लगातार जारी रहा और उसी का परिणाम है 'छायावाद–युग'। अतः गुरुवर आचार्य नन्ददुलारे जी का मैं सब से अधिक आभारी हूँ। अंग्रेजी के प्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचक स्वर्गीय क्रिस्टाफर काडवेल के प्रति भी मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ जिसकी समाजशास्त्रीय आलोचना–पद्धति का मैंने किसी सीमातक अनुसरण किया है। आचार्यद्वय पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी और पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र से समय-समय पर जो सत्परामर्श और प्रोत्साहन मुझे मिलता रहा है उसको शब्दों में नहीं व्यक्त किया जा सकता, अतः उनके आभार का स्थान हृदय के भीतर ही सुरक्षित है। इस पुस्तक को तैयार करने में पिछले साल भर में मुझे प्रियवर श्री ब्रजविलास से जो सहायता मिली है उसे शब्दों में व्यक्तकर उसका मूल्य नहीं कम करूँगा। अपने उन विद्यार्थियों के प्रति भी, जिन्होंने पुस्तक की पाण्डुलिपि, विषय-सूची, सहायक ग्रन्थसूची आदि तैयार करने में मेरी सहायता की है, मैं कृतज्ञ हूँ। अन्त में पुस्तक के प्रकाशक, सरस्वती-मन्दिर के अध्यक्ष पं० गंगाशरण भार्गव तथा बन्धुवर श्री रामजी वाजपेयी का भी मैं आभार स्वीकार करता हूँ जिनके सचेष्ट प्रयत्न के बिना इस पुस्तक के छपने में न जाने कितनी देर हुई होती।

नवम्बर १९५२ **श० ना० सिंह**

दृष्टिकोण

हिन्दी साहित्य कम से कम एक हजार वर्ष पुराना है, उसका रचनात्मक साहित्य भी सम्पन्न और समृद्ध है पर उसके सम्बन्ध में आलोचनात्मक साहित्य इतना कम है कि साहित्य के सचेत और सजग विद्यार्थी को अपने साहित्य की जानकारी के लिए विभाषी या विदेशी साहित्य का मुखापेक्षी होना पड़ता है। जो कुछ आलोचनात्मक साहित्य है भी उस में सैद्धान्तिक और 'वादी' समीक्षा की ही अधिकता है, व्यावहारिक या प्रयोगात्मक समीक्षा का चिन्त्य अभाव आज भी बना हुआ है। अलग-अलग कवियों और लेखकों तथा विभिन्न युगों के साहित्य का मूल्यांकन करने वाली कितनी पुस्तकें हमारे पास हैं ! जहाँ अंगरेजी में अकेले शेक्सपियर पर इतनी पुस्तकें हैं कि उनसे एक पूरा पुस्तकालय बन सकता है वहाँ तुलसी पर लिखी गयी पुस्तकों से सम्भवतः एक आलमारी के सभी खाने भी नहीं भर सकते। पुराने साहित्य की समीक्षा की बात यदि छोड़ दी जाय तो नये साहित्य के मूल्यांकन का तो और भी अभाव दिखलाई पड़ता है। छायावाद हमारे साहित्य की एक अमर निधि है और छायावाद-युग हमारे साहित्य का एक महत्वपूर्ण कदम; पर उसके सम्बन्ध में समीक्षात्मक साहित्य की दरिद्रता शोचनीय है। इस सम्बन्ध में यदि हम प्रसिद्ध अलोचकों का नाम सोचते हैं तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० केसरीनारायण शुक्ल, डा० नगेन्द्र और शान्तिप्रिय द्विवेदी से आगे नहीं बढ़ पाते। अंग्रेजी में केवल रोमाण्टिसिज्म पर सन १९३६ तक ११३९७ पुस्तकें थीं और इस बीच न जाने कितनी पुस्तकें और निकल चुकी होंगी। इसके विपरीत हमारे यहाँ छायावाद के सम्बन्ध में लिखी समीक्षात्मक पुस्तकें शायद एक हाथ की उँगली पर ही गिनी जा सकें। उसमें से भी कितनी तत्वपूर्ण हैं और कितनी हलकी-फुलकी, यह एक अलग प्रश्न है। ऐसी स्थिति में छायावाद-युग सम्बन्धी पुस्तकों की आवश्यकता और उपयोगिता है, इसमें दो मत नहीं हो सकते। मेरी पुस्तक 'छायावाद-युग' अकेले ही छायावादी काव्य के समीक्षात्मक साहित्य के अभाव को पूरा कर देगी, यह झूठा दावा मैं नहीं कर सकता। इस सम्बन्ध में अलग-अलग कवियों, प्रवृत्तियों और शैलियों को लेकर स्वन्तत्र पुस्तकें लिखने की आवश्यकता है। उसी तरह विभिन्न दृष्टियों से छायावाद-युग पर अधिकाधिक प्रकाश डालने से तत्सम्बन्धी समीक्षात्मक साहित्य का अभाव पूरा हो सकेगा।

आज छायावाद-युग हमसे पीछे छूट गया है, अतः उसके बारे में अधिक तटस्थ और पूर्वग्रहरहित होकर विचार किया जा सकता है। छायावाद-युग के पीछे छूट जाने का अर्थ यह है कि हिन्दी कविता आगे बढ़ी है, एक ही जगह खड़ी होकर लेफ्ट-राइट (मार्क टाइम) नहीं कर रही है। इस प्रगति को छायावाद का पतन नहीं कहा जा सकता। यह कहना कि उसका पतन हुआ है, छायावादी काव्य पर उतना कड़ा आक्षेप नहीं है जितना छायावाद के बाद के काव्य-साहित्य पर। यह भी नहीं कह सकते कि छायावाद मर गया क्योंकि वह जी रहा है और रूप बदल कर जी रहा है, जैसे पाँच वर्ष का बच्चा पच्चीस वर्ष की उम्र में भी वही रहता है यद्यपि उसके रूप और ज्ञान-कोश में आकाश-पाताल का अन्तर हो गया रहता है; बच्चा मर कर नहीं, जी कर जवान होता है। उसी तरह आज का स्वच्छन्दतावादी यथार्थवाद हो या प्रगतिवाद, प्रतीकवाद (प्रयोगवाद) हो या नूतन रहस्यवाद, ये सभी छायावाद के ही विकसित रूप हैं। छायावाद की व्यक्तिवादी, प्रयोगवादी और कल्पनावादी प्रवृत्तियों की परिणति आज के प्रतीकवादी काव्य में हो रही है; उसी तरह उसकी यथार्थोन्मुख और वैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ या तो 'वादी' और साम्प्रदायिक बन कर तथाकथित 'प्रगतिवाद' का बिल्ला लगाये हुए सामने आ रही हैं अथवा युगानुरूप नवीन मोड़ लेकर स्वच्छन्दतावादी यथार्थवाद या सामाजिक यथार्थवाद के रूप में दिखलाई पड़ रही हैं। छायावाद का आध्यात्मिक आदर्शवाद ही आज मानवतावादी आदर्शवाद बनकर कहीं अरविन्दवादी 'नूतनरहस्यवाद' और कहीं गान्धीवादी 'सर्वोदयवाद' के रूप में पल्लवित हो रहा है। अतः नयी हिन्दी कविता को समझने और उसका मूल्यांकन करने के लिए भी छायावाद की प्रवृत्तियों और रचना-प्रक्रिया को भलीभाँति समझना नितान्त आवश्यक है। छायावाद के सम्बन्ध में निबन्ध लिख कर उसका समर्थन करने अथवा काव्यात्मक या प्रभाववादी समीक्षा लिख कर नया काव्य तैयार करने का अवसर अब नहीं रहा और न पश्चिम का अन्धानुकरण और अभारतीय कह कर या असामाजिक, पूँजीवादी और प्रतिक्रियावादी कह कर ही उसे झुठलाया जा सकता है। बीस-पचीस वर्षों का यह छोटा सा युग हिन्दी ही नहीं, सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य में अपना सुनिश्चित और महत्त्वपूर्ण स्थान बना कर अतीत की वस्तु हो गया है। अतः उसके सम्यक् विश्लेषण, विवेचन और मूल्यांकन के लिए यही उपयुक्त समय है। अब छायावाद के विरुद्ध प्रतिक्रियात्मक आलोचना की जगह समाजशास्त्रीय और साहित्यिक (शास्त्रीय) आलोचना की आवश्यकता है। अस्तु—

छायावाद-युग को मैंने इतिहास के आलोक में देखा है। इतिहास ने मुझे जो

दृष्टि दी है, वह एक ओर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मर्यादावादी आदर्शवाद की दृष्टि से भिन्न है तो दूसरी ओर 'कला कला के लिए' का सिद्धान्त मानने वाले प्रभाववादी आलोचकों की दृष्टि से भी सर्वथा भिन्न है। मेरे विचार से किसी युग के साहित्य और कला का मूल्यांकन करते समय निम्नलिखित बातों को मानदण्ड के रूप में सामने रखना आवश्यक है और यही वैज्ञानिक समाजशास्त्रीय आलोचना की दृष्टि है:—१—यह देखना कि तत्कालीन समाज आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और वैज्ञानिक विकास के किस स्तर पर है और उस विकास के अनुरूप उस समाज के भाव, विचार और दृष्टिकोण हैं या नहीं। २—भावों और विचारों की ऐतिहासिक परम्परा और उनके प्रगतिशील नैरन्तर्य के सिद्धान्त को स्वीकार करना और आलोच्य वस्तु में उन तत्वों को ढूँढ़ना। ३—विभिन्न संस्कृतियों के अन्तरावलम्बन और ज्ञान-विज्ञान पर मानव मात्र के अधिकार का सिद्धान्त अपनाकर साहित्य-कला का आकलन करना। ४—दृष्टिकोण, भाव और विचारों के परिवर्तन के अनुरूप साहित्य-कला के रूप-शिल्प या कला-सौष्ठव में भी परिवर्तन होता है, इस सिद्धान्त को स्वीकार करना। ५—समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक और साहित्यशास्त्रीय आलोचना-दृष्टि का समन्वय करना।

उपर्युक्त मानदण्ड को सतही नजर से देखनेवाले इस भ्रम में पड़ सकते हैं कि इस आलोचना-पद्धति से साहित्य का स्वतंत्र अस्तित्व मिट जायगा और वह अर्थशास्त्र, राजनीति, समाजशास्त्र या मनोविज्ञान का आश्रित होकर रह जायगा। किन्तु सतह से नीचे जाने पर पता चलेगा कि हमारे देश में भरत मुनि से लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक कोई भी ऐसा आलोचक नहीं है जिसने इतिहास, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान का (भले ही ये उस समय अधिक विकसित न रहे हों) किसी न किसी प्रकार की सहायता न ली हो; और यदि सहायता न भी ली हो तो भी आज की परिस्थितियों में हम उनका सर्वतोभावेन आँख मूँद कर अनुसरण करके आज से बीस वर्ष या हजार वर्ष पीछे नहीं लौट सकते। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि साहित्य की जो सम्यक् और विस्तृत आलोचना हमारे प्राचीन या अर्वाचीन समीक्षकों ने की है हम उसकी अवहेलना करते हैं। इसके विपरीत मेरा कहना तो यह है कि आज की परिस्थितियों के अनुकूल उनमें से जो कुछ भी ग्राह्य है उसे अवश्य अपनाना और उससे लाभ उठाना चाहिये। कहा नहीं जा सकता कि हमारे देश में यदि कभी क्रांतिकारी राजनीतिक परिवर्तन हुआ तो उस समय भरत, भामह, दण्डी, अभिनव गुप्त, कुन्तक, विश्वनाथ और जगन्नाथ के साहित्यशास्त्र की पोथियों पर क्या गुजरेगी, वे जला दी जायँगी या सरकार की ओर से छाप कर मुफ्त बाँटी जायँगी;

पर आजदिन प्रगतिवादी आलोचकों द्वारा उनकी जैसी उपेक्षा या छीछालेदर हो रही है, यदि वही क्रम जारी रहा तो आशंका इसी बात की है कि उनका राज होने पर उक्त आचार्यों की पोथियाँ या तो अजायबघरों की शोभा बढ़ायेंगी या उनके पठन-पाठन पर रोक लगा दी जायगी। किन्तु वह हमारे देश और राष्ट्रीय संस्कृति के दुर्भाग्य का ही दिन होगा और उससे मार्क्स और लेनिन की आत्मा को (यदि आत्मा होती हो तो) तनिक भी प्रसन्नता न होगी। यदि मार्क्स के 'कैपिटल' का छन्दोबद्ध अनुवाद कर दिया जाय और मार्क्स स्वयं जीवित होकर आ जायँ तो वह भी सम्भवतः उसे काव्य मानने को तैयार नहीं होंगे। सारांश यह कि कोई भी ईमानदार और सचेत समीक्षक या साहित्यकार, जो साम्प्रदायिक या 'वादी' नहीं है, साहित्य-कला पर धर्म, विज्ञान या राजनीति का नियन्त्रण नहीं स्वीकार कर सकता। अतः प्रस्तुत समीक्षा-ग्रन्थ के सम्बन्ध में यदि किसी को इस प्रकार का भ्रम हो तो उसके लिए ग्रन्थकार को दोषी होने का दण्ड नहीं मिलना चाहिये।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की यह उक्ति सोलहो आने सही है कि 'काव्य-समीक्षा का मुख्य आधार वह तीसरी रेखा है जो समय, स्थिति, विचारधारा काव्यशैली आदि के अनेकानेक भेदों के रहते हुए भी काव्य की एक अपनी माप बनाने का प्रयास करती है। ·····यह माप कदापि मापहीनता नहीं है। यह काव्यालोचन का शीर्षफल है जो निरन्तर काव्याभास द्वारा और अत्यन्त परिमार्जित सजग, सूक्ष्म और व्यापक चेतना के योग से प्राप्त होता है।' वस्तुतः साहित्य में 'वाद' का प्रमाद तभी घुसता है जब उसकी सीमा में कुछ विजातीय लोग दूसरे क्षेत्रों से घुस आते हैं और अपने सिद्धान्त या 'वाद' के बल पर समीक्षक बन बैठते हैं। काव्य, कथा-साहित्य, नाटक आदि रचनात्मक साहित्य में उनका जोर विशेष रूप से इसलिए नहीं लग पाता कि मूलतः उनमें उसके लिए क्षमता या प्रतिभा नहीं होती। इधर सर्जनात्मक साहित्य पर समीक्षा अत्यधिक प्रभाव डालने लगी है, इसीसे 'वादी' समीक्षकों का जोर भी बढ़ता जा रहा है, चाहे वे प्रगतिवादी हों या मनोविश्लेषणवादी। पहले के साहित्य में सर्जनात्मक साहित्य-कारों—कवियों, नाटककारों आदि—का ही प्राधान्य था और समीक्षक आचार्य उन्हीं की रचना के आधार पर सिद्धान्त-निरूपण करते थे; किन्तु अब समीक्षक यह बताने की हिम्मत ही नहीं आदेश तक करता है कि अब या इस वर्ष इस तरह के साहित्य की रचना होनी चाहिये, या अमुक रचना अब गलत हो गयी क्योंकि वह गलत सिद्धान्त के आधार पर निर्मित हुई है; अब बदली हुई नीति और सिद्धान्त के आधार पर साहित्य-रचना

होनी चाहिए। तात्पर्य यह कि ऐसे समीक्षक साहित्य का इस्तेमाल अपने वाद विशेष या दल विशेष के प्रचार के साधन के रूप में करना चाहते हैं और कर रहे हैं। अतः ऐसे समीक्षक यदि मेरे उपर्युक्त मानदण्ड से असहमत हों तो मुझे प्रसन्नता ही होगी। साहित्य के स्वतंत्र किन्तु अन्तरावलम्बित स्वरूप को स्वीकार कर के ही हम मानवसंस्कृति के विकास में योग दे सकेंगे, अन्यथा हम उसे विनाश की ओर ही ढकेलते जायँगे।

मानव-संस्कृति जितनी तीव्रगति से विकास और उन्नति के पथ पर दौड़ती चली जा रही है, उतनी ही अधिक उसके विनाश की आशंकायें भी बढ़ती जा रही है। महायुद्धों के बीच की अवधि घटती जा रही है और शान्ति के प्रयत्न के साथ-साथ युद्ध की आशंका भी उसी अनुपात से बढ़ती जा रही है। इस भयंकर विनाश-लीला के बीच मानव एक मशीन का पुर्जा सा बनता जा रहा है। यह निर्विवाद सत्य है कि जब तक सारे संसार में वर्गहीन समाज की स्थापना नहीं हो जाती, विज्ञान का दैत्य मानव-जाति और उसकी श्रेष्ठतम सांस्कृतिक धरोहरों को लीलने के लिए इसी प्रकार चारों ओरसे अट्टहास करता रहेगा। उस दैत्य को मंत्रपूत करके अपने लिए उपयोगी तभी बनाया जा सकता है जब कि मानव मानव पर विश्वास करे, उसे अपने ही समान मानवीय संभावनाओं और शक्तियों से युक्त समझे। अनेक आपत्तियों-विपत्तियों, झंझाओं और प्रलय-खण्डों का उत्पात सहती हुई उर्ध्वगामी मानव-जाति जब इतना आगे बढ़ आयी है तो उसके विनाश का दुःस्वप्न भी असत्य ही सिद्ध होगा, ऐसी आशा रखना तो ठीक है, किन्तु आज का विश्व-मानव जिस रास्ते पर बढ़ रहा है वह उसके गन्तव्य—वर्गहीन मानव-समाज—की ओर ले जा रहा है या और कहीं, और यदि और कहीं ले जा रहा है तो उस रास्ते को मोड़ने में साहित्यिकों का क्या योग हो सकता है, आज के समीक्षक के सामने यही सबसे बड़ा प्रश्नचिह्न होना चाहिए। मानव मात्र में मानवता की संभावना देखने और उसके अमानवीय स्वभाव को बदलने का कुछ उपाय साहित्यकार के पास भी है या नहीं, आज के साहित्यकार के सम्मुख यह भी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विचारणीय प्रश्न है। मेरे विचार से इसका एकमात्र सुलझाव यही हो सकता है कि हम मानव को पशु या मशीन का पुर्जा न मान कर मानव समझें और उसका रास्ता मोड़ने के लिए युद्ध का सहारा न लेकर शान्ति का सहारा लें अर्थात हिंसात्मक शस्त्रों और शास्त्रों का सहारा न लेकर प्रेम, सद्भावना और आनन्द के उस—साहित्य और कला—का सहारा लें। संसार के साहित्य में इस विचारधारा की परम्परा बहुत पुरानी है और आज उस परम्परा को पल्लवित-पुष्पित करके उसका युग

की आवश्यकता के अनुकूल रूप देने में ही साहित्य की सफलता और उपयोगिता निहित है। अतः आज के समीक्षक यदि अपने संकीर्ण मतवादी आग्रह के घेरे में बँध कर ही 'शान्ति-शान्ति' का नारा लगाते रहेंगे और साहित्य को वर्ग-संघर्ष का अस्त्र मान कर ही समीक्षा करते रहेंगे तो इससे न तो शान्ति-स्थापन में ही कुछ सहायता मिलेगी, न वर्ग-संघर्ष ही तीव्र होगा और न साहित्य ही समृद्ध हो सकेगा। इसके विपरीत शान्ति स्वप्न बनती जायगी और साहित्य अशक्त और निर्वीर्य प्रचार बनता जायगा। अतएव आज के समीक्षकों के सम्मुख मेरा यह सुझाव है कि साहित्य को इतिहास के आलोक में रख कर उसके सत् और असत् रूपों का पता लगाने और साहित्य की सत्परम्परा को आगे बढ़ाने में ही मानवता और साहित्य दोनों का कल्याण निहित है।

किसी भी युग या कवि की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए उसकी सत्प्रवृत्तियों का महत्व कम कर देना या उन्हें दृष्टि से ओझल कर देना मैं आलोचनात्मक अपराध समझता हूँ क्योंकि मानवता के कल्याण तथा मानव का मानव में विश्वास जमाये रखने के लिए अतीत की सत्प्रवृत्तियों की परम्परा से वर्तमान साहित्य का सम्बन्ध जोड़ना अत्यन्त आवश्यक है। उसी तरह वर्तमान साहित्यकारों की आलोचना करते समय उनकी इसीलिए अवहेलना या निन्दा करना कि वे किसी दूसरे मतवाद के अनुयायी हैं अथवा वे तटस्थ या स्वतंत्र विचार के हैं, उतना ही बड़ा अपराध है। निश्चय ही इस प्रवृत्ति से न तो शान्ति की स्थापना हो सकेगी न वर्गहीन समाज की; और न इस तरह स्वस्थ, सुन्दर और प्रगतिशील साहित्य का ही निर्माण हो सकेगा। 'छायावाद-युग' की आलोचना में मैंने यही दृष्टिकोण अपनाया है और उपर्युक्त मानदण्ड की सहायता से छायावाद की सदसत्प्रवृत्तियों का पता लगाने और राष्ट्रीय सांस्कृतिक परम्परा के मेल में रख कर उन्हें देखने का प्रयत्न किया है। छायावाद की पृष्ठभूमि, प्रमुख प्रवृत्तियों और कला-सौष्ठव के परीक्षण में मैंने भारतीय साहित्यशास्त्र और इतिहास तथा पाश्चात्य मनोविज्ञान और समाजशास्त्र से भरपूर सहायता ली है। मैं यह दावा नहीं करता कि इस प्रबन्ध में मेरी विचार-सरणी और मेरे निष्कर्ष, सब सही हैं और पूर्ण हैं। पर मेरा यह विश्वास दृढ़ है कि साहित्य की सही परीक्षा इतिहास के आलोक में ही हो सकती है। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के बिना भी वह अधूरा ही रहेगा। यदि उनके उपयोग में असावधानी या गलती से मेरे निष्कर्ष कहीं गलत हो गये हों तो वह मेरा दोष होगा, उक्त समीक्षा-पद्धति या मानदण्ड का नहीं।

अन्त में मैं इतना निवेदन कर देना चाहता हूँ कि इस प्रबन्ध में छायावाद-

युग के बारे में जो कुछ लिखा गया है वह सम्पूर्ण या अन्तिम नहीं है। अभी बहुत सी बातें स्थानाभाव और समयाभाव के कारण लिखने को रह गयी हैं जैसे छायावाद-युग की प्रमुख काव्य-धाराओं—रहस्यवाद, प्रगतिवाद, स्वच्छन्दतावादी यथार्थवाद, अहंवाद, निराशावाद आदि की सैद्धान्तिक विवेचना या छायावाद-युग के प्रमुख कवियों की अलग-अलग आलोचना। किंतु एक ही ग्रन्थ में यह सब कुछ सम्भव नहीं था। फिर भी वैज्ञानिक समाजशास्त्रीय और शास्त्रीय आलोचना-पद्धति की सीमा में जितना भी आ सकता था, सबको समेट लेने का प्रयत्न किया गया है। शास्त्रीय पद्धति में रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, अलंकार, गुण-रीति, शब्दशक्ति आदि का स्वरूप-निरूपण जानबूझ कर किया गया है। कारण यह है कि आज की साहित्य-समालोचना में उनका उपयोग इतना कम हो रहा है कि साहित्य के विद्यार्थी या पाठक उन्हें भूलते जा रहे हैं। अतः छायावादी काव्य पर उन्हें लागू करने के पूर्व उनका स्वरूप-निरूपण करना भी आवश्यक प्रतीत हुआ। भारतीय साहित्यशास्त्र का इतना अधिक समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक महत्व है तथा आधुनिक साहित्य, विशेष कर छायावाद पर उसका इतना अधिक प्रभाव है कि उसे छोड़ देना किसी भी तरह उचित नहीं था। उसी तरह प्रारम्भ के दो-तीन अध्यायों में बीसवीं सदी के भारतवर्ष के आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास की व्याख्या इसीलिए करनी पड़ी है कि तत्कालीन काव्य को उसके मेल में रख कर देखा जा सके। सांस्कृतिक और दार्शनिक स्रोतों की खोज और उनकी विस्तृत विवेचना भी इसीलिए की गयी है कि एक तो उनका समाजशास्त्रीय मूल्य है दूसरे छायावाद का उन स्रोतों से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। राष्ट्रीय पूँजीवाद, राष्ट्रीय स्वातंत्र्य-चेतना और राष्ट्रीय सांस्कृतिक परम्परा, इन्हीं तीनों ने छायावाद की रूप-रेखा निर्मित की है और उसमें रंग भरा है, अतः उनकी विस्तृत विवेचना छायावाद के मूल स्रोतों और कारणों का पता लगाने की दृष्टि से की गयी है। अब इस प्रबन्ध की उपयोगिता क्या है, यह विज्ञ पाठक या समीक्षक ही बता सकेंगे।

काशी-विद्यापीठ,
सौर–१२, मार्गशीर्ष, २००९
[२८–११–५२]

शम्भूनाथ सिंह

विषय-सूची

[प्रथम खण्ड]

[द्वितीय खण्ड]

[तृतीय खण्ड]

छायावाद-युग

प्रथम खण्ड

पृष्ठभूमि और परिचय

पुनरुत्थान-युग

(द्विवेदी-युग)

बीसवीं शताब्दी के शुरू के पन्द्रह वर्षों में भारत की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ उन्नसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों की परिस्थितियों के विकसित और परिवर्द्धित रूप में ही दिखलाई पड़ती हैं। इसलिए इस काल के काव्य की धारा भी संक्रान्तियुगीन (भारतेन्दु-युगीन) काव्यधारा से बहुत भिन्न नहीं है। अन्तर इतना ही है कि इस युग में पिछले युग की अपेक्षा पुनरुत्थान की प्रवृत्ति और भी अधिक बढ़ गयी। काव्य की भाषा खड़ीबोली हुई, उसका परिष्कार हुआ। नैतिक दृष्टि अधिक बौद्धिक और शुद्धिवादी (Puritan) हो गयी। राष्ट्रीयता की जगह सामाजिक चेतना अधिक जागरूक दिखाई पड़ी। पूर्ववर्ती कविता में जो मस्ती का आवेश और आवेग था, वह इस युग की कविता में बहुत कम हो गया। नीरसता, उपदेशात्मकता तथा बौद्धिक सहानुभूति अधिक दिखाई पड़ने लगी। इस प्रकार संक्रांति-युग और पुनरुत्थान-युग की कविता में कोई मौलिक अंतर नहीं दिखाई पड़ता, यद्यपि पुनरुत्थान युग की कविता के स्वरूप में अवश्य कुछ परिवर्तन हुआ और काव्यविषयों का भी पर्याप्त विस्तार हुआ। इस समानता और भिन्नता का कारण तत्कालीन परिस्थितियाँ है। अतः पहले उन्हीं का विश्लेषण करना उचित होगा।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक देश के उद्योग-धन्धों का विकास अंगरेजों की अनिच्छा के बावजूद कुछ न कुछ हो गया था, क्योंकि हजारों मील लम्बी रेल लाइनों के बन जाने के बाद उद्योग-धन्धों के विकास को रोकना असम्भव था। १८९६ ई० में स्वेज नहर का रास्ता खुल जाने से भारतीय माल का निर्यात पश्चिम में बहुत होने लगा। इसी समय बंगाल में कोयले की खानें खोदने का काम शुरू हुआ। सूती और जूट की मिलों की संख्या बढ़ी और रानीगंज के लोहे के कारखाने का विकास हुआ। अतः १९०० ई० तक देश के उत्पादन और व्यापार के क्षेत्र में एक तरह की क्रांति हुई। रेलों के कारण

तैयार माल के वितरण में बहुत सुविधा हो गयी। औद्योगिक विकास के कारण श्रम-विभाजन और उद्योगों का केन्द्रीकरण होने लगा। इन सभी कामों में विदेशी पूँजी तो बहुत लगी पर साथ ही देशी व्यापारी भी अपनी पूँजी लगाने लगे। १८७० के बाद भारत का निर्यात आयात से अधिक होने लगा। हिन्दुस्तानी लोग भी यूरोपियन कम्पनियों के हिस्से खरीदने लगे। सूती तथा लोहे और जूट के कारखाने अधिकतर हिन्दुस्तानियों द्वारा खोले गये। यह बात अवश्य थी कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक विकास की गति बहुत धीमी थी। अकालों और महामारी ने विकास में और भी बाधा उत्पन्न की। १८८२ से १८९४ के बीच ग्लैडस्टन की स्वतंत्र बाजार की नीति के फलस्वरूप भारत में आने वाले माल पर चुंगी बंद कर दी गयी, जब कि भारतीयों की मांग यह थी कि आयात पर चुँगी लगा कर भारतीय उद्योगों की रक्षा की जाय। अंगरेजों ने स्वतंत्र बाजार (Laissez Faire) की दुहाई देकर और ब्रिटिश उद्योग पतियों के लाभ की दृष्टि से उनकी माँगें ठुकरा दीं।

किन्तु १९०० ई० के बाद स्थिति कुछ बदली। १९१४ तक भारत के व्यापार, उद्योग-धन्धों, खानों और कृषि में आशा से अधिक विकास और सुधार हुआ, यद्यपि वह अंगरेजों की इच्छा के विरुद्ध और अन्य देशों के इतने ही समय में होने वाले विकास के मुकाबले में बहुत कम था। अकाल और महामारी का प्रकोप कम हो जाने से इस विकास की गति को सहायता मिली। रेलों का और भी विस्तार हुआ। बहुत से खनिज-पदार्थों का उत्पादन होने लगा और अबरख भारतीय निर्यात की एक प्रधान वस्तु हो गया। १९०७ में जमशेदपुर में टाटा-कम्पनी की स्थापना हुई। इसी समय कागज, साबुन, सीमेन्ट, चावल, आटा, चीनी, दियासलाई आदि की मिलें हिन्दुस्तानियों द्वारा खोली गईं। पानी से बिजली बनाने के कारखाने भी अनेक स्थानों पर खुले। ऊपर कहा जा चुका है कि १८९४ तक अंगरेजों ने भारत में 'स्वतंत्र बाजार' की नीति बरती। धन की आवश्यकता के कारण सरकार ने १८९४ में फिर आयात कर लगाया और साथ ही हिन्दुस्तानी मिलों के कपड़ों पर भी टैक्स लगा दिया जो १९१७ तक जारी रहा। इस प्रकार भारत में उस गति से औद्योगिक विकास नहीं हो सका जिस गति से अन्य औद्योगिक देशों में हो रहा था। जो कुछ विकास हुआ, वह भी सूती कपड़े और जूट के उद्योग-धंधों में ही हुआ। सूती कपड़े के उद्योग में हिन्दुस्तानी पूँजी आगे बढ़ने का प्रयत्न कर रही थी। विलायत में जूट के धन्धों के मजदूर ज्यादा पैसा माँगते थे, इसलिये ब्रिटिश पूँजी हिन्दुस्तान के जूट

उद्योग में लगाई गई और सस्ती मजदूरी का लाभ उठाया गया। देश मुख्यतया कृषि-प्रधान ही रहा और आबादी का ९।१० भाग अब भी गाँवों में रह कर कृषि पर ही जीवन-निर्वाह करता रहा। गृह-उद्योग-धंधों का और भी तेजी से नाश हो रहा था। सारी आबादी को कृषि पर ही निर्भर रहना पड़ा, इसलिये खेतिहर मजदूरों की संख्या भी बहुत तेजी से बढ़ती गई। फलस्वरूप किसानों की दरिद्रता बढ़ती गई। इस बीच सरकारी मालगुजारी और लगान में भी बहुत वृद्धि हो गई थी। इसका परिणाम यह हुआ कि किसान कर्जदार होते गये और जमीन उनके हाथ से निकल कर महाजनों के हाथ में जाने लगी।

देश की इस आर्थिक स्थिति का प्रभाव तत्कालीन राजनीति पर भी पड़ा। मध्यवर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था कांग्रेस पर उदारपंथी विचारवालों का प्रभुत्व था जिसके नेता फीरोजशाह मेहता और गोपाल कृष्ण गोखले थे। किन्तु साथ ही उसमें उग्रविचार वालों का भी प्रवेश हो गया था, जो देश की औद्योगिक और सांस्कृतिक उन्नति के लिये अँगरेजों को बलपूर्वक देश से निकाल देने के पक्षपाती थे। उदारपंथी लोग यद्यपि अँग्रेजों की शोषण-नीति को अच्छी तरह समझने लगे थे, फिर भी ब्रिटिश साम्राज्य में उनकी आस्था बनी रही। इसीलिये वे अब भी वैधानिक और आवेदन वाली नीति अपनाकर ही चलते रहे। १९०० ई० तक यह स्पष्ट हो गया कि अंग्रेज भारत का औद्योगिक विकास करना नहीं चाहते। अतः पूँजीपति-वर्ग ने कॉंग्रेस का साथ देना शुरू किया। इधर लार्ड कर्जन के वाइसराय हो जाने के बाद अंग्रेजों की नीति बहुत ही कठोर हो गई जिसके फलस्वरूप देश में राजनीतिक चेतना और भी बढ़ गई। भारतीयों ने विश्व की राजनीतिक परिस्थिति के बीच भारत को रखकर देखना शुरू किया। इस समय संसार में कुछ ऐसी घटनायें हुई जिनके कारण भारतीय राष्ट्रीयता को बहुत बल मिला। जापान की उन्नति देखकर भारतीयों को अपनी हीन आर्थिक अवस्था का ध्यान आया। इसी समय जापान ने रूस जैसे शक्तिशाली यूरोपीय देश को पराजित किया। इस घटना का प्रभाव सारे देश पर पड़ा और भारतीयों में यह आत्मविश्वास जाग्रत हुआ कि अंग्रेज हिन्दुस्तान से हटाये जा सकते हैं। अफ्रीका का बोअर (Boer war) युद्ध बहुत दिनों तक चलता रहा। तुर्कों ने यूनानियों को पराजित किया और निकट पूर्व के देशों में ईसाइयों की हत्या की गई। इन बातों से भारतीयों के मन में यह भावना जाग्रत हुई कि यूरोप की शक्ति अब क्षीण हो रही है। इसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीयता की भावना सारे देश में फैल गई और सांस्कृतिक तथा सामाजिक कार्यों का आवरण छोड़ कर लोग सीधे-साधे राजनीति में भाग लेने लगे। पढ़े-लिखे

हिन्दुस्तानी संसार के अन्य देशों में होने वाले स्वतंत्रता के युद्ध का अध्ययन कर रहे थे। इटली के स्वतंत्रता युद्ध, आयरलैण्ड के होमरूल आन्दोलन तथा फ्रांस की राज्यक्रांति के इतिहास का उनके ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा। इन देशों में स्वतंत्रता के लिये हिंसात्मक कार्रवाइयाँ हुई थीं। इसका प्रभाव भी मध्यवर्ग पर पड़ा और उग्रदल से प्रभावित लोगों में ऐसे बहुत से युवक निकल आये जिनका ध्येय हिंसात्मक तरीकों से अंग्रेजी शासन को हटाना था। उग्रपंथियों ने स्वदेशी आन्दोलन के समय विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का अस्त्र अपनाया। इस बहिष्कार-आन्दोलन की भारतीय पूँजीपतियों ने पर्याप्त सहायता की।

इस प्रकार १९०० से १९१२ के बीच राजनीतिक क्रियाशीलता बहुत अधिक बढ़ गयी। लार्ड कर्जन की भारत विरोधी नीति ने इस क्रियाशीलता को बढ़ाने में बहुत सहायता की। १९०० ई० में शिमला में सरकार ने एक शिक्षा सम्मेलन किया जिसमें भाग लेनेवाले सभी व्यक्ति सरकारी अधिकारी थे और उसमें एक भी भारतीय नहीं बुलाया गया था। उसके बाद ही यूनिवर्सिटी कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिसमें उच्च शिक्षा को बहुत खर्चीली बनाने की राय दी गयी थी। इसका स्पष्ट उद्देश्य यह था कि उच्चशिक्षा का प्रचार रोका जाय, क्योंकि उससे राजनीतिक चेतना उत्पन्न होती थी। १९०४ में यूनिवर्सिटी ऐक्ट बना जिसमें उक्त कमीशन की बहुत सी शिफारिसें मान ली गयी थीं। १९०२ में लार्ड कर्जन ने दिल्ली में एडवर्ड द्वितीय की राजगद्दी के उपलक्ष्य में एक शाही दरबार किया जिसमें लाखों रुपये खर्च हुए। एक ओर महामारी और अकाल का ताण्डव और दूसरी ओर शाही दरबार का तमाशा! यह बात भारतीयों को बहुत खली। १९०३ में मद्रास कांग्रेस के अध्यक्ष लाल मोहन घोष ने अपने भाषण में शाही दरबार और उसमें होनेवाली फिजूलखर्ची और उसमें मध्यवर्गीय लोगों के अपमान की कड़े शब्दों में निन्दा की। इसी समय चीन और बोअर युद्ध में अंग्रेजों की ओर से लड़ने के लिए भारतीय सेना भेजी गयी और भारत सरकार ने धन से भी ब्रिटिश सरकार की सहायता की। इन बातों से और भी स्पष्ट होता गया कि अंग्रेज एशिया और अफ्रीका में अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिए भारत का शोषण कर रहे हैं, भारतीयों की इच्छा-अनिच्छा, सुख-दुःख की उन्हें कुछ भी परवाह नहीं। कर्जन ने इसी बीच १९०४ में बंगाल को दो हिस्सों में बाँटने की घोषणा की। भारतीयों की बढ़ती हुई राष्ट्रीय चेतना को देखकर अंग्रेजों ने यह नयी चाल सोची। उन्होंने हिन्दू-मुसलमानों के बीच फूट डालने और बंगाली संस्कृति और बंगाली राष्ट्रीय एकता को छिन्न-भिन्न करने के लिए पूर्वी बंगाल और पश्चिमी बंगाल को अलग

करने का निश्चय किया। पूर्वी बंगाल में मुसलमानों की संख्या अधिक थी, अतः उन्हें खुश करके हिन्दू-विरोधी बनाने के लिए यह चाल चली गयी। किन्तु बंगाल ही नहीं, सारे देश में इसका घोर विरोध किया गया। बंगाल में इसके विरोध में ५०० सभायें हुईं और भारतमन्त्री तथा वाइसराय के पास विरोध-पत्र भेजे गये। परन्तु इसका कोई फल नहीं निकला और १९०५ में बंगभंग की घोषणा सरकारी गजट में कर दी गयी। कांग्रेस ने भी इसका घोर विरोध किया। १९०५ में बनारस कांग्रेस के सभापति गोखले ने अपने भाषण में सरकार की प्रजा-विरोधी नीति की कटु आलोचना की और कहा कि भारतीयों का इससे अधिक अपमान अंग्रेजी राज्य में कभी नहीं हुआ था। इस कांग्रेस में पंडित मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय ने बंगभंग के विरोध में विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का प्रस्ताव पेश किया। गोखले ने भी इसका समर्थन करते हुए कहा कि अब निवेदन और आलोचना से काम नहीं चलेगा। बहिष्कार ही अब हमारा अंतिम वैधानिक अस्त्र है जिससे हम अंग्रेजों का ध्यान अपनी ओर खींच सकते हैं। बनारस-कांग्रेस के पहले ही कलकत्ते में बहुत बड़ी सभा और प्रदर्शन हुआ था जिसमें ब्रिटिश माल के बहिष्कार का आन्दोलन शुरू कर दिया गया था। बंगाल में इस राजनीतिक आन्दोलन को धार्मिक रूप दे दिया गया। मंदिरों में लोगों ने स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार करने की शपथ ली। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी इस आन्दोलन के नेता थे।

इस प्रकार १९०५ से भारतीय राजनीति की दिशा ही बदल गयी। कांग्रेस आवेदन और प्रार्थना की नरम नीति को छोड़ने लगी। उसका उद्देश्य भी अब नौकरियों में समानता दिलवाना नहीं रह गया। १९०५ में कर्जन इस्तीफा देकर चले गये। उनकी जगह लार्ड मिंटो वाइसराय होकर आये और मार्ले नये भारत मंत्री हुए। गोखले ने इंग्लैण्ड जाकर उनसे सब बातें बताईं, पर उन्हें बंगभंग रोकने में सफलता नहीं मिली। १९०६ में कलकत्ते में जो कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, उसके सभापति भारतीय राजनीति के भीष्मपितामह दादाभाई नौरोजी थे जिन्होंने 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' का महामंत्र सिखलाया था। इसी अधिवेशन में विपिनचन्द्र पाल और बाल गंगाधर तिलक ने यह माँग की कि कांग्रेस केवल ब्रिटिश माल ही नहीं, ब्रिटिश सरकार का भी बहिष्कार करने और स्वदेशी सरकार स्थापित करने का प्रस्ताव पास करे। इस बात को लेकर गरमदल और नरमदल का मतभेद बहुत बढ़ गया। फिर भी दादाभाई नौरोजी के प्रभाव से कांग्रेस ने यह प्रस्ताव पास किया कि अब से कांग्रेस का लक्ष्य स्वराज्य है, शासन-सुधार नहीं। उसी समय से 'स्वदेशी' और 'स्वराज्य' ये दो शब्द

भारतीय राष्ट्रीयता के प्रतीक बन गये। अरविंद घोष भी कलकत्ता कांग्रेस में एक नई शक्ति के रूप में शामिल हुए। उन्होंने "वन्दे मातरम्" पत्र निकाला जिसके द्वारा बंगाल के एक कोने से दूसरे कोने तक स्वदेशी आंदोलन की लहर फैला दी। जिस तरह महाराष्ट्र में तिलक के प्रभाव से राजनीति में धार्मिक जोश को स्थान मिला था, उसी तरह बंगाल में भी विपिनचन्द्र पाल और अरविंद घोष ने धार्मिक बातों के माध्यम से राजनीतिक चेतना उत्पन्न की। इस समय के हिंसात्मक विरोध प्रकट करनेवाले क्रान्तिकारियों में भी यही धार्मिक चेतना और जोश काम कर रहा था। तिलक ने हिंसा का विरोध किया और कानून तोड़कर, जेल जाकर तथा हर प्रकार सरकार से असहयोग करके अहिंसात्मक क्रान्ति करने का उपदेश दिया।

इस प्रकार बंगाल के धार्मिक आवेश, भावुकता और दार्शनिक दृष्टिकोण और महाराष्ट्र की व्यावहारिक बुद्धि के मेल से गरमदलीय राजनीति का बल बढ़ा जिसका परिणाम १९०७ के सूरत-कांग्रेस में दिखलाई पड़ा। दोनों दलों के बीच की खाई इतनी बढ़ गयी थी कि सूरत-कांग्रेस में मारपीट हो गयी और कांग्रेस दो टुकड़ों में बँट गयी। कांग्रेस पर उदारपंथियों का अधिकार हो गया और उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत औपनिवेशिक स्वराज्य को ही अपना लक्ष्य और वैधानिक कार्यों को अपना साधन स्वीकार किया। 'स्वराज्य' और 'स्वदेशी' की यह उदारपंथी व्याख्या थी। लाला लाजपतराय, मोतीलाल नेहरू, मालवीयजी, फीरोजशाह मेहता, दीनशा वाचा, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि नेता गोखले के नेतृत्व में इसी नीति को अपनाकर काम करते रहे। ये लोग ब्रिटेन से सम्बन्ध बनाये रखना आवश्यक समझते थे। इसका कारण यह था कि ये लोग स्वयं उच्च मध्यवर्ग के थे जो ब्रिटिश शासन, शिक्षा और संस्कृति की देन था।

कांग्रेस की इस फूट से अंग्रेजों ने लाभ उठाया। उन्होंने एक ओर तो मार्ले-मिण्टो सुधार कानून के द्वारा उदारपंथियों को प्रसन्न करने की नीति अपनाई और दूसरी ओर उग्र विचार वालों और क्रान्तिकारियों का दमन प्रारम्भ कर दिया। सूरत-कांग्रेस के बाद ही मुजफ्फरपुर में बम द्वारा दो अंग्रेज औरतों की हत्या कर दी गयी। सरकार को दमन के लिए बहाना मिल गया। तिलक को छः वर्ष के लिए देश के बाहर निकाल दिया गया और वे मांडले जेल में रखे गये। विपिनचन्द्र पाल को छः महीने की सजा हुई और अरविंद घोष पर साल भर तक मुकदमा चलता रहा। उसी तरह चिदाम्बरन् पिल्लई को छः वर्ष और हसरत मोहानी को एक वर्ष कैद की सजा मिली। इन घटनाओं से देश का

वातावरण बहुत क्षुब्ध हो गया। तिलक की गिरफ्तारी पर तो महाराष्ट्र में कई जगह दंगे भी हो गये जो बुरी तरह दबा दिये गये। १९०९ में लन्दन में भी एक भारतीय विद्यार्थी ने इण्डिया आफिस के कर्जन विली और डा० लालकाका की हत्या कर दी। भारत-सरकार इन घटनाओं से बहुत घबड़ाई। अतः १९०९ में मार्ले-मिण्टो सुधार कानून पास किया गया जिसमें कौन्सिल से लेकर जिला बोर्डों तक में चुनाव द्वारा प्रतिनिधि चुनने की बात कही गई थी। इस कानून द्वारा मुसलमानों को भी पृथक् निर्वाचन का अधिकार देकर प्रसन्न करने का प्रयत्न किया गया। इसके पहले ही अंगरेजों के इशारे पर सर सैयद अहमद खाँ के अनुयायियों ने मुसलिमलीग की स्थापना की थी जो कांग्रेस के समानांतर सिर्फ मुसलमानों की माँगे रख रही थी। इस प्रकार अंग्रेजों ने १६०० से १९१० के बीच हिन्दू-मुसलिम साम्प्रदायिकता का बीजारोपण कर दिया ताकि उनकी साम्राज्यवादी लूट बराबर चलती रहे। कांग्रेस ने १९०८ के मद्रास-अधिवेशन में इस कानून के मसौदे पर अपना असंतोष प्रकट किया और १९०९ के लाहौर अधिवेशन में मुसलमानों को अलग प्रतिनिधित्व देने की नीति का कड़ा विरोध किया। परन्तु सरकार ने एक नई चाल द्वारा नरमदल वालों को खुश करने का प्रयत्न किया। मिण्टो की जगह १९१० में हार्डिंज वाइसराय होकर आये। उसी साल द्वितीय एडवर्ड के मरजाने पर पंचम जार्ज गद्दी पर बैठे और उन्हीं के द्वारा यह घोषणा कराई गयी कि पूर्वी और पश्चिमी बंगाल फिर मिला दिये जायंगे और दिल्ली हिन्दुस्तान की राजधानी होगी।

लार्ड हार्डिञ्ज अंग्रेजों की इस समझौतावादी नीति के दूत बनकर आये थे। कांग्रेस ने १९१० के अपने प्रयाग-अधिवेशन में उनके आगमन पर प्रसन्नता प्रकट की। हार्डिञ्ज की नीति सबको प्रसन्न करने की थी, क्योंकि कर्जन की नौकरशाही नीति और अधिनायकवादी प्रवृत्ति से भारत में अंग्रेजीराज बहुत दिनों तक नहीं चल सकता था। इसीलिए बंगाल फिर एक कर दिया गया और मुसलमानों को भी अलग मताधिकार देकर प्रसन्न किया गया। साथ ही पूँजीपतियों को भी प्रसन्न करने की कोशिश की गयी। यद्यपि १९१२ में दिल्ली में लार्ड हार्डिञ्ज पर बम फेंका गया फिर भी उन्होंने दमन-नीति नहीं अपनाई और १९१३ में अफ्रिका के भारतीयों की माँगों का समर्थन किया। इस बीच १९११ में हिन्दू-मुसलमानों के बीच भी समझौते का प्रयत्न हुआ क्योंकि स्वराज्य के लिए यह एकता आवश्यक थी। अंग्रेज नहीं चाहते थे कि दोनों में एकता हो। कांग्रेस के सभापति भी एक उदारवादी अंग्रेज सर विलियम बेडरबर्न थे जिन्होंने नरमदल और गरमदल, हिन्दू-मुसलमान, भारत और ब्रिटेन, इन

परस्पर विरोधी तत्वों को मिलाने की कोशिश की। उसी प्रयत्न के फलस्वरूप १९१६ में लखनऊ कांग्रेस के समय हिन्दू-मुसलिम समझौता हो सका। इसका कारण यह था कि मुसलिम लीग में भी उग्रवादिता बढ़ गयी थी। मुहम्मद अली इस दल के नेता थे और आगा खाँ लीग से अलग हो गये थे। इधर कांग्रेस में १९१३ में श्रीमती एनीबेसेन्ट भी शामिल हो गयीं और तिलक छः वर्ष की सजा भुगत कर वापस आ गये। १९१४ में गोखले और फीरोजशाह मेहता दोनों का स्वर्गवास हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस में फिर उग्रपंथियों का जोर हो गया। एनीबेसेन्ट ने १९१४ में होमरूल लीग की स्थापना की और इसके लिए देशव्यापी आन्दोलन किया। उन्होंने कांग्रेस के दोनों दलों को मिलाने की कोशिश की और १९१६ में लखनऊ अधिवेशन में कांग्रेस के सभी दल मिलकर एक हो गये। इस प्रकार लखनऊ में हिन्दू-मुसलिम एकता हुई और कांग्रेस की फूट भी दूर हुई।

किन्तु इसी बीच यूरोप में दूसरा महायुद्ध शुरू हो गया। युद्ध के दौरान में अंग्रेजों ने जो वादे किये और युद्ध-समाप्ति पर जो कुछ भारत को मिला उसकी चर्चा अगले अध्याय में की जायगी। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि लार्ड हार्डिंज की नीति अकारण ही नरम नहीं थी। यूरोप में साम्राज्यवादी देशों की व्यापारिक होड़ और शक्ति-संतुलन को बनाये रखने की नीति के कारण युद्ध के लक्षण पहले ही से मालूम पड़ने लगे थे। यदि यह युद्ध कहीं पाँच वर्ष पूर्व छिड़ गया होता तो फिर भारत में ऐसा विद्रोह होता जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। किन्तु अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से विवश हो कर अंग्रेजों को भारतीय जनता को प्रसन्न करने के लिये नरम नीति बरतनी पड़ी ताकि विद्रोह न होने पावे। भारत ही ब्रिटिश साम्राज्य का आधार-स्तम्भ था और उसको हाथ में रखने के लिए अंगरेज परिस्थिति के अनुसार शुरू से ही कभी कठोर और कभी बड़े ही उदार रूप में दिखलाई पड़ते रहे। लार्ड हार्डिञ्ज की नरम नीति के कारण भारतीयों की विरोधी भावनायें कुछ शांत हुई। उदारपंथी कांग्रेसियों को पूरा विश्वास हो गया कि अंगरेजों की नीति बदल रही है। उद्योग-पतियों की भी बहुत सी शिकायतें दूर हुईं जिससे अंग्रेजों और उद्योगपतियों के बीच एक तरह का सौहार्द्र पैदा हुआ। अपने स्वार्थ के कारण युद्ध-काल में अंग्रेजों को भारतीय उद्योग-धंधों की सहायता करनी पड़ी जिसके परिणाम-स्वरूप पूँजीवाद और अंगरेजी राज के ऊपर आश्रित सामंतवाद में समझौता हुआ। इसका प्रभाव तत्कालीन साहित्य में मर्यादावाद और पुनरुत्थानवाद के रूप में दिखलाई पड़ता है।

पुनरुत्थान की भावना के प्रसार का एक प्रमुख कारण यह भी था कि उच्चमध्यवर्गीय उदारपंथियों की नीति से निम्नमध्यमवर्ग और सामान्य जनता का असंतोष बढ़ता जा रहा था। उच्चमध्यवर्ग का नैतिक पतन इतना अधिक हो गया था कि बार-बार जातीय अपमान होने पर भी वह अंगरेजों के प्रति अपना विश्वास नहीं छोड़ पाता था। उसमें आत्म-शक्ति और आत्मगौरव की भावना का अभाव था जिससे वह अंगरेजों की संस्कृति और शक्ति का भरोसा करता था। इसकी प्रतिक्रिया के रूप में ही १९ वीं शताब्दी में मध्यवर्गीय सांस्कृतिक आंदोलन शुरू हुए थे और बीसवीं शताब्दी में उनका निम्न मध्यमवर्ग में खूब प्रचार हुआ। आर्यसमाज और रामकृष्ण मिशन ने भारतीयों में आत्म-सम्मान की जो चेतना जाग्रत की वह राजनीतिक क्षेत्र में उग्रवादी विचार-धारा के रूप में प्रकट हुई। बीसवीं सदी के प्रारम्भिक दस वर्षों में उच्चमध्यवर्ग के भी संतोष और धैर्य का बाँध टूटने लगा था, फिर भी उसकी ब्रिटिश साम्राज्य से अलग होने की हिम्मत नहीं हो रही थी। अंत में १९१४ में कांग्रेस पर गरमदल का प्रभुत्व हो जाने पर उदारपंथी विचारधारा प्रायः समाप्त हो गयी। १९१८ के बाद कांग्रेस में गांधी जी के आ जाने और निम्नमध्यवर्ग का पूर्ण प्रभाव स्थापित हो जाने पर उदारपंथी लोगों ने कांग्रेस से अलग होकर 'लिबरल फेडरेशन' के नाम से अपनी अलग संस्था बना ली।

उग्रपंथियों में दो तरह के लोग थे, हिंसावादी क्रांतिकारी और अहिंसात्मक क्रान्ति के विश्वासी। हिंसात्मक तरीकों को अपनाने वाले अधिकतर बंगाली थे जिन पर विपिनचन्द्र पाल, रासबिहारी घोस और अरविंद घोष का अधिक प्रभाव था। बंगाल में काली शक्ति का प्रतीक मानी जाती है। रामकृष्ण परमहंस ने भी काली की उपासना के माध्यम से ही सर्वधर्म-समन्वय और सांस्कृतिक पुनरुत्थान का उपदेश दिया था। उपर्युक्त नेताओं ने भारतमाता को काली के रूप में देखा और यह भावना जाग्रत की कि सर्वशक्तिमती माता आज विदेशियों के बन्धन में है। उसे हिंसात्मक तरीके से मुक्त करना चाहिए क्योंकि काली रक्त की प्यासी है।* अहिंसात्मक क्रांति में विश्वास करने वाले बंगाली भी धार्मिक आवेश को छोड़

---

* Durga is for. us not a mythological figure, but a representation of the Eternal spirit of the Indian Race; the symbol of Omnipotence in it's dual aspect of Eternal love and Inevitable Retribution, through which this very love has to fulfil and realize itself in this world." *Bipinchandra pal*

नहीं सके। 'वंदेमातरम्' उनका मंत्र बन गया। अरविन्द घोष ने राष्ट्रीयता को आध्यात्मिक रूप दिया और कहा कि हमारे जीवन का उद्देश्य ही प्रत्येक क्षेत्र में स्वतंत्रता की प्राप्ति है और हिन्दू धर्म द्वारा ही इस स्वतंत्रता की प्राप्ति हो सकती है। उन्होंने यह भी कहा कि राष्ट्रीयता ईश्वरीय वस्तु है, वह स्वयं ईश्वर है।* इनके विचारों पर वेदांत तथा गीता का बहुत अधिक प्रभाव था और वे देश की उन्नति के लिए राजनीतिक सन्यास-मार्ग को स्वीकार करना आवश्यक मानते थे।

यही धार्मिक और आध्यात्मिक भावना किसी न किसी रूप में पंजाब और महाराष्ट्र में भी काम कर रही थी। तिलक चितपावन ब्राह्मण थे। महाराष्ट्र की यह जाति प्राचीनकाल से ही अपनी बुद्धिमत्ता के लिए प्रसिद्ध रही है। अतः तिलक ने वंश-परम्परा और जाति का आश्रय लेकर राष्ट्रीयता की भावना पल्लवित की। गणपति-उत्सव, शिवाजी की जयन्ती, गोरक्षिणी सभा आदि का प्रचार करके तिलक महाराज हिन्दूधर्म के महान उन्नायकों में माने जाने लगे। गीता-रहस्य में गीता की व्याख्या उन्होंने नये तरीके से की और निष्काम कर्ममार्ग का अवलम्बन करने के लिए जनता को प्रेरणा दी। आर्यों के प्राचीन निवासस्थान के सम्बन्ध में भी महत्वपूर्ण ग्रंथ लिख कर उन्होंने अपने ज्योतिष-ज्ञान और पाण्डित्य का परिचय दिया। उनके इन कार्यों का प्रभाव निम्न मध्यवर्गीय जनता पर बहुत अधिक पड़ा। आर्यसमाज के प्रभाव में सबसे अधिक पंजाब प्रांत था। लाला लाजपत राय, मुंशीराम (श्रद्धानंद) आदि आर्यसमाज से ही कांग्रेस में आये थे। इन लोगों ने भी राष्ट्रीयता के साथ साथ हिन्दू-पुनरुत्थान का कार्य करना कभी नहीं छोड़ा। लाहौर का डी० ए० वी० कालेज और गुरुकुल कांगड़ी उनकी कीर्ति-स्तम्भ के रूप में हैं। पंजाब के स्वामी रामतीर्थ ने वेदान्त का झण्डा अमेरिका में जाकर ऊँचा किया। वे अपनी रहस्यात्मकता और भक्ति के कारण सारे देश में विख्यात हो गये। उनके कारण भी वेदांत और भारतीय अध्यात्मवाद का बड़ा प्रचार हुआ। मद्रास और उत्तर भारत में थियोसोफिकल सोसाइटी ने हिन्दू पुनरुत्थान के लिए बहुत कुछ किया। श्रीमती एनी

---

*"Nationalism is a religion that comes from God. Notionalism cannot die because it is God who is working in Bengal. God cannot be killed. God cannot be sent to gaol."

Aravind Ghose–Quoted from the life of Aravind Ghose by Ramchand Patel.

बेसेंट ने सारे संसार में हिन्दूधर्म के महत्व का प्रचार किया। जब वे राजनीति में आयीं तो उग्रवादी विचारधारा को और भी शक्ति प्राप्त हुई। उनके कारण मद्रास और उत्तर भारत में राष्ट्रीयता और हिन्दू-उत्थान की भावना का बहुत विकास हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजनीति में उग्र विचारधारा को अपना कर चलनेवाले लोग अधिकतर हिन्दू-पुनरुत्थान में विश्वास करनेवाले, और अध्यात्मवादी थे। वे निम्नमध्यमवर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे, सुविधा-प्राप्त और अंगरेजी सभ्यता के रंग में रंगे उच्चमध्यवर्ग का नहीं। राजनीति की तरह साहित्य में भी आध्यात्मिकता और पुनरुत्थान की यह प्रवृत्ति राष्ट्रीयता के साथ मिली-जुली दिखाई पड़ती है।

इस युग में अंगरेजों ने कुछ ऐसे अच्छे और बुरे कार्य किये जिससे इस प्रवृत्ति को बहुत बल मिला। अंगरेजों ने कांग्रेस की बढ़ती हुई शक्ति को छिन्न-भिन्न करने के लिए मुसलमानों में धार्मिक अलगाव की भावना भरनी शुरू की। मुसलिमलीग की स्थापना और बंगाल के विभाजन का उद्देश्य मुसलमानों की अलगाव की भावना को जाग्रत करना और राष्ट्रीय एकता को तोड़ना ही था। मार्ले-मिण्टो-सुधार में भी मुसलमानों को पृथक् मताधिकार की सुविधा इसीलिए दी गयी थी। सर सैयद अहमदखाँ ने, जो अंगरेजों के हाथ की कठपुतली थे, मुसलमानों के लिए अलग शिक्षा देने का प्रचार किया और अलीगढ़ में मुसलमानों के लिए एक कालेज की स्थापना की। उन्होंने मौलाना हाली से उर्दू में एक काव्य-ग्रन्थ (मुसद्दस) लिखवाया जिसमें मुसलिम संस्कृति के उत्थान-काल के गौरव का चित्रण था। पढ़े-लिखे मुसलमानों पर इस काव्य का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा और उनमें अपने को मुसलमान पहले और भारतीय बाद में समझने की प्रवृत्ति बढ़ी। संक्रान्ति-युग में हिन्दुओं के जो सांस्कृतिक आन्दोलन शुरू हुए थे उनमें भी हिंदू संस्कृति के पुनरुत्थान के रूप में ही राष्ट्रीयता की भावना अभिव्यक्त हुई थी। अतः उसकी प्रतिक्रिया के रूप में और अंगरेजों के इशारे से मुसलमानों में भी मुसलिम संस्कृति को भारतीय संस्कृति से अलग समझने की प्रवृत्ति बढ़ चली। वस्तुतः हिन्दू-मुसलमानों की अलग-अलग संस्कृतियाँ नहीं हैं। मुसलमान बाहर से बहुत अधिक संख्या में नहीं आये थे। जो आये उन्होंने भी भारत में बस कर भारतीय संस्कृति को ही अपना लिया था। भारतीयों में से ही बहुत से लोग मुसलमान होते गये थे, पर उनका धर्म ही बदला था, संस्कृति भारतीय ही रही। यह अवश्य हुआ कि मुसलमानों के आने के बाद कई सौ वर्षों में एक मिली-जुली भारतीय संस्कृति का विकास होता रहा, जिस पर अरब, फारस और तुर्किस्तान की संस्कृतियों का भी काफी प्रभाव था।

अंग्रेजीराज में भारतीय संस्कृति के इस सहज विकास की गति रुक गई, अंग्रेजों के राजनीतिक दाँव-पेच के कारण अब धर्म को ही संस्कृति समझा जाने लगा। उन्नीसवीं शताब्दी के सांस्कृतिक पुनरुत्थान का उद्देश्य संस्कृति को विशुद्ध बनाना था जो मिली-जुली सांस्कृतिक भावना का विरोधी था। उसी समय मुसलमानों ने भी अपनी संस्कृति को भारतीय संस्कृति से भिन्न समझना शुरू किया। सच्ची राष्ट्रीयता के विकास में इस अलगाव की प्रवृत्ति के कारण बहुत बाधा पड़ी जिसका परिणाम बाद में भारत के विभाजन के रूप में दिखाई पड़ा। १९०० के बाद जब राजनीतिक आन्दोलन तीव्र होने लगा तो अंगरेजों की ओर से हिन्दू-मुसलमानों में साम्प्रदायिक पार्थक्य की प्रवृत्ति बढ़ाने के प्रयत्न भी अधिक होने लगे। कांग्रेस में पहले हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, अंगरेज सभी शामिल थे। पर १९०० के बाद उसमें धीरे-धीरे मुसलमानों की संख्या कम होती गयी। १९०६ में मुसलिमलीग की स्थापना के बाद कांग्रेस में बहुत कम मुसलमान रह गये। अन्त में १९१६ में कांग्रेस को हिन्दू-मुसलिम समझौता करना पड़ा। यह पृथक्करण की प्रवृत्ति तत्कालीन साहित्य में भी दिखाई पड़ती है। अत: १९००—१९१८ के बीच हिन्दी कविता में जो हिन्दू पुनरुत्थान की प्रवृत्ति इतनी अधिक दिखाई पड़ती है, अंगरेजों की अलगाव नीति भी उसका एक बहुत महत्वपूर्ण कारण है।

कहा जा चुका है कि अँगरेजों ने कुछ अच्छे काम भी किये जिसके कारण यह पुनरुत्थान की प्रवृत्ति बढ़ी। प्राचीन संस्कृत साहित्य की शिक्षा के लिए सरकार की ओर से बहुत पहले ही बनारस में गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज की स्थापना हो चुकी थी। १७७४ में सरविलियम जोन्स के प्रयत्न से बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना हुई थी जिसका कार्य प्राचीन साहित्य तथा भाषाओं के सम्बन्ध में अनुशीलन करना था। कर्नल कनिंघम के प्रयत्न से १८५७ में भारत सरकार ने पुरातत्व विभाग की स्थापना की थी। इसकी ओर से प्राचीन ध्वंसावशेषों जैसे राजगृह, तक्षशिला, सारनाथ, हड़प्पा, महेंजोदड़ो आदि स्थानों की खुदाई हुई। प्राचीन शिला-लेख पढ़े गये जिससे भारत के प्राचीन इतिहास पर प्रकाश पड़ा। लार्ड कर्जन ने इस विभाग की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया। ताजमहल से लेकर छोटे छोटे ऐतिहासिक अवशेषों को भी साफ करके दर्शनीय और संरक्षित बनाया गया। परिणाम-स्वरूप अजंता-एल्लौरा की गुफाओं की चित्रकला, दक्षिण के प्राचीन मंदिरो और ताजमहल की वास्तु-कला, बौद्ध और गुप्तकालीन मूर्तिकला का महत्व सारे संसार में स्वीकार किया गया। एशियाटिक सोसाइटी द्वारा बहुत से प्राचीन ग्रन्थों की खोज और अनुवाद

का कार्य हुआ जिससे प्रभावित होकर यूरोपीय विद्वानों ने संस्कृत और पाली-प्राकृत के साहित्य का अध्ययन किया। मैक्समूलर शापेनहार, श्लीगेल आदि जर्मन विद्वानों ने वैदिक और लौकिक संस्कृत-साहित्य के सम्बन्ध में बहुत काम किया। तुलनात्मक भाषाविज्ञान के विकास के फलस्वरूप संस्कृत और आधुनिक आर्यभाषाएँ भी यूरोपीय आर्यभाषाओं के परिवार की सिद्ध हुईं जिससे अपने प्राचीन साहित्य और अतीत-गौरव में भारतीयों की आस्था बढ़ी।

प्राचीनकलाओं की ओर भी लोगों का ध्यान गया। विष्णु दिगम्बर ने भारतीय शास्त्रीय संगीत को वैज्ञानिक ढंग से व्यवस्थित किया और उसे लिखित रूप में सुरक्षित किया, अन्यथा संगीत कला की महान परम्परा को लोग धीरे-धीरे भूल ही जाते। मुसलमानी काल में संगीत शास्त्र में जो विकास हुआ था उन्होंने उसकी परम्परा को आगे बढ़ाया, उसमें संशोधन करके उसे हिन्दू संगीतशास्त्र बनाने की कोशिश नहीं की। भातखण्डे और विष्णु दिगम्बर के प्रयत्नों के फलस्वरूप इस कला का रक्षण और प्रसार हुआ। बाद में उनकी परम्परा को हिन्दू-मुसलमान कलाकारों ने मिल कर आगे बढ़ाया और आज भी बढ़ा रहे हैं। दुख की बात है कि संगीत-कला के पुनरुत्थान में हिन्दू-मुसलमानों का जो सम्मिलित प्रयास दिखाई पड़ा वह साहित्य तथा अन्य कलाओं में नहीं दिखाई पड़ा। चित्रकला में राजा रविवर्मा ने उन्नीसवीं सदी के अन्त में नवीन जागरण का संदेश दिया, परन्तु उनपर पाश्चात्य और मध्यकालीन भारतीय चित्र-कला का प्रभाव अधिक था। वस्तुतः अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने चित्रकला का सच्चा पुनरुत्थान किया। उनकी कला में प्राचीन भारतीय (अजंता) और पाश्चात्य चित्र-कला का सुंदर सामंजस्य हुआ है। उन्हीं की शिष्य-परम्परा ने भारतीय चित्रकला को फिर बहुत उन्नत बना दिया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस युग में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हिन्दू पुनरुत्थान की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। तत्कालीन चित्र-कला ने भी हिन्दी साहित्य पर बहुत प्रभाव डाला। इसके बारे में आगे लिखा जायगा।

आचार-विचार संक्रामक होते हैं। विजेता जाति की संस्कृति का विजित जाति अनुकरण भी करती है। पर उसे संस्कृति का सहज विकास नहीं कहा जा सकता। सहज विकास का कारण तो भौतिक परिस्थितियाँ होती हैं। किसी जाति की संस्कृति को दूसरी जाति तभी ग्रहण कर सकती है जब उनकी भौतिक परिस्थितियों में समानता होती है। पाश्चात्य संस्कृति का अनुकरण भारत में पर्याप्त मात्रा में हुआ; पर वह नैतिक पतन का कारण बना, सांस्कृतिक विकास का नहीं। जब इस पतन का ज्ञान हुआ तो उसकी प्रतिक्रिया के रूप में

पुनरावर्तन की प्रवृत्ति भी बढ़ी। किंतु अतीत का पुनरावर्तन न तो सम्भव है और न श्रेयस्कर। वह तो एक झूठा आदर्शवाद है जो समाज की प्रगति में बाधा उत्पन्न करने वाला होता है। इसी कारण १९ वीं सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी के प्रारम्भ में भारत में पुनरावर्तन की प्रवृत्ति के साथ-साथ पाश्चात्य और भारतीय संस्कृतियों के सामंजस्य की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है। संक्रान्ति-युग के भारतेन्दु तथा अन्य कवि पाश्चात्य कला, शिक्षा और उद्योग-धन्धों को अपनाने के पक्षपाती थे। साहित्य में भी उन्होंने पश्चिम की बहुत सी शैलियों को अपनाया। निबंध, उपन्यास, पत्रकारिता, जीवनी, लघुकथा आदि का प्रारम्भ उसी सामंजस्य-बुद्धि का परिणाम था। यह प्रवृत्ति पुनरुत्थान युग में और बढ़ी क्योंकि जिन परिस्थितियों के बीच पाश्चात्य साहित्य का विकास हुआ था या हो रहा था, वे भारत में भी उत्पन्न हो रही थीं। पहले कहा जा चुका है कि साम्राज्यवादी बन्धनों के बावजूद भारत में औद्योगिक क्रान्ति हो रही थी, यद्यपि उसकी गति बड़ी मन्द थी। उसके कारण जो राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं उसका भी उल्लेख किया जा चुका है।

इस सम्बन्ध में एक बात और उल्लेखनीय है, जिसका प्रभाव पुनरुत्थान-युग की कविता पर तो कम, लेकिन छायावाद-युग की कविता पर अधिक पड़ा है। औद्योगिक विकास के साथ ही उद्योग-धन्धों का केन्द्रीकरण होता गया और अंग्रेजी सरकार की नीति के कारण नगर ही ग्रामों की आवश्यकता-पूर्ति के केन्द्र बनते गये। शहरों की आबादी बढ़ती गयी और साथ ही वहाँ मध्यवर्गीय व्यक्तिवाद भी बढ़ता गया। दूसरी तरफ गाँवों के सामूहिक जीवन का ह्रास भी जारी रहा। गाँवों में शादी-ब्याह, जनम-मरन, उत्सव-त्यौहार सब में सामूहिक क्रियाशीलता दिखलाई पड़ती है। नगरों में घने-बसे मुहल्लों में भी सब लोग अलग-अलग जीवन-यापन करते हैं, जैसे सबका जीवन एक दूसरे से असम्बद्ध हो। पारस्परिक प्रतियोगिता और एकांगिता ही पूँजीवादी नागरिकता की विशेषता है। उसमें एक ओर तो सामंतवादी बन्धनों को तोड़ने के लिए व्यक्तिवाद आवश्यक है परन्तु दूसरी ओर वह सामान्य मानव को पूँजी का गुलाम बना देने का एक अस्त्र भी है। यही पूँजीवाद का अंतर्विरोध है। १९०० के बाद भारत में भी नागरिक जीवन और व्यक्तिवाद की वृद्धि हुई। ऐसी परिस्थिति में यूरोपीय साहित्य का, जिसमें औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप व्यक्तिवाद का प्राधान्य था, भारतीय साहित्य पर प्रभाव पड़ना जरूरी था। भारत के जिन भागों में अंगरेज पहले आये वहाँ औद्योगिक विकास पहले हुआ और पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव भी उन्हीं प्रान्तों के साहित्य पर पहले दिखाई पड़ा। हिन्दी पर यह प्रभाव कुछ

तो सीधे अंग्रेजी, किन्तु अधिकतर बंगला और मराठी के माध्यम से पड़ा।

पूँजीवादी वर्ग सामंतवाद को मिटाने के लिए क्रान्तिकारी रूप में सामने आता है और समाज को प्रगतिशील बनाता है। उसी तरह पूँजीवादी साहित्य भी प्रारम्भ में क्रान्तिकारी होता है अर्थात् वह सामंती साहित्य के विरुद्ध विद्रोह करता है। हिन्दी की रीतिकालीन कविता के विरुद्ध उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जो सीमित विद्रोह दिखलाई पड़ा उसका कारण भी यही था कि वह एक सीमातक औद्योगिक विकास के कारण उत्पन्न नये मध्यम वर्ग का साहित्य था। बीसवीं सदी के प्रारम्भ में औद्योगिक विकास कुछ अधिक हुआ। इसलिए इस काल में सामंतवादी साहित्य के विरुद्ध होने वाला विद्रोह भी कुछ अधिक दिखाई पड़ता है। यह विद्रोह निम्नलिखित रूपों में दिखलाई पड़ता है :—

१—काव्य-भाषा में परिवर्तन।

२—अभिनव छन्द-विधान।

३—राष्ट्रीयता और देशभक्ति।

४—गीत और प्रगीत-मुक्तक।

५—प्रकृति चित्रण और व्यक्तिवादी स्वच्छन्दता।

६—दार्शनिकता [मानवतावाद-रहस्यवाद आदि] नीतिमत्ता और बौद्धिकता।

७—अंग्रेजी और बंगला की कविता का प्रभाव।

इन प्रवृत्तियों का प्रारम्भ संक्रान्ति-युग में ही हो चुका था, इस युग में उनका विकास (कुछ का ह्रास भी) हुआ। ब्रजभाषा में कविता लिखना अब बहुत कम हो गया और अधिकांश नये कवि खड़ी बोली में काव्यरचना करने लगे। नई कविता में गीततत्व का भी प्रवेश हुआ। नये-नये छन्दों में प्रगीत मुक्तकों तथा आख्यानक-काव्यों की रचना हुई। काव्य के विषयों का विस्तार हुआ और प्रकृति का वस्तुगत चित्रण किया जाने लगा। रीतिकाल में मुक्तक कविता की ही प्रधानता थी, प्रकृति-चित्रण केवल उद्दीपन के रूप में ही होता था और नायक-नायिका के रूप में कृष्ण-राधा का आरोप किया जाता था। कवि अपने मन की भावनाओं को व्यक्त करने के लिए अवतारों का सहारा लेता था अर्थात् धर्म का प्रभुत्व, भले ही वह ऊपरी हो, काव्य पर था। इस युग में धर्म की जगह दार्शनिकता और नीतिमत्ता ने ले ली। इससे स्पष्ट है कि रीतिकालीन सामंतवादी प्रवृत्तियों को छोड़कर नवीन पूँजीवादी प्रवृत्तियाँ अपनाई जा रही थी। इस नई धारा की कविता पर पाश्चात्य काव्य-प्रवृत्तियों का भी प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव-पहले बंगला और गुजराती के साहित्य पर पड़ा था। इस युग में यूनिवर्सिटी-कालेजों की उच्चशिक्षा में वृद्धि हो जाने से पढ़े लिखे लोगों पर सीधे अंग्रेजी

कविता का प्रभाव पड़ा। बंगला गुजराती और मराठी के मध्यम से भी वह प्रभाव हिन्दी पर पड़ा। बंगला और अंग्रेजी के प्रबन्ध काव्यों और प्रगीत मुक्तकों का अनुवाद तो हुआ ही भावानुवाद भी हुए और उन्हीं की शैली में मौलिक रचनाएँ भी की गयीं। अतः उस युग के प्रेमाख्यानक काव्यों पर पाश्चात्य स्वच्छन्दतावाद की स्पष्ट छाप है। कविता के रूप-विधान पर भी अंग्रेजी और बंगला साहित्य का बहुत अधिक प्रभाव दिखाई पड़ता है।

किन्तु पाश्चात्य और भारतीय संस्कृति के सामंजस्य और सामंती संस्कृति की प्रतिक्रिया के कारण उत्पन्न होने वाली यह विद्रोही काव्यधारा बहुत क्षीण थी। वस्तुतः उस युग की कविता की प्रधान धारा पुनरुत्थान की है। इस पुनरुत्थान के दो रूप थे, पुनरावर्तन और समझौता। पहले कहा जा चुका है कि हिन्दू-पुनरावर्तन की आकांक्षा प्रतिक्रिया के कारण उत्पन्न हुई थी। संक्रांति युग में वह राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति बनी। उस समय एक ही कवि पुनरावर्तनवादी और राष्ट्रीय, दोनों प्रकार की कवितायें लिखता था। राजनीति में भी जो पुनरावर्तनवादी थे, वे या तो धीरे-धीरे राष्ट्रीयतावादी हो गये या राजनीति से अलग हो कर केवल सांस्कृतिक कार्य करने लगे। तिलक और अरविंद घोष इसके उदाहरण हैं। तिलक धीरे धीरे उग्र राष्ट्रीयतावादी हो गये और मुसलमानों के साथ मिलकर काम करने लगे। इसके विपरीत अरविंद घोष १९०७ में राजनीति से पलायन कर पाण्डेचेरी में योग-साधना करने लगे। इस प्रकार बीसवीं सदी की बदली हुई परिस्थितियों में ये दोनों एक दूसरे की विरोधी प्रवृत्तियाँ बन गयी थीं। किंतु साहित्य में अब भी दोनों साथ ही चलती रहीं। इसका उदाहरण मैथिलीशरण गुप्त की कवितायें, विशेष कर 'भारत-भारती' है जिसमें अतीत और वर्तमान खण्डों में देश के अतीतगौरव की प्रशंसा की गई है और वर्तमान दशा पर आँसू भी बहाये गये हैं। इस पुनरावर्तन की भावना के कारण इस काल की कविता में राष्ट्रीयता की भावना दब सी गयी है। उसमें वह तेज, सीधापन और यथार्थता नहीं दिखाई पड़ती जो संक्रांति-युग की राष्ट्रीय कविता में थी। कांग्रेस के तत्कालीन उग्रवादियों के केवल धार्मिक विचारों का ही प्रभाव उनपर पड़ा, राजनीतिक विचारों का नहीं। जैसा पहले बताया जा चुका है, इसका कारण यह था कि १९१० के बाद उद्योगपतियों और ब्रिटिश सरकार के बीच सौहार्द्र उत्पन्न हुआ। इस तरह अंग्रेजों के पिट्ठू सामंतवर्ग के साथ भी पूँजीवादी वर्ग का समझौता हो गया जिससे सामंतवादी पुनरावर्तन की प्रवृत्ति बढ़ी और राष्ट्रीयता की भावना उदारपंथी नीति को अपना कर कविता में अभिव्यक्त हुई।

मैथिलीशरण गुप्त ने एक ओर तो ब्रिटिश राज की प्रशंसा की और दूसरी ओर निम्नमध्यमवर्ग और किसानों की दुर्दशा का चित्रण और स्वदेशी का समर्थन किया।

पुनरुत्थान के भीतर दूसरी प्रवृत्ति समझौते की थी। यह पाश्चात्य और भारतीय विचारों तथा सामंतवादी और पूँजीवादी मनोवृत्तियों का समझौता था, जो तत्कालीन कविता में विविध रूपों में दिखाई पड़ता है। रीतिकालीन कविता की भाषा—ब्रजभाषा—को छोड़ कर खड़ी बोली को काव्य-भाषा तो बनाया गया परंतु अब वह निम्नमध्यवर्ग की बोलचाल की भाषा न रही जिसे भारतेंदु और उनके सहयोगियों ने अपनाया था। भाषा के संस्कार और व्यवस्था के नाम पर उसे संस्कृत-गर्भित बनाया गया। यह पूँजीवाद और सामंतवाद का भाषागत समझौता था। इस प्रवृत्ति के कारण भाषा उच्चवर्ग की वस्तु बनने लगी। समझौते का यह रूप भाषा ही नहीं, काव्य के रूप-विधान और विषयवस्तु में भी दिखाई पड़ा। संक्रांति-युग में लोकगीतों की शैली और लोकछंदों को अपनाया गया था। इस युग में श्रीधर पाठक और बालमुकुन्द गुप्त जैसे थोड़े से ही कवियों ने उस परम्परा को आगे बढ़ाया। द्विवेदी जी के प्रभाव से जितने कवि आगे आये उन्होंने अधिकतर संस्कृत के वर्णवृत्तों का प्रयोग किया। इसका कारण मराठी का प्रभाव था जिसमें पुनरावर्तन की प्रवृत्ति बहुत अधिक थी। काव्य-विषयों में भी वही समझौते की बात दिखाई पड़ती है। पौराणिक कथाओं तथा ऐतिहासिक वीरों और अवतारों आदि के सम्बन्ध में कवितायें लिखी गयीं, पर उनके कथानक को तोड़-मोड़कर युग की मान्यताओं के अनुरूप बनाया गया। इस प्रकार रीति-ग्रन्थों द्वारा स्वीकृत नायक-नायिका तथा कथानक सम्बन्धी परिभाषा तो अपनाई गयी, परंतु उन्हें बौद्धिकता और युग-सम्मत नैतिकता की कैंची से काँट-छाँट कर मर्यादित भी किया गया। समझौते के फलस्वरूप ही स्वच्छंद प्रेमाख्यानक काव्यों पर आदर्शवादी प्रेम (Platonic love) की खोल चढ़ा दी गयी। शीरीं-फरहाद, लैला-मजनूँ या हीर-राँझा की कथाओं में जो जन-भावना और ताजगी है वह 'एकांतवासीयोगी' (Hermit) से प्रभावित काल्पनिक प्रेमाख्यानक काव्यों—'प्रेम पथिक', 'पथिक', 'मिलन' आदि—में नहीं है। कुछ कवियों में तो सुधारवाद के साथ-साथ वही रीतिकालीन अलंकारप्रियता दिखलाई पड़ती है। इस प्रकार मर्यादा और नीतिमत्ता के प्रति सभी कवियों का जो इतना झुकाव दिखलाई पड़ता है वह सामंतवाद और राष्ट्रीय पूँजीवाद के समझौते की साहित्यिक अभिव्यक्ति है।

इस तरह हम देखते हैं कि १९०० से १९१८ तक की कविता में आधुनिकता

की प्रतिष्ठा हो गयी थी, यद्यपि उसमें अभी सामंती अवशेष बचे हुए थे। आधुनिकता की प्रधान कसौटी है बौद्धिकता, तर्क-बुद्धि और मुक्ति की कामना। इस युग में सामंती जीवन-विधि, समाज-व्यवस्था और संस्कृति में कवियों को बहुत सी बुराइयाँ दिखलाई पड़ीं। वे उनका सुधार करना चाहते थे और उन सामंती मान्यताओं का विरोध करते थे, जो व्यक्ति को बन्धनों में जकड़ कर उसके व्यक्तित्व को बौना बना देती थीं। वे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्वतंत्रता के अभिलाषी थे, परन्तु उनके पास सामाजिक यथार्थ को पहचानने और उसकी विकृतियों को दूर करने का कोई निदान नहीं था। अतीत के इतिहास का प्रकाश तो उनके पास था, पर उस प्रकाश में वर्तमान को देखने और पहचानने की उनमें शक्ति नहीं थी। इसके विपरीत वर्तमान से ऊबकर वे सुदूर अतीत के गर्भ में पलायन करके अपने मन की दुनिया का निर्माण करने लगे। ऐतिहासिक और पौराणिक कविता में कल्पना का नियोजन इसी नये निर्माण के लिए ही किया गया। सामाजिक यथार्थ तो यह था कि विदेशी साम्राज्यवाद अपने हित के लिए वर्तमान भारतीय समाज की सभी बुराइयों को यथास्थित बनाये रखना चाहता था; इसीलिए वह सामंतवाद का संरक्षण कर रहा था। अतः अंग्रेजो को हटाये बिना न तो देश की औद्योगिक उन्नति सम्भव थी, न धार्मिक-सामाजिक बुराइयाँ ही दूर हो सकती थीं और न लोकतांत्रिक दृष्टिकोण का ही विकास हो सकता था। किंतु यह यथार्थ कवियों की दृष्टि से ओझल हो गया। यद्यपि इस काल की कविता में सामाजिक भावना की अभिव्यक्ति बहुत अधिक हुई फिर भी यह सामाजिकता एकांगी और कार्यकारण-श्रृंखला के ज्ञान से शून्य थी। इसी कारण कवियों ने गलत रास्ता अपना लिया। यह सुधारवाद तब तक सफल नहीं हो सकता था जब तक कि सामाजिक ढाँचे के मूल आधार में ही परिवर्तन न हो जाय। सुधारवाद समझौता करता है, क्रान्ति नहीं। फिर भी इस युग की कविता का महत्व इसलिए है कि उसमें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में बुराइयों से छुटकारा पाने की कामना है। यह उस विद्रोह की भूमिका है जो आगे चलकर छायावादी कविता में दिखलाई पड़ा। उपर्युक्त समझौते के कारण उस काल की कविता में जो बौद्धिकता दिखलाई पड़ती है वह वस्तुगत और स्थूल है। विद्रोह-जन्य बौद्धिकता आंतरिक और सूक्ष्म होती है जो बाद की छायावादी कविता में दिखलाई पड़ती है।

इस समझौते की प्रवृत्ति के कारण ही इस युग की कविता आदर्शवादी है। यह आदर्शवाद न तो बिलकुल सामंतवादी आदर्शवाद है और न बिलकुल पूँजीवादी। आर्यसमाजी विचारों की तरह पुनरुत्थान युग की कविता में भी

दोनों का समन्वय दिखलाई पड़ता है। सामंतवादी आदर्शवाद में राजा समाज का आदर्श नेता, आदर्श-व्यक्ति और ईश्वर का अंश होता है। वह स्वेच्छाचारी होते हुए भी मान्य और पूज्य तथा सामंत और पुरोहित वर्ग की रक्षा करने वाला होता है। सामंतवादी आदर्शवाद का नारा होता है—मर्यादा, नियमन, धार्मिकता, भाग्यवाद, और परम्परा-पालन। पूँजीवादी आदर्शवाद में कोई भी व्यक्ति, चाहे वह जिस वर्ग और जाति का हो, अपने व्यक्तित्व की विचित्रता और बुद्धि के कारण समाज में अपनी विशिष्टता प्रकट करता हुआ भी समाज का हित-साधक हो सकता है। इस प्रकार पूँजीवादी आदर्शवाद में व्यक्तिवाद और मानवतावाद, भौतिकता और अध्यात्मवाद साथ मिले रहते हैं। उसका नारा होता है:—समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व। इस युग के कवि सामंती आदर्शवाद के उन तत्वों को ग्रहण करते हैं जो बुद्धिसम्मत हैं और जो आधुनिक वैज्ञानिक युग में भी बने रह सकते हैं। इसीलिए वे अवतारवाद को मानते हुए भी अवतारों को महामानव या महापुरुष के रूप में ही चित्रित करते हैं, अलौकिक शक्ति के रूप में नहीं। गुप्त जी वैष्णव हैं; निर्गुण ब्रह्म का विरोध करते हुए भी उन्होंने राम को ईश्वर का अवतार माना है।* पर युग की बौद्धिक चेतना से विवश होकर वे पंचवटी और साकेत में राम को मानव रूप में ही चित्रित करते हैं, अतिमानव या अलौकिक और सर्वशक्तिमान, सर्वद्रष्टा और सर्वव्यापी रूप में नहीं। वे एक ओर तो वर्णव्यवस्था को बनाये रखना चाहते हैं,† और दूसरी ओर स्वदेशी का समर्थन, उद्योग-धन्धों के विकास की कामना, समानता और विश्वबन्धुत्व का उपदेश भी करते हैं। वर्तमान युग में उन्हें यह सम्भव नहीं दीखता, अतः वे अतीत को वापस बुलाना चाहते हैं। ‡ हरिऔध पर

---

* राम तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या ?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या ?
तो मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे,
तुम न रमो तो, मन तुममें रमा करे।

साकेत—मैथिलीशरण गुप्त।

† ब्राह्मण बढ़ावें बोध को, क्षत्रिय बढ़ावें शक्ति को।
सब वैश्य निज वाणिज्य को, त्यों शूद्र भी अनुरक्ति को॥

'भारत-भारती'—गुप्तजी।

‡ जब तक कि भारत पूर्व के पद पर न पुनरासीन हो।

'भारत-भारती' पृष्ठ १६१

आर्यसमाज का प्रभाव अधिक था। अतः उन्होंने भी कृष्ण को अवतार नहीं, महापुरुष और समाज-सेवी के रूप में चित्रित किया। भाग्यवाद, अंधविश्वास और अतिशयोक्ति इस काल की कविता में बहुत कम दिखलाई पड़ते हैं। उनकी जगह कर्मवाद, वीरपूजा और मानवता की चेतना अधिक दिखलाई पड़ती है। देशभक्ति की कविताओं के साथ उत्साह, उद्बोधन और उपदेश की स्फुट कविताओं में यह चेतना सर्वाधिक दिखाई पड़ती है।[1] कवि मनुष्य-मात्र को समान समझता और अछूत, किसान तथा शोषित-पीड़ित वर्गों के साथ अपनी बौद्धिक सहानुभूति प्रकट करता है। इस सहानुभूति में निम्नवर्ग से उसका तादात्म्य नहीं दिखलाई पड़ता; दूरी ही दिखलाई पड़ती है। इसीलिए कर्म करता हुआ किसान उसे दुखी दीखता और दुख से भरे ग्राम को स्वर्ग समझ कर वह लालच की दृष्टि से देखता है।[2] अपनी आदर्शवादी मनोवृत्ति के कारण ही वह गाँवों और उनमें रहने वालों को यथार्थ रूप में नहीं देख पाता। फिर भी उसकी दृष्टि निम्न और उपेक्षित, असुन्दर और अमान्य की ओर गयी। नारी जाति के प्रति उसका दृष्टिकोण बदला और उपेक्षिता उर्मिला को आदर से याद किया गया। परकीया राधा को आदर्श-प्रेमिका का रूप दिया गया और उसके व्यक्तिगत प्रेम का उन्नयन विश्व-प्रेम में किया गया। प्रकृति को उद्दीपन के बन्धनों से निकाल कर स्वतंत्र किया गया और उसमें स्वतंत्र सौंदर्य की प्रतिष्ठा की गयी।

इस युग में प्रबन्ध-काव्यों—विशेषकर वीर काव्यों-की रचना अधिक हुई। रीतिकालीन शृंगार-काव्य की प्रतिक्रिया के रूप में यह प्रवृत्ति पल्लवित हुई। परंतु इसका मनोवैज्ञानिक कारण यह था कि मध्यवर्ग ब्रिटिश साम्राज्य-वाद को अत्याचारी तथा अपने नेताओं को आदर्श वीर के रूप में स्वीकार करता था। इसकी अभिव्यक्ति सीधे ढंग से न करके वीर काव्यों के कथानक का प्रतीक अपनाकर की गयी। अतः 'प्रियप्रवास' के कृष्ण, साकेत और राम-चरित-चिंतामणि के राम, जयद्रथ-वध के अर्जुन और अभिमन्यु, वीर-पंचरत्न के राणा प्रताप आदि, मौर्यविजय के चन्द्रगुप्त, रंग में भंग के वीर राजपूत ये सभी समाज के क्रान्तिकारी और उग्रपंथी नेताओं के प्रतीक हैं जो अपने शौर्य-तेज से आततायी साम्राज्यवाद के प्रतीक रावण, कंस, जयद्रथ, मुसलमान

---

१. नर हो न निराश करो मन को ?
कुछ काम करो कुछ काम करो ॥

२. अहा ग्राम जीवन भी क्या है !
क्यों न इसे सब का मन चाहे !

बादशाह आदि से युद्ध करते और विजय प्राप्त करते हैं। प्रेमाख्यानक काव्यों (प्रेम-पथिक-मिलन) का कथानक कल्पित था किंतु उनमें भी यह प्रतीक दिखलाई पड़ता है। इन काव्यों के नायक पौराणिक, ऐतिहासिक या काल्पनिक वीर पुरुष हैं जो अपने व्यक्तिगत शौर्य से समाज के शत्रुओं का नाश करते हैं। अतः ये काव्य एक ओर तो वीर-पूजा की भावना के कारण सामंती आदर्श की अभिव्यक्ति करते हैं और दूसरी ओर प्रतीकात्मक ढंग से साम्राज्यवाद का विरोध और राष्ट्रीय हितों का समर्थन करने के कारण पूँजीवादी आदर्शवाद का संकेत देते हैं जो व्यक्ति-वैचित्र्य तथा व्यक्तिगत वीरता को बहुत महत्व देता है।

पुनरुत्थान-युग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसने आगे आनेवाले छायावाद-युग के लिए भूमिका तैयार की। छायावाद-युग में सभी रीतिकालीन सामंती प्रवृत्तियों को छोड़ दिया गया और सरस, गंभीर और महान कविता की रचना होने लगी। इस मंजिल तक पहुँचने के लिए रास्ता बनाने का काम पुनरुत्थान-युग ने किया। वह काव्यात्मक प्रयोग का काल था जिसमें पुरानी भाषा, पुराने छन्द, पुराने काव्य-विषय और रूप-विधान को छोड़कर कविता नयी दिशाओं में मुड़ रही थी। नयी भाषा को माँजने-सँवारने में ही कवियों की बहुत सी शक्ति लगी। उस काल के कवियों का काम केवल कविता लिखना नहीं, हिन्दी भाषा का परिष्कार और प्रचार करना भी था; इस कारण सीधी शैली में सीधे-सादे भावों की अभिव्यक्ति स्वाभाविक ही थी। आर्यसमाज का प्रभाव उत्तर-भारत के मध्यवर्ग पर बहुत अधिक था, अतः उसकी खण्डन-मण्डन और उपदेश की पद्धति भी हिन्दी कविता में अपनाई गयी। सुधारवादी मनोवृत्ति के कारण प्रेम, सौंदर्य आदि विषयों के चित्रण में नैतिकता पर जरूरत से अधिक ध्यान रहता था। इन सब कारणों से इस युग की कविता वर्णनात्मक, स्थूल, उपदेशात्मक और नीरस हो गयी। शहरी जीवन का विकास होने के कारण वह लोक-जीवन और लोक-काव्य से भी दूर हट गयी जिससे उसमें जीवन्तता और ताजगी नहीं आ पायी। उच्चमध्यवर्ग और सामंतवर्ग के समझौते के कारण व्यक्तिवाद का भी अधिक विकास नहीं हुआ जिससे कविता में व्यक्तिवैचित्र्य और लक्षणा-व्यंजना का चमत्कार आदि अधिक नहीं आ सका। इस तरह वह अभिधा-प्रधान और कला-विहीन ही अधिक रही। परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि इस युग की सभी कवितायें इसी तरह की हैं। पुरानी शैली की कवितायें अब भी लिखी जा रही थीं, परन्तु उनका विषय बदला हुआ था। सत्यनारायण कविरत्न का 'भ्रमरगीत' इसका उदाहरण है जिसमें सामयिकता पूर्णरूप से पायी जाती है। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की

ब्रजभाषा की रचनायें भी रीतिकालीन परम्परा से कुछ भिन्न हैं। पुरानी शैली के अतिरिक्त स्वच्छन्द शैली का भी प्रारम्भ इसी युग में हो गया था और श्रीधर पाठक, मुकुटधर पाण्डेय, मैथिलीशरण गुप्त, रायकृष्णदास, बदरीनाथ भट्ट, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी आदि इस धारा के प्रवर्तक थे। १९१३ में रविबाबू को 'गीतांजलि' पर 'नोबेल' पुरस्कार मिलने से उनका अध्ययन, मनन और उस विचारधारा का अनुकरण शुरू हो गया। श्रीधर पाठक पर अँग्रेजी काव्य का सीधा प्रभाव पड़ा था। इस तरह स्वच्छन्दतावादी कविता का प्रारम्भ इसी युग में हो गया था जो आगे चलकर छायावाद के नाम से प्रसिद्ध हुई।

विद्रोह-युग

(छायावाद-युग)

प्रथम महायुद्ध के बीच और उसके बाद भारत की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। उन परिवर्तनों का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा। हिन्दी कविता में परिवर्तन की जो क्रिया १८७५ के बाद शुरू हुई थी वह महायुद्ध के बाद अपनी यात्रा की तीसरी मंजिल पर पहुँच गयी। संक्रान्ति और पुनरुत्थान के बाद इस तीसरी मंजिल पर आधुनिक कविता पूर्ण रूप से विद्रोही हो गयी। सामंतवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध यह मध्यवर्ग और निम्नमध्यवर्ग का सम्मिलित विद्रोह था जो कविता में भी विविध रूपों में दिखलाई पड़ा। बंगाल में वहाँ की विशेष परिस्थितियों के कारण यह विद्रोह पहले हुआ। इसीलिए बँगला में यह नई काव्यधारा पहले आई जिसके प्रवर्तक और अग्रदूत रवीन्द्रनाथ ठाकुर थे। पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि ब्रिटिश शोषण-नीति और यूरोपीय संस्कृति का प्रभाव बंगाल, महाराष्ट्र और गुजरात में पहले दिखलाई पड़ा और उत्तर भारत में बाद में। कलकत्ता, बम्बई, अहमदाबाद आदि औद्योगिक केन्द्र वहीं थे; दिल्ली तो १९१० में राजधानी बनी। कानपुर का औद्योगिक विकास भी बाद में हुआ। प्रथम महायुद्ध के समय और उसके बाद अंगरेजों की नीति बदली, देश का औद्योगीकरण तेजी से शुरू हुआ और राजनीतिक संघर्ष भी उत्तरी भारत में तीव्रतर हुआ। गान्धी जी के राजनीति में प्रवेश के बाद किसान आन्दोलन भी शुरू हुए और कांग्रेस का साथ सभी वर्गों के लोग देने लगे। इन सब कारणों से मध्यवर्ग की चेतना विद्रोही बन गयी। वही विद्रोहात्मक परिवर्तन हिन्दी कविता में छायावाद के रूप में दिखलाई पड़ा।

महायुद्ध के बाद की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का विश्लेषण करने के पूर्व यह कह देना आवश्यक है कि आधुनिक हिन्दी कविता में इतनी जल्दी जल्दी परिवर्तन होने का कारण पश्चिमी वादों का अन्धानुकरण नहीं है, जैसा कुछ सिद्ध आलोचकों का मत है। उनकी इस स्थापना का कारण वह सामंती भ्रम है कि साहित्य-कला शाश्वत होते हैं और उनके मूल्यों और मानदण्ड में परिवर्तन का कारण अन्धानुकरण है। परिवर्तन और विद्रोह को उत्थान (प्रथम, द्वितीय और तृतीय उत्थान) कह कर उन आलोचकों ने अपने पूर्वग्रहवाले

पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया है, यथार्थवादी दृष्टिकोण का नहीं। यथार्थ का ज्ञान हो जाने पर उन्हें पता चलता कि परिवर्तन प्रकृति का ही नहीं, साहित्य का भी अटल नियम है और सामंतवाद के विरुद्ध पूँजीवादी समाज-व्यवस्था की स्थापना के समय यह परिवर्तन और भी तीव्रगति से होता है। भारत में अँगरेजों की साम्राज्यवादी नीति के कारण यह सामाजिक परिवर्तन बहुत धीरे धीरे हुआ और पूँजीवादी क्रान्ति पूरी तरह नहीं हो सकी जिससे आलोचकों का ध्यान उसकी तरफ नहीं गया। अगर गया भी तो वे उसका वैज्ञानिक विश्लेषण करके कार्य-कारण की शृंखला का पता नहीं लगा सके। इसीसे परिवर्तन की यह मन्दगति भी उन्हें बहुत तीव्र और अश्रेयस्कर मालूम पड़ी। वस्तुतः उनके ध्यान में यह बात नहीं आयी कि आधुनिक हिन्दी कविता पूँजीवाद और राष्ट्रीयता की कविता है जो संक्रान्ति-युग (भारतेन्दु युग) में अंकुरित, पुनरुत्थान-युग (द्विवेदी युग) में पल्लवित और विद्रोह-युग (छायावाद-युग) में पुष्पित-फलित हुई।

आधुनिक कविता का विकास भारत में उस तरह सीधे ढंग से नहीं हुआ जैसे यूरोप में हुआ था। यूरोप में आधुनिक साहित्य का प्रारम्भ पन्द्रहवीं शताब्दी में हुआ और अठारहवीं शताब्दी में औद्योगिक क्रान्ति के बाद वह अपने क्रान्तिकारी रूप को प्राप्त कर सकी। पुनरुत्थान (रेनेसाँ) के बाद से यूरोप में जो सांस्कृतिक परिवर्तन हुए उनके मूल में वहाँ होने वाले आर्थिक परिवर्तन थे। हमारे देश में ठीक इसकी उल्टी बात हुई। भक्तिकाल में पुनरुत्थान की जो लहर उठी थी वह तत्कालीन आर्थिक स्थिति की सुदृढ़ता और सांस्कृतिक अन्तराव-लम्बन के कारण थी। बाद में अँगरेजों के साम्राज्यवादी और आर्थिक आक्रमण के कारण पुनरुत्थान की प्रवृत्ति दब गयी और ह्रासोन्मुख सामंतवादी संस्कृति का प्रभाव कविता पर पड़ा। १८५७ के बाद फिर नई परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं जिनके कारण राष्ट्रीयता और पुनरुत्थान का नये ढंग से प्रारम्भ हुआ। यहीं से कविता में आधुनिकता की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ने लगी जो उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। किन परिस्थितियों में आधुनिक विचारों का विकास हुआ और कविता पर उनका क्या प्रभाव पड़ा, इस पर पिछले अध्याय में विचार किया जा चुका है। इस तमाम विश्लेषण का निष्कर्ष यह निकलता है कि आधुनिक कविता गत्यात्मक है। वह सामंतवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध उच्चमध्यवर्ग और निम्नमध्यवर्ग के संघर्ष और विद्रोह की विभिन्न मंजिलों पर विभिन्न रूपों में दिखलाई पड़ती है। उसमें शुरू से अन्त तक एक सिलसिला और सम्बन्ध है। इसीलिए छायावाद युग को समझने के लिए इतना ही आवश्यक नहीं है कि उस युग (१९१८–१९३९) की परिस्थितियों को समझा जाय बल्कि यह भी

आवश्यक है कि उसके पूर्ववर्ती युगों की परिस्थितियों और कविता के बीच उसके सम्बन्ध-सूत्र का पता लगाया जाय और इस प्रकार आधुनिक कविता के गत्यात्मक रूप को देखा जाय।

पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि १८५७ के बाद अँग्रेजों ने हिन्दुस्तान में शोषण की नई नीति निकाली। यह बैंक पूँजी द्वारा शोषण की नीति थी। १९१४ के बाद यह शोषण और भी तीव्र हुआ किन्तु साथ ही भारतीय उद्योगधन्धों का विकास भी हुआ, यद्यपि यह विकास अन्य देशों के मुकाबले में नहीं के बराबर है। जो कुछ विकास हुआ वह भी अँग्रेज पूँजीपतियों के तीव्र-विरोध के बावजूद हुआ। यह विकास चौमुखी नहीं, एकांगी था। छोटे उद्योगधन्धों, जैसे सूती कपड़े, सीमेन्ट, दियासलाई आदि का तो विकास हुआ किन्तु बड़े-बड़े उद्योगधन्धों जैसे इस्पात या लोहे के बड़े-बड़े कारखाने खोलने की तरफ बिलकुल ध्यान नहीं दिया गया। लड़ाई के जमाने में मजबूर होकर अंग्रेजों को औद्योगिक विकास में सहायता करनी पड़ी। उनका स्वार्थ यह था कि वे हिन्दुस्तान के बाजार को अन्य पूँजीवादी देशों का गोदाम नहीं बनने देना चाहते थे। १९१८ में माण्टेग्यू-चेम्स फोर्ड-रिपोर्ट में यह स्पष्ट कहा गया था कि "आर्थिक और सैनिक दोनों ही दृष्टियों से साम्राज्यवादी हितों की यही माँग है कि अब आगे से हिन्दुस्तान के प्राकृतिक साधन और अच्छी तरह काम में लाये जायँ। हिन्दुस्तान का औद्योगीकरण होने पर साम्राज्य की ताकत और कितनी बढ़ जायगी, हम अभी इसका हिसाब नहीं लगा सकते।" (पृष्ठ २६७) इस नीति-परिवर्तन का मुख्य कारण युद्धजन्य परिस्थितियाँ थीं। अंग्रेज महत्त्वपूर्ण सैनिक आवश्यकताओं के लिये हिन्दुस्तान में कारखाने खोलना चाहते थे क्योंकि लड़ाई के कारण बाहर से माल का आना बन्द हो गया था।* दूसरा कारण यह था कि विदेशी व्यापारी हिन्दुस्तान के बाजार में ब्रिटिश एकाधिकार को खतरा पैदाकर रहे थे। उधर लड़ाई के कारण अँग्रेजों की औद्योगिक हालत खराब हो रही थी। वे लड़ाई के बाद, हिन्दुस्तान को दूसरे देशों के माल का गोदाम नहीं बनने देना

---

* "हो सकता है कि कुछ समय के लिये समुद्र का मार्ग बन्द हो जाय। ऐसा होने पर पूर्वी युद्ध-भूमि की देखभाल करने के लिये हमें हिन्दुस्तान को गोला-बारूद का केन्द्र बनाना होगा। आजकल औद्योगिक दृष्टि से बढ़े हुये हर देश की पैदावार लड़ाई के सामान से मिलती जुलती है। उसकी किस्म बहुत कुछ एक सी होती है, हालाँकि तादाद में फर्क होता है। इसलिये हिन्दुस्तान के प्राकृतिक साधनों का विकास करना एक सैनिक आवश्यकता सा बन जाता है।"

(मांटेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट—१९१८)

चाहते थे अतः उन्होंने विदेशी माल पर चुंगी लगा दी। १९१७ में सूती थानों पर चुंगी बढ़ाकर ७½ फी सदी और १९२१ में ११ फी सदी कर दी गयी। १९२५ में भारत में बने सूती कपड़े पर लगा हुआ कर भी हटा दिया गया। उसी तरह १९२१–२२ में सभी विदेशी माल पर १५ फी सदी चुंगी लगा दी गई। १९२४ में लोहे और इस्पात के आयात पर ३३½ फी सदी चुंगी लगाकर इस उद्योग को संरक्षण दिया गया। इस संरक्षण-नीति में अँग्रेजों की भीतरी चाल यह थी कि वे पूँजीपतिवर्ग को अपने साथ रखना चाहते थे। साथ ही देशी उद्योगों का विकास होने से अँग्रेजों को उतना खतरा नहीं था जितना हिन्दुस्तान के अन्य पूँजीवादी देशों का बाजार बन जाने से।

अतः अपने स्वार्थ की दृष्टि से ही अँग्रेजों ने युद्धकाल में भारतीय उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहित करने का वादा किया और युद्ध के बाद १९२५ तक उस नीति के अनुसार काम भी करते रहे। इससे हिन्दुस्तान के उद्योगपतियों को यह आशा बँध गयी कि अब सरकार देश के उद्योग-धन्धों का विकास करेगी। इसीके फलस्वरूप कांग्रेस के भीतर १९२३ में स्वराज्य-पार्टी का जन्म हुआ था जो कौन्सिलों के भीतर घुसकर सम्मानपूर्ण सहयोग करने की बात करती थी। इस नीति के फलस्वरूप जो कुछ औद्योगिक उन्नति हुई उसके महत्व को नहीं भुलाया जा सकता। १९१५ से १९३३ के बीच उद्योग-धन्धों के उत्पादन में ५६ फी सदी बढ़ती हुई। १९११ में इन उद्योगों में काम करने वाले मजदूरों की संख्या २१ लाख थी जो १९२१ में बढ़कर २६ लाख हो गयी। १९१८ में कोयले की पैदावार ४५ करोड़ ६२ लाख मन थी; १९३४ में वह बढ़कर ६१ करोड़ ६० लाख मन हो गयी। इस्पात का उत्पादन लड़ाई के थोड़े ही वर्ष पहले शुरू हुआ था, १९३४–३५ में उसका उत्पादन करीब ढाई करोड़ मन हुआ। खेती की जमीन और फसलों की पैदावार में भी आबादी के मुकाबले में कुछ वृद्धि ही हुई।* प्रो० टामस के अनुसार १६०० से १९३० के बीच हिन्दुस्तान

*** हिन्दुस्तान में आबादी और पैदावार के आँकड़े**

	आबादी	सभी फसलें	उद्योग-धन्धे
१९१०–११ से १९१४–१५ तक का औसत—	१००	१००	१००
१९३२–३३—	११७	१२७	१५६

(राधाकमल मुखर्जी—चालीस करोड़ आबादी की अन्न योजना—पृष्ठ १७–२७)

के अन्न और कच्चे माल की पैदावार करीब तीस फी सदी बढ़ी और उद्योग-धन्धों का उत्पादन करीब १८९ फी सदी बढ़ा। १९२८ में उद्योग-धन्धों की पैदावार यदि १०० थी तो १९३४–३५ में वह बढ़कर १४४ हो गयी; यानी छः साल में ४४ फी सदी बढ़ती हुई। १९१३ में भारत में मिलों का बना हुआ जितना माल इस्तेमाल किया जाता था उसका तीन चौथाई भाग विदेशों से आता था, पर १९३२–३३ में इसका उल्टा हो गया अर्थात् तीन चौथाई माल हिन्दुस्तान में ही तैयार किया जाने लगा। उसी तरह १९२७–२८ में हिन्दुस्तान अपने कुल खर्च का ३० फी सदी ही लोहा पैदा करता था पर १९३२–३३ में ७२ फी सदी पैदा करने लगा। १९०० के आसपास भारत में अधिकांश सीमेन्ट, चीनी, दियासलाई आदि चीजें बाहर से मँगाई जाती थीं; १९४० के आसपास अपने खर्च के लिए इन सभी चीजों की माँग हिन्दुस्तान खुद पूरी करने लगा।

उपर्युक्त आंकड़ों से यही निष्कर्ष निकलता है कि १९०० से १९३५ के बीच हिन्दुस्तान औद्योगिक विकास के रास्ते में बढ़ने लगा यद्यपि उसकी गति अन्य देशों के मुकाबले में बहुत मन्द थी। इसका कारण यह था कि अंगरेज यहाँ पर बड़े उद्योग-धन्धों के विकास को जानबूझ कर रोकते रहे और उन्हीं उद्योगों को अधिक प्रोत्साहित करते रहे जिनमें ब्रिटिश पूँजी लगी थी। महायुद्ध के बाद अपने स्वार्थ और भारतीयों को भुलावा देकर लड़ाई में मदद लेने की दृष्टि से उन्होंने जो नीति बदली थी वह फिर १९२४ के बाद अपने नग्न रूप में सामने आने लगी। १९१८ के भारतीय औद्योगिक कमीशन ने जो शिफारिसें की थीं उन्हें स्वीकार नहीं किया गया। उद्योग-धन्धों का केन्द्रीय-विभाग न खोलकर कर प्रान्तीय सरकारों के ऊपर उनके विकास की जिम्मेदारी छोड़ दी गयी जो धन के अभाव में कुछ भी नहीं कर सकती थीं। १९२४ में लोहे-इस्पात की तरह अन्य उद्योगों के संरक्षण के लिए भी दरख्वास्तें दी गयीं पर वे नामंजूर कर दी गयीं। किन्तु दियासलाई के उद्योग का संरक्षण इसलिये किया गया कि उसमें विदेशी पूँजी लगी थी। १९२७ में सभी विदेशी आयात पर चुंगी कम कर दी गई। लोहा-इस्पात को मिलनेवाली सहायता बन्द कर दी गई और ब्रिटिश माल के आयात पर लगने वाली चुंगी में खास रियायत करने का सिद्धान्त स्वीकार किया गया। १९३२ में इसी बात को लेकर ओटावा का समझौता हुआ जो देश भर के विरोध के बावजूद हिन्दुस्तान पर लाद दिया गया। इस तरह रियायती चुंगी के जरिये विलायती उद्योग-धन्धों की सहायता की गई। साथ ही भारतीय उद्योग-धन्धों के विकास में चुंगी द्वारा जो सहायता

मिली थी उससे भी भारत में पूँजी लगानेवाले विदेशी पूँजीपतियों का ही लाभ हुआ। उन्होंने देखा कि लड़ाई के बाद हिन्दुस्तानी उद्योगों में पूँजी लगाने से बहुत फायदा हो रहा था, अतः वहाँ की बड़ी-बड़ी एकाधिकारी संस्थाओं ने यहाँ अपनी शाखायें खोल दीं। ये शाखायें ही हिन्दुस्तान के औद्योगिक विकास के लिये भारी खतरा बन गईं। लड़ाई के बाद हिन्दुस्तान में लगने वाली विलायती पूँजी बराबर ही बढ़ती गई जो १९२२ में ३ करोड़ ६० लाख पौंड थी।

इस तरह १९२०–२१ के बाद से हिन्दुस्तानी उद्योगों की फिर तबाही शुरू हुई। लड़ाई के बाद थोड़ी सी खुशहाली में हिन्दुस्तानी रोजगारियों की जो कम्पनियाँ बनी थीं, सरकार की मुद्रापरिवर्तन की नीति के कारण वे तबाह हो गईं। इस तरह यह स्पष्ट है कि विश्वव्यापी अर्थ-संकट के, जो १९२८ के बाद शुरू हुआ, कई वर्ष पहले ही हिन्दुस्तान औद्योगिक विकास के रास्ते में आगे नहीं बढ़ा, पीछे ही हटा। बहुत सी हिन्दुस्तानी कम्पनियों को भी विलायती उद्योग-पतियों से पूँजी उधार लेनी पड़ी। इस तरह लड़ाई के बाद देश में बैंकपूँजी का जो फन्दा कुछ ढीला पड़ गया था, वह फिर कसने लगा। रुपये का मूल्य गिर जाने से हिन्दुस्तानी उत्पादकों और खेती से गुजर करने वालों को गहरा धक्का लगा। इसी समय रिजर्वबैंक की स्थापना करके देश के आर्थिक नियंत्रण को अंग्रेजों ने हमेशा के लिए अपने हाथ में कर लिया और तभी विश्वव्यापी आर्थिक संकट का दौर शुरू हुआ। खेती की पैदावार और कच्चे माल की कीमत आधी हो गई जिससे हिन्दुस्तान की ८० फी सदी आबादी तबाह हो गई। किन्तु इस हालत में भी ब्रिटेन का खिराज, कर्ज और घरेलू हिसाब का सूद, जो भाव गिरने के कारण दुगुना हो गया था, कम नहीं किया गया। ब्रिटेन उसे बराबर वसूल करता रहा। १९३१ से १९४० के बीच ३ अरब २१ करोड़ ३३ लाख रुपये का सोना जो भारतीय किसानों और गरीबों की गाढ़ी कमाई से बचाया हुआ खजाने में जमा था, बाहर भेजा गया। इससे जहाँ एक ओर हिन्दुस्तान की गरीबी बढ़ती गई वहाँ दूसरी ओर ब्रिटेन मालामाल बनता गया।*

ऊपर के तमाम विवेचन से यह स्पष्ट है कि अंग्रेजों के सम्पर्क से हिन्दुस्तान की पुरानी सामन्ती आर्थिक व्यवस्था टूटी और औद्योगिक विकास हुआ किन्तु अंग्रेजों ने बराबर उस विकास को रोकने की पूरी कोशिश की।

---

*बैंक आफ इन्टर नेशनल सेटिलमेन्ट्स की रिपोर्ट के अनुसार १९३२ में इंगलैंड के पास ३ अरब २ करोड़ १० लाख फ्रैंक (स्विटजरलैण्ड का सोने का सिक्का) का सोना था। १९३६ के अन्त में वह ७ अरब ९१ करोड़ १० लाख का हो गया। ('आज का भारत', रजनीपामदत्त पृष्ठ १५३)।

१८०० ई० तक भारतीय आर्थिक व्यवस्था आत्म-निर्भर गाँवों के ऊपर आधारित थी तथा उत्पादन और वितरण के तरीके वैसे ही थे जैसे औद्योगिक क्रांति के पहले यूरोप में थे। किन्तु १८०० से १९४० तक के करीब १५० वर्षों के लम्बे काल में भी यहाँ उस तरह की औद्योगिक क्रान्ति, जैसी ग्रेट-ब्रिटेन में हुई थी, नहीं हो सकी। फिर भी आंशिक रूप से यहाँ औद्योगिक विकास अवश्य हुआ और हिन्दुस्तान एक व्यापारिक देश माना जाने लगा। पहली लड़ाई के बाद थोड़ा बहुत औद्योगिक विकास जरूर हुआ किन्तु हिन्दुस्तान अब भी एक खेतिहर देश बना रहा। मर्दुमशुमारी के अनुसार तो उद्योगधंधों में काम करने वालों की संख्या बहुत बढ़ गई। नये ढंग की मशीनों तथा मन्दी के कारण मजदूरों की संख्या १९११ के बाद घटती ही गई जिससे बेकारी बहुत बढ़ी और खेती पर भार बढ़ता गया। इस प्रकार दूसरे महायुद्ध के पहले देश का औद्योगीकरण तो कम, अनुद्योगीकरण अधिक हुआ। खेती के साथ लगे-लिपटे उद्योगधंधों का अधिकाधिक सर्वनाश हो जाने से और उनके अनुपात में अधिक यांत्रिक उद्योगधंधों का विकास न होने से मजदूरों की संख्या कम हुई और खेती की जमीन पर ज्यादा लोग निर्भर हो गये।* भारत के औद्योगीकरण की मन्दगति का कारण यह है कि ब्रिटिश शासन के कारण खेतिहर जनता बिल्कुल गरीब होती गई। हिन्दुस्तानी उद्योगधन्धों के माल के खपत के लिये यह गरीबी बहुत बड़ी बाधा उत्पन्न करती है और इस गरीबी का कारण है हिन्दुस्तान का ब्रिटिश बैंकपूँजी के नागपाश में जकड़ जाना। यद्यपि १९२६ के बाद हिन्दुस्तान में ब्रिटिश पूँजी कम होती गई किन्तु अंग्रेजों का शोषण कार्य बैंकपूँजी द्वारा निरन्तर बढ़ता गया। बैंक, व्यापार, बीमा, एक्सचेन्ज, जहाज, रेल, चाय, काफी, रबर, जूट आदि उद्योगों में ब्रिटिश पूँजी ही अपना एकाधिकार

* थोड़े से बड़े बड़े औद्योगिक केन्द्र जरूर हैं लेकिन दस्तकारी से जितने लोगों की रोजी चलती थी, कारखानों से इतने अधिक लोगों की रोजी नहीं चलती। देश के प्रति वर्ष के आयात से निर्यात कम है। अनुपात में जरूर फर्क पड़ रहा है, फिर भी हिन्दुस्तान के आर्थिक जीवन की विशेषता अभी यही है कि वह कच्चा माल, बाहर भेजता और तैयार माल विदेशों से मँगाता है। हिन्दुस्तान के लोगों का रहन-सहन बहुत नीचा है फिर भी उसके कारखानों में अपने देश की खपत के लायक तो पूरा उतना भी माल नहीं तैयार होता जितना सौ साल पहले तैयार होता था।

(डी० एच० बकनन, हिन्दुस्तान में पूँजीवादी कारबार की उन्नति—प्रकाशन १९३४, पृष्ठ ४५१)।

जमाये रही। जहाँ हिन्दुस्तानी पूँजी लगी वहाँ भी ब्रिटिश पूँजी ही मैनेजिंग एजेन्सी के जरिये अपना नियंत्रण बनाये रही।

इस तरह हिन्दुस्तान में मन्दगति से ही सही, जो कुछ औद्योगिक विकास हुआ उससे भारतीय पूँजीवाद की जड़ें जम गईं। किन्तु दूसरी तरफ अंग्रेजों ने अपने नये शोषण के नये तरीकों द्वारा हिन्दुस्तान की जनता को और भी गरीब और खेती पर निर्भर रहनेवाला बना दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि देश में साम्राज्यवादी पूँजीवाद के विरुद्ध भारतीय जनता का संघर्ष और भी तीव्र हुआ जिसमें पूँजीपतिवर्ग, मध्यवर्ग और निम्नमध्यमवर्ग, सबने भाग लिया। लड़ाई के बाद कुछ दिनों तक तो भारतीय पूँजीवाद अंग्रेजों का साथ देता रहा जिसके फलस्वरूप गांधी जी का राजनीति आंदोलन १९२१ में असफल हुआ और स्वराज्य पार्टी का—जो पूँजीपतिवर्ग की प्रतिनिधि थी—जन्म हुआ किन्तु बाद में पूँजीपतिवर्ग भी साम्राज्यवाद का कट्टर विरोधी हो गया। इन सब परिस्थितियों की मध्यवर्ग पर दो तरह की प्रतिक्रिया हुई—पहली यह कि साम्राज्यवाद और सामन्तवाद के विरुद्ध विद्रोह की भावना और भी बढ़ गई; दूसरी यह कि राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में असफलताओं के कारण बेबसी और निराशा की भावना भी फैली। साहित्य पर भी ये प्रभाव दो प्रवृत्तियों के रूप में दिखलाई पड़ते हैं—१. विद्रोह और विकास की प्रवृत्ति—२. निराशा और ह्रास की प्रवृत्ति। इस सम्बन्ध में आगे विचार किया जायगा।

इन आर्थिक परिस्थितियों का प्रभाव देश की सांस्कृतिक चेतना पर पड़ा। राजनीति, समाज और साहित्य, सब में एक नवीन दिशा में चलने की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ी। वस्तुतः दो महायुद्धों के बीच का काल ही सच्चे अर्थ में भारतीय पुनरुत्थान (रेनेसाँ) और विद्रोह का काल है क्योंकि इस अवधि के बीच जीवन के सभी क्षेत्रों में सामंती बन्धनों से मुक्ति मिली, भारतीय दर्शन और संस्कृति का नवीन विज्ञान के आलोक में पुनर्मूल्यांकन किया गया और साम्राज्यवाद के विरुद्ध खुलकर और सक्रिय रूप से विद्रोह किया गया। आर्थिक आधार में परिवर्तन का सबसे सीधा प्रभाव राजनीति पर पड़ा और गान्धीजी का मध्यवर्गीय विद्रोही नेतृत्व सामने आया जिसमें गोखले की समझौतावादी और उदार चेतना और तिलक की उग्र विद्रोही और सांस्कृतिक चेतना दोनों ही का समन्वय किया गया था। इसी कारण राजनीति में इस युग को गान्धी-युग कहा जाता है। १९१८ से १९३९ तक की राजनीतिक प्रगति के इतिहास पर एक नजर डाल लेने पर यह बात स्पष्ट हो जायगी।

पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि लार्ड हार्डिंज ने जान-बूझकर

उदारपंथी नीति अपनाई थी और भारतीयों को विश्वास दिलाया था कि युद्ध के बाद उनकी राजनीतिक और औद्योगिक विकास की आकांक्षायें पूरी की जायँगी। भारतीयों ने इसी विश्वास पर युद्धकाल में न केवल कोई गड़बड़ी नहीं की, बल्कि युद्ध में अंगरेजों की हर तरह सहायता भी की। सिर्फ बंगाल और पंजाब में सरकार विरोधी कार्रवाइयाँ हुईं; किन्तु देश के सामान्य वातावरण पर उनका कुछ विशेष प्रभाव नहीं पड़ा और हिन्दुस्तान धन और जन से युद्ध में ब्रिटिश सरकार की मदद करता रहा। किन्तु युद्ध समाप्त होते ही भारतीयों की आशा पर पानी फिरने लगा। १९१७ में भारत मंत्री मॉँटेग्यू ने पार्लामेण्ट में घोषणा की कि भारतीयों की स्वशासन की इच्छायें पूरी की जायँगी। उसी वर्ष वे स्वयं भारतीय स्थिति का अध्ययन करने आये तो देश भर में प्रसन्नता प्रकट की गयी और श्रीमती बेसेण्ट तथा तिलक ने उनसे मुलाकात करके उन्हें कांग्रेस के अधिवेशन में अतिथि के रूप में बुलाया। नौकरशाही को यह बात पसन्द नहीं आयी। वह युद्ध के बाद की बदली हुई परिस्थिति में स्वयं बदलने को तैयार नहीं थी। युद्ध के बाद अमेरिका ने फिलीपाइन्स को स्वतंत्रता दे दी किन्तु अंगरेज भारत के मामले में ऐसा साहसपूर्ण कदम उठाने को तैयार नहीं थे। परिणामस्वरूप मॉँटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट १९१८ में सामने आयी जिसका भारत के सभी लोगों ने एक स्वर से विरोध किया। सिर्फ उदारपंथी नेताओं की यह राय थी कि जो कुछ मिल जाय उसे स्वीकार कर लेना चाहिये। इसीलिए वे कांग्रेस से अलग हो गये और बम्बई में 'लिबरल फेडरेशन' नाम से एक अलग संस्था बनाई गयी। इसी समय गान्धी जी ने भारतीय राजनीति में प्रवेश किया। इसके पहले वे अफ्रीका में भारतीयों के हितों की रक्षा के लिए सत्याग्रह के अस्त्र का प्रयोग कर चुके थे और गोखले की सलाह पर भारत में आये थे। यहाँ भी उन्होने चम्पारन और खेड़ा के किसानों के लिए सरकार से संघर्ष किया था और उन्हें सफलता भी मिली थी। १९१८ में उन्होंने अहमदाबाद की मिलों के मजदूरों की हड़ताल भी कराई थी और अनशन का अस्त्रप्रयोग करके सफलता प्राप्त की थी। इस तमाम अनुभवों का उपयोग उन्होंने आगे चलकर अंगरेजों के साथ होनेवाले संघर्ष में किया।

सन् १९१९ में पार्लियामेन्ट ने भारतीय शासन-विधान में सुधार का कानून पास किया जिसके अनुसार केन्द्रीय सरकार के अधिकारों में कोई हेरफेर नहीं किया गया था। जनता को केवल धारा-सभा में चुनाव द्वारा अपना प्रतिनिधि भेजने का अधिकार मिला था, पर उन प्रतिनिधियों को कोई अधिकार नहीं मिला। अंगरेज एक हाथ से ये दिखाऊ अधिकार दे रहे थे तो दूसरे हाथ से

क्रिमिनल ला अमेण्डमेण्ड ऐक्ट (रौलट ऐक्ट—१९१९) द्वारा भारतीय जनता की स्वतंत्रता के अधिकार छीन भी रहे थे। उनके युद्धकालीन वादों और सुधार-कानून की ओट में उनका जो घृणित स्वार्थ छिपा था वह इस नये रौलट-ऐक्ट के रूप में देश के सामने आ गया। युद्धकाल में श्रीमती बेसेण्ट ने जो होमरूल आंदोलन किया था उससे देश की राष्ट्रीय चेतना बहुत जाग्रत हो गयी थी। लड़ाई खतम होने पर जो भारतीय सैनिक विदेशों से लौटे थे, उन्होंने अपने अनुभवों से देश की राष्ट्रीय चेतना को और भी जाग्रत किया। उन्होंने अन्य देशों के किसानों की सुख-सम्पत्ति, उनकी लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था, तुर्कों की वीरता, आदि बातें सुनाईं तो भारतीयों को अपनी हीन दशा का ख्याल हुआ। उधर अरब के खलीफा के विरुद्ध अंगरेज लड़ रहे थे जिससे भारतीय मुसलमान पहले से ही अंगरेजों के विरोधी हो गये थे। माँटेग्यू-चेम्सफोर्ड, सुधार से भारतीयों को सन्तोष नहीं हो सकता था। उन्होंने तो स्वशासन की आशा कर रखी थी। अतः अंगरेजों के प्रति उनका असन्तोष और भी बढ़ गया और तभी रौलट ऐक्ट भी पास हो गया जिसने जले पर नमक का काम किया। भारतवासियों के मन में बहुत दिनों की दबी हुई असन्तोष और विद्रोह की भावना एकाएक आग की तरह भभक उठी। महात्मा गान्धी ने देश को सलाह दी कि रौलट कानून को शान्तिमय ढंग से तोड़ा जाय। उन्होंने सत्याग्रह प्रारम्भ कर दिया किन्तु लोगों ने अभी अहिंसा के मर्म को नहीं समझा था इसलिए कई जगह दंगे भी हो गये जिनमें यूरोपियनों की हत्यायें हुईं। फलस्वरूप गान्धी जी ने सत्याग्रह स्थगित कर दिया। किन्तु पंजाब में सरकार संत्रस्त हो गयी थी, उसने घोर दमन द्वारा जनता को दबाने की नीति अपनाई। अमृतसर के जलियानवाला बाग में जनरल डायर से बहुत बड़ी सभा पर गोलियाँ चलवा दी जिससे कई सौ व्यक्ति मरे और हजारों घायल हुए। इस एक घटना ने सारे देश में इतनी अधिक हलचल मचा दी जितनी इसके पहले और किसी घटना से नहीं मची थी। अंगरेजों के प्रति जो रहा-सहा विश्वास था वह भी उठ गया। एक तरफ तो भारतमंत्री मांटेग्यू ने वारसेलीज की सिन्ध में भारतीय प्रतिनिधि भी बुलाने का ढोंग किया, दूसरी ओर उसी समय जलियान-वाला बाग में निहत्थे-निरीह भारतीयों पर गोलियों की वर्षा की गयी। एक तरफ शासन सुधार का ढोंग, दूसरी तरफ घोर दमन। हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख सब ने एक स्वर से अंगरेजों की इस नीति का विरोध किया। इसी समय (१९२० में) तिलक का देहावसान हो गया और कांग्रेस का नेतृत्व पूर्ण रूप से गान्धी जी के हाथ में आ गया। १९२० में कलकत्ते में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन

हुआ जिसमें पंजाब-हत्याकाण्ड और खिलाफत को लेकर सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ करने का निश्चय किया गया।

इस प्रकार १९१८-२० के वर्ष भारतीय राजनीति में युगान्तर के वर्ष हैं। महायुद्ध की समाप्ति, वारसेलीज की सन्धि, मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड-सुधार, सत्याग्रह, पंजाब हत्याकाण्ड, खिलाफत-आन्दोलन, तिलक की मृत्यु और गान्धी जी का कांग्रेस पर प्रभुत्व, असहयोग आन्दोलन का प्रारम्भ, ये सब महत्वपूर्ण घटनायें इसी काल में हुईं जिन्होंने भारतीय मध्यवर्ग की चेतना को बिलकुल बदल दिया। यह परिवर्तन विद्रोहपूर्ण था। गान्धी जी के सिद्धान्तों और उपदेशों से मध्य-वर्ग को यह विश्वास हो गया कि अंगरेजों की भौतिक शक्ति का सामना करने के लिए भारतीयों के पास अपनी आत्मिक शक्ति के सिवा और कोई रास्ता नहीं है और यह अस्त्र अमोघ भी है। इस तरह तिलक ने राजनीति में जिस धार्मिकता को स्थान दिया था उसने अब आध्यात्मिकता का रूप ग्रहण किया और उनके विद्रोह का जो क्षीण स्रोत था वही अब अत्यन्त वेगवती धारा की तरह सत्याग्रह, खिलाफत और असहयोग के आन्दोलनों के रूप में बह निकला। यह विद्रोह की भावना मूलतः उठते हुए पूँजीवाद की थी जो सामन्तवाद और साम्राज्यवाद का विरोधी था। गान्धी जी वैश्य थे और इस कारण भी पूँजी-पति वर्ग ने उनका जितना साथ दिया उतना इसके पहले तिलक या गोखले का नहीं दिया था।* गान्धी जी का प्रभाव पूँजीपति-वर्ग ही नहीं, मध्यवर्ग के नौकरी

*"He had other qualifications for leadership which were not immediately apparent, but were to make him the greatest force in Indian politics for over a decade. His lowly Bania caste saved him from the Brahmin's inhibitions, and brought him many supporters amongst the businessmen and shopkee-pers. These had received little encouragement from the older politicians; who were drawn from the prof-essions and from higher castes. He co-operated easily with the wealthy commercial elements, then joining the nationalist movement, and gained humbler supporters in every market town."

[Thompson and Garratt—British Rule In India Page-606]

पेशा लोगों, दूकानदारों आदि और निम्न मध्यवर्ग के किसानों पर भी बहुत पड़ा क्योंकि उन्होंने आध्यात्मिक शक्ति को जाग्रत कर जनता के मन से भय की भावना को निकाल बाहर किया। इस प्रकार सामंतवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध यह सामान्य जनता का राष्ट्रीय विद्रोह था जिसका नेतृत्व मध्यवर्ग ने किया। यदि इस देश में विदेशी शासन न होता और पूँजीवाद का स्वाभाविक विकास हुआ होता तो सम्भवतः सामंतवर्ग के विरुद्ध होने वाले संघर्ष का नेतृत्व पूँजीवाद करता। और तब साहित्य में भी वह उलझन नहीं दिखलाई पड़ती जो छायावाद में दिखलाई पड़ती है। तब स्वच्छन्दतावाद [रोमाण्टिसिज्म] का विकास यहाँ भी उसी तरहसे होता जैसे यूरोप में हुआ था। साम्राज्यवादी पंजे में जकड़े रहने के कारण ही हमारी राजनीति और साहित्य, दोनों में ही वे तमाम विरोधी बातें दिखलाई पड़ती हैं जिन्हें लेकर दोनों क्षेत्रों में विचार-संघर्ष होते आये हैं और आज भी हो रहे हैं।

कलकत्ते के कांग्रेस-अधिवेशन में मालवीय जी, श्रीमती बेसेण्ट, विपिनचन्द्र पाल और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे उदारपंथी नेताओं ने गान्धी जी की असहयोग-नीति का विरोध किया था। बाद में नागपुर में जब यह प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया गया तो बेसेण्ट और पाल कांग्रेस से अलग होकर लिबरल-दल में शामिल हो गये। इस बीच गान्धी जी ने देश भर में भ्रमण किया और जगह-जगह अपने सिद्धान्तों को समझाया। उन्होंने सरकार से असहयोग करने, चरखा चलाकर खादी तैयार करने, कौन्सिल के चुनाव का विरोध करने, विदेशी वस्त्रों का बायकाट करने और अछूतोद्धार का प्रचार करने का मंत्र दिया और कहा कि यदि देश उनके बताये रास्ते पर चला तो एक वर्ष में स्वराज्य यानी रामराज्य की स्थापना हो जायगी। जनता ने व्यापक रूप से उनके रास्ते को अपनाया। छोटे शहरों और गाँवों तक में कांग्रेस कमेटियों का संगठन हुआ, स्कूल-कालेजों, कचहरियों और सरकारी नौकरियों का बहिष्कार हुआ, जगह जगह राष्ट्रीय विद्यालयों, आश्रमों और पंचायतों की स्थापना हुई; विदेशी कपड़ों की होली जलाई गयी और इस प्रकार देश के कोने कोने में राष्ट्रीयता की लहर फैल गयी। सरकार ने भी खूब दमन किया, जेलें भर गयीं। कांग्रेस ने तो कौन्सिलों के चुनाव का विरोध किया किन्तु लिबरल दल ने चुनाव में भाग लिया और कौन्सिलों में उसी का बहुमत रहा। यह ध्यान देने की बात है कि नये सुधार-कानून के अनुसार कौन्सिलों का चुनाव साम्प्रदायिक आधार पर हुआ था जिससे गान्धी जी के हिन्दू-मुसलिम-एकता के सिद्धान्त को बहुत गहरा धक्का लगा। १९२२ में गान्धी जी ने बारदोली में सत्याग्रह प्रारम्भ करने का निश्चय किया। किन्तु उसी समय चौरीचौरा में जनता ने थाने को जला दिया जिसमें

कई पुलिस वाले जल मरे। गान्धी जी ने इसी घटना को लेकर आन्दोलन स्थगित कर दिया और कहा कि हिंसा का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि देश अभी अहिंसात्मक संग्राम के लिए तैयार नहीं है। अन्य नेताओं ने इसका विरोध किया किन्तु गान्धी जी ने देश की मनोवैज्ञानिक स्थिति को पहचान लिया था। वे समझ गये थे कि यह आन्दोलन अब अधिक दिनों तक नहीं चल सकता। अतः उन्होंने रचनात्मक कार्य शुरू किया जो १९२९ तक चलता रहा। किन्तु इसी बीच सरकार ने उन्हें गिरफ्तार कर छः वर्ष के लिए जेल भेज दिया।

१९२१ में चेम्सफोर्ड की जगह लार्ड रीडिंग वाइसराय होकर आये थे। वे यूरोपीय उद्योगपतियों के बड़े पक्षपाती थे। अतः कांग्रेस के विदेशीवस्त्र-बहिष्कार-आन्दोलन से उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। पहले कहा जा चुका है कि इसी समय भारतीय पूँजीपतिवर्ग को प्रसन्न करने के लिए आयात पर चुंगी लगाई गयी और लोहा-इस्पात के उद्योग का संरक्षण किया गया। इसी कारण उदार दल के नेता, जो भारतीय उद्योगपतियों का प्रतिनिधित्व करते थे, कौंसिलों में जा कर सरकार के साथ सहयोग करने लगे। १९२३ में गया में चित्तरंजनदास के सभापतित्व में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ जिसमें चुनाव लड़कर कौंसिलों पर कब्जा करने का प्रस्ताव आया। मोतीलाल नेहरू, मालवीय जी, चित्तरंजनदास आदि नेता भी पूँजीपति वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले थे। अतः उन्होंने कौंसिल में जाने के लिए स्वराज्य पार्टी की स्थापना की। १९२३ के कौन्सिल के चुनाव में इसी पार्टी का दो प्रान्तों में बहुमत रहा। इन लोगों ने केन्द्रीय धारा-सभा के भीतर घुस कर सरकार का विरोध करना शुरू किया। इनके जबर्दस्त विरोध से सरकार दहल गयी। उनकी जीत और उदार दल की हार से यह भी स्पष्ट हो गया कि देश की जनता कांग्रेस के साथ है। १९२२ में इंगलैण्ड की सरकार के अनुदार (टोरी) दल के हाथ में आ जाने से अंगरेजों की भारत सम्बन्धी नीति बदली और उन्होंने घोर दमन और भारतीय हितों पर कुठारा-घात करने का रास्ता अपनाया। गान्धी जी की सजा और कांग्रेस के आन्दोलन का दमन उसीका परिणाम था। असहयोग आन्दोलन की असफलता से देश में जो निराशा फैली उसीके प्रभाव को रोकने के लिए ही स्वराज्य पार्टी का निर्माण हुआ और गान्धी जी का रचनात्मक कार्य शुरू किया गया। ब्रिटिश सरकार की बदली हुई नीति का सामना करने के लिए ये दोनों अस्त्र बहुत ही कारगर सिद्ध हुए। आर्थिक परिस्थिति का विश्लेषण करते समय बताया जा चुका है कि १९२४ के बाद ब्रिटिश सरकार के इशारे पर भारत सरकार ने भारतीय उद्योगों को संरक्षण देना कम कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि स्वराज्य पार्टी को भी

विवश होकर १९२५ में सरकार से असहयोग करना पड़ा। सरकार भी कौंसिलों को चलने देना नहीं चाहती थी क्योंकि धारा-सभा में जो भी प्रस्ताव पास होता था वाइसराय अपने विशेषाधिकारों से उसे रद्द कर अपने मन की करते थे। इसी समय टर्की में कमाल पाशा ने खलीफा को हटा दिया और अरब देशों को स्वतंत्र कर विशुद्ध टर्की राष्ट्र का निर्माण किया जिससे खिलाफत का आन्दोलन अपने आप समाप्त हो गया। फलस्वरूप कांग्रेस में जो साम्प्रदायिक प्रवृत्ति के मुसलमान थे वे मुसलिमलीग में शामिल हो गये और जगह-जगह उग्र साम्प्रदायिक दंगे होने लगे। कौन्सिलों के लिए साम्प्रदायिक आधार पर चुनाव होने के कारण साम्प्रदायिकता की भावना और भी बढ़ गयी थी। १९२२ में ही सरकार ने देशी राजाओं की रक्षा के लिए एक कानून पास किया जिसके अनुसार कोई भी व्यक्ति देशी राज्यों की आलोचना नहीं कर सकता था। इस प्रकार एक ओर तो भारतीय उद्योगों का संरक्षण कम किया गया और दूसरी ओर सम्प्रदायवादियों और सामंतों को प्रोत्साहित किया गया। यह नीति भारतीय राष्ट्रीयता की तीव्र लहर को रोकने के लिए अपनाई गयी थी। इस प्रकार ब्रिटिश टोरी दल, भारतीय नौकरशाही सरकार और भारतीय सामंतों के बीच गठबन्धन हुआ।* १९२३ में केनिया में गोरों ने भारतीय प्रवासियों को बराबरी का अधिकार देना अस्वीकार कर दिया। इस झगड़े का फैसला करने के लिए श्रीनिवास शास्त्री लन्दन गये; किन्तु ब्रिटिश सरकार ने गोरों का ही समर्थन किया। इस घटना ने स्पष्ट कर दिया कि ब्रिटिश सरकार का यह वादा, कि साम्राज्य के भीतर सभी राष्ट्र बराबर हैं, झूठा था। देश के सभी दलों पर इसकी प्रतिक्रिया हुई। उसी वर्ष नमक पर लगी चुंगी दूनी कर दी गई। धारा-सभा में इसका विरोध हुआ; किन्तु सरकार ने न केवल नमक कर बढ़ाया, बल्कि भारतीय कपड़े पर लगी हुई चुंगी भी दूनी कर दी। १९२४ में ही मजदूर दल के नेता मेकडानल्ड ब्रिटेन के

---

*"This was the ominous first occasion, on which Government by "certification" was resorted to; another significant illustration of the new and close alliance between English Tories, the Anglo-Indian Bureaucracy and the Indian Princes, all of whom were out to make the world safe for the "principatus dominativus."

[H. C. E. Zacharias—Renascent India. Page 220.]

प्रधान मंत्री बने जिससे भारतीयों की आशा एकबार फिर जाग उठी। और इसी समय गांधी जी बीमार होने के कारण जेल से रिहा कर दिये गये। स्वराज्य पार्टी ने धारा-सभाओं में भारत सरकार की जो कटु आलोचना की थी उससे ब्रिटिश सरकार चिन्तित हो गई थी। अतः उसने बंगाल में, जहाँ क्रान्तिकारी आन्दोलन जोर पकड़ रहा था, घोर दमन शुरू किया।

सन् १९२६ में लार्ड रीडिंग की जगह लार्ड इरविन वाइसराय होकर आये। इन्होंने उदार नीति अपनाई। उसी वर्ष धारा-सभा का तीसरा चुनाव हुआ जिसमें स्वराज्य पार्टी को अधिक सफलता नहीं मिली। कारण यह था कि मुसलमानों की तरह हिन्दुओं में भी साम्प्रदायिकता बढ़ गई थी और मालवीय जी, लाजपत राय आदि नेता स्वराज्यपार्टी से अलग हो गये थे। इधर गांधी जी अपनी सारी शक्ति रचनात्मक कार्यों में लगा रहे थे। १९२७ में भारतीय शासन-विधान में सुधार करने के लिए साइमन-कमीशन बैठाया गया जिसमें एक भी भारतीय नहीं रखा गया। देश भर में इसका घोर विरोध हुआ और कांग्रेस ने निश्चय किया कि साइमन-कमीशन के भारत आने पर उसका बहिष्कार किया जाय और हड़तालें हों। इस विरोध-प्रदर्शन के साथ ही १९२८ में एक सर्वदल-सम्मेलन भी हुआ जिसमें पं० मोतीलाल नेहरू, सप्रू आदि की एक कमेटी भारतीय शासन-विधान की रूप-रेखा तैयार करने के लिए बना दी गई। सर्वदल-सम्मेलन ने लखनऊ में 'नेहरू कमेटी' की रिपोर्ट स्वीकार कर ली। मुस्लिम लीग के अतिरिक्त अन्य सभी राजनीतिक दलों ने इसका समर्थन किया। इस समय देश में नवयुवकों का भी एक दल तैयार हो गया था जो कांग्रेस की नरम नीति से संतुष्ट नहीं था। श्रीनिवास अय्यंगर, सुभाषचन्द्रबोस, जवाहरलाल नेहरू आदि ने कांग्रेस के अन्दर ही 'यूथलीग' (नवयुवक दल) का आन्दोलन शुरू किया। इन लोगों ने नेहरू-रिपोर्ट का विरोध करते हुए भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज्य की जगह पूर्ण स्वराज्य की माँग की। १९२८ में कलकत्ते में पं० मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। दोनों विचार-धाराओं के मतभेद ने यहाँ उग्र रूप धारण किया, किन्तु महात्मा गांधी की मध्यस्थता से यह समझौता हुआ कि यदि एक वर्ष के भीतर ब्रिटिश सरकार नेहरूरिपोर्ट को स्वीकार नहीं कर लेती है तो कांग्रेस पूर्ण स्वराज्य की माँग करेगी। १९२९ में लाहौर में जवाहरलाल नेहरू के सभापतित्व में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ जिसमें पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव पास हो गया।

१९२७ से १९३० तक का समय भारतीय राजनीति में फिर एक नये परिवर्तन का समय है। यहाँ पहुँच कर कांग्रेस ने अन्तिम रूप से पूर्ण स्वराज्य

को अपना लक्ष्य स्वीकार कर लिया। इसके कई कारण थे। कांग्रेस के भीतर दो परस्पर विरोधी विचार-धारायें साम्राज्यवाद के विरुद्ध मिल कर काम करने लगीं। सरकार की भारतीय उद्योग-धंधों के विरोध की नीति के कारण पूँजी-पतिवर्ग अधिकाधिक साम्राज्य-विरोधी होता गया और दूसरी तरफ विश्वव्यापी मन्दी तथा मुद्रा के मूल्य-परिवर्तन के फलस्वरूप किसानों और मजदूरों में भी सरकार के विरुद्ध तीव्र असन्तोष की भावना उत्पन्न हो गई। कांग्रेस के पुराने नेता उच्चमध्यवर्ग (पूँजीपति वर्ग) का तथा नवयुवक नेता निम्नमध्यवर्ग और मजदूर वर्ग का प्रतिनिधित्व करनेवाले थे। गांधीजीने दोनों ही वर्गों और विचारधाराओं को साथ लेकर चलने की नीति अपनाई। राष्ट्रीयता के इस सयुक्त मोर्चे के विरुद्ध नौकरशाही, सामन्तवाद और सम्प्रदायवाद का संयुक्तमोर्चा भी काम कर रहा था। किन्तु देशकी आर्थिक स्थिति इतनी डाँवाडोल हो रही थी कि राष्ट्रीयता की तीव्र लहर को रोकना असम्भव था। ऐसी स्थिति में ब्रिटिश सरकारने समझौते का रास्ता अपनाया क्योंकि विश्वव्यापी मन्दी की हालत में वह भारतीय उपनिवेश को अपने हाथ से बाहर नहीं जाने देना चाहती थी। साइमन-कमीशन इसी का परिणाम था। किन्तु जब साइमन-कमीशन भारत में आया तो उसका जबर्दस्त विरोध हुआ, प्रदर्शन हुए और हड़तालें हुईं। भारत सरकारने दमन का रास्ता अपनाया, लाहौर में प्रदर्शनकारियों पर लाठी-चार्ज हुआ जिसके फलस्वरूप लाला लाजपतराय की मृत्यु हो गई। क्रान्तिकारियों ने षड्यन्त्र का काम और भी जोरों से शुरू किया और १९३० में असेम्बली में भगत सिंह ने बम फेंककर विरोध की आवाज सरकार के कानों तक पहुँचाई। इसी समय जगह-जगह किसान और मजदूर आन्दोलन भी शुरू हुए। १९२८ में देशभर में मजदूरों की हड़तालें हुईं। ट्रेडयूनियन कांग्रेस में कम्युनिस्टों का जोर बढ़ता गया। १९२८ में नागपुर में ट्रेडयूनियन कांग्रेस के अधिवेशन में, जिसके सभापति जवाहर लाल नेहरू थे, कम्युनिस्टों का बहुमत हो गया। इसके पहले ही देशभर के ३१ कम्युनिस्ट नेता गिरफ्तार किये गये जिनपर मेरठ में षड्यन्त्र का मुकदमा चलाया गया। उसी समय बारदोली में भूमिकर बढ़ाने के विरोध में सरदार पटेल के नेतृत्व में सत्याग्रह शुरू हुआ और अन्त में विवश होकर इरविन की सरकार को अपनी आज्ञा वापस लेनी पड़ी।

१९२९ में इग्लैंड में फिर मजदूर-दल की सरकार कायम हुई जिससे लार्ड इरविन को अपनी उदार नीति को कार्यरूप में परिणत करने का अवसर प्राप्त हुआ। उन्होंने घोषणा की कि साइमन-कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित होने के बाद लन्दन में एक गोलमेज-सम्मेलन होगा जिसमें

भारत और ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि भाग लेंगे। गान्धीजी तथा अन्य नेताओं ने इस घोषणा का स्वागत किया। किन्तु नवयुवक दल इस घोषणा से सन्तुष्ट नहीं था। लाहौर-कांग्रेस में पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव पास हो जाने के बाद कांग्रेस के लिये अगला कदम उठाना आवश्यक हो गया। गान्धीजी ने वाइसराय से मिलने के बाद घोषणा की कि ब्रिटेन की मजदूर सरकार इतनी कमजोर है कि वह अपना वादा नहीं पूरा कर सकती, अतः भारत में होने वाली क्रान्ति को अब अधिक नहीं रोका जा सकता है। उन्होंने कहा कि मैं अधिक से अधिक इतना ही कर सकता हूँ कि वह क्रान्ति हिंसात्मक न होकर अहिंसात्मक हो। इस प्रकार १९३० में सत्याग्रह आन्दोलन शुरू हुआ जिसमें प्रतीकात्मक रूप से नमक कानून तोड़ा गया, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार हुआ और कई जगह लगानबन्दी-आन्दोलन भी हुये। सरकार ने इस आन्दोलन को दबाने के लिये दमन शुरू किया, जेलें भरने लगीं, सालभर में करीब ६० हजार व्यक्ति जेल गये। पेशावर शोलापुर आदि स्थानों में निहत्थे लोगों पर गोलियाँ चलीं जिसमें सैकड़ों व्यक्ति मरे। अन्त में गान्धीजी गिरफ्तार कर नजरबन्द कर दिये गये। किन्तु सत्याग्रह आन्दोलन चलता रहा। सरकार ने अनेक काले कानून पास किये जिनके अनुसार समाचार-पत्रों पर रोक लग गई और तभी साइमन कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिसकी जगह-जगह होली जलाई गई। उधर सरकार ने गोलमेज-सम्मेलन का कार्य भी शुरू किया किन्तु पहले सम्मेलन में कांग्रेस का कोई प्रतिनिधि नहीं गया। वाइसराय ने गान्धीजी से उसमें सम्मिलित होने की अपील की। फलस्वरूप गान्धीजी छोड़ दिये गये और अन्त में उन्होंने सम्मेलन में जाना स्वीकार कर लिया। गान्धी-इरविन समझौता हुआ और सत्याग्रह स्थगित कर दिया गया। गान्धीजी कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि बनकर लन्दन गये और वहाँ सम्मेलन की असफलता को निश्चित जानकर केवल एक भाषण देकर चले आये। वहाँ से लौटने के बाद ही वे फिर जेल भेज दिये गये।

१९३१ में लार्ड इरविन की जगह लार्ड विलिंगडन वाइसराय होकर आये। इन्होंने और भी जोरदार दमन किया। कांग्रेस गैरकानूनी संस्था घोषितकर दी गई। भगत सिंह को फांसी की सजा हुई जिसके फलस्वरूप जगह जगह हड़तालें हुईं। इसप्रकार १९३०–३१ का आन्दोलन पिछले सभी आन्दोलनों से व्यापक था। इस आन्दोलन में शिक्षितवर्ग के अतिरिक्त ग्रामीणों ने भी भाग लिया और पूंजीपतियों ने भरपूर आर्थिक सहायता की। विदेशी वस्तुओंके बहिष्कार का प्रभाव विदेशी व्यापार ही नहीं, विदेशी बैंकों और बीमा-कम्पनियों पर भी पड़ा। इतना होने पर भी यह आन्दोलन सरकारी दमन के सामने टिक नहीं

सका। १९३२ में आन्दोलन की शक्ति बहुत क्षीण हो गई। धीरे-धीरे कांग्रेस के नेता छोड़ दिये गये। १९३३ में तीसरा गोलमेज-सम्मेलन हुआ किन्तु उसमें कांग्रेस का कोई भी प्रतिनिधि नहीं सम्मिलित हुआ। अन्त में १९३५ में ब्रिटिश पार्लियामेन्ट ने भारतके शासनविधानके सम्बन्ध में गोलमेज-सम्मेलन के निर्णयों के आधार पर एक कानून पास किया। इस कानून के अनुसार १९३७ में आम चुनाव हुआ जिसमें अधिकांश प्रान्तों में कांग्रेस का बहुमत रहा। कांग्रेस ने प्रान्तों में अपनी सरकार बनाने का निश्चिय किया और इस तरह कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों का निर्माण हुआ। किन्तु भारत सरकार उनके रोजमर्रा के कामों में अड़ंगे डालती रही। अतः १९३९ में कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों ने इस्तीफा दे दिया और इन सभी प्रान्तों मे गवर्नरी शासन कायम हो गया। स्वशासन के लिये युद्ध करने वाली संस्था कांग्रेस को इस प्रकार शासन करने का पहला अवसर प्राप्त हुआ और तभी यूरोप में दूसरा महायुद्ध शुरू हो गया।

१९१८ से १९३९ तक की राजनीतिक परिस्थितियों के इस अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन २०-२१ वर्षों में राष्ट्रीय आन्दोलन बार-बार असफल हुआ फिर भी वह उत्तरोत्तर उग्रतर होता गया। असफलताओं के कारण कुछ दिनों के लिये तो निराशा व्याप्त हो जाती किन्तु बाद में फिर देश में नया उत्साह और नयी शक्ति दिखलाई पड़ने लगती थी। इस काल को हम दो युगों में बाँट सकते हैं। पहले युग (१९१८-१९२८) में राष्ट्रीय पूँजीवाद ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़नेवाली शक्तियों के साथ पूर्णरूप से सहयोग किया क्योंकि उस समय तक उसका अन्तर्विरोध सामने नहीं आया था। किन्तु दूसरे युग (१९२८-१९३८) में पूँजीवाद यद्यपि थोड़ा बहुत राष्ट्रीय शक्तियों की मदद करता रहा पर ट्रेडयूनियन कांग्रेस, यूथलीग, कम्युनिस्ट आन्दोलन आदि पूँजीवाद विरोधी शक्तियों के जोर पकड़ लेने के कारण वह शिथिल और तटस्थ सा हो गया। यही कारण था कि पूँजीवाद से प्रभावित संस्था—कांग्रेस ने १९३७ में पदग्रहण किया, किन्तु इससे मजदूर और किसान आन्दोलनों में कमी होने की जगह और भी वृद्धि हुई। गान्धीजी का खादी, अछूतोद्धार आदि का रचनात्मक कार्यक्रम भी उसी पूँजीवादी तटस्थता का द्योतक है जो असफलता-जनित निराशा से उत्पन्न हुई थी। पहले युग में राजनीति में आध्यात्मिकता और भावुकता का रंग अधिक था किन्तु दूसरे युग में बौद्धिकता और व्यक्तिवाद की प्रवृत्तियाँ अधिक दिखलाई पड़ीं। पहले युग में औद्योगिक क्रान्ति के लक्षण अधिक दिखलाई पड़े और दूसरे युग में किसान और मजदूर क्रान्ति के। किन्तु दूसरे युग में पूँजीवाद की ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियाँ भी अपने प्रारम्भिक रूप में

सामने आईं। यद्यपि इस देश में उद्योग-धन्धों का पूर्ण विकास न होने से पूँजी-वाद अपने चरम विन्दु पर नहीं पहुँचा था और आजतक भी नहीं पहुँचा है किन्तु समाजवादी क्रान्ति के लिये पूँजीवाद का पूर्ण विकास एक अनिवार्य शर्त है भी नहीं। इसीसे १९२८ के बाद से ही हमारे देश में पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलन जोर पकड़ने लगा था। कांग्रेस ने केवल जमींदारी के ही विरोध में नहीं बल्कि मजदूरों के पक्ष में भी प्रस्ताव पास किया। करांची-कांग्रेस में यह प्रस्ताव पास हुआ कि स्वतंत्र भारत में किसी भी सरकारी कर्मचारी का वेतन पाँच सौ रुपये से अधिक नहीं होगा। १९३४ में 'कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी' की स्थापना हुई जिसमें कम्युनिस्ट भी शामिल थे। धीरे-धीरे कांग्रेस में वामपंथी कम्युनिस्टों, सोशलिस्टों आदि का जोर बढ़ता गया। इससे यह स्पष्ट है कि १९२८ के बाद देश की आर्थिक परिस्थितियों ने राजनीति पर दोहरा प्रभाव डाला। एक ओर तो समझौता, तटस्थता और निराशा की प्रवृत्ति काम करती रही और दूसरी ओर समाजवादी क्रान्ति की विचार-धारा भी फैलती रही। किन्तु अभी सबका समान शत्रु साम्राज्यवाद देश की छाती पर सवार था। बिना उसका बन्धन काटे न तो पूँजीवाद का विकास हो सकता था और न समाजवादी क्रान्ति ही हो सकती थी। इसलिये साम्राज्यवाद से लड़ने के लिये ये दोनों ही शक्तियाँ १९३९ तक साथ मिलकर काम करती रहीं।

सांस्कृतिक क्षेत्र में भी यह बीस वर्ष का समय कम महत्व पूर्ण नहीं है। पहले ही कहा जा चुका है कि यह युग सच्चे अर्थ में पुनरुत्थानवादी था। आर्यसमाज की पुनरावर्तनवादी प्रवृत्ति इसकाल में दब सी गई। उसकी जगह गांधी जी ने नवीन मानवतावादी आदर्श की स्थापना की जिसमें भारतीय और पाश्चात्य संस्कृतियों का सार तत्व ग्रहण किया गया था। गांधी जी के इस मानवतावाद ने राजनीतिक समानता, अछूतोद्धार, हिन्दू-मुस्लिम-एकता, धार्मिक-समन्वय, अहिंसा, सत्याग्रह आदि का रूप धारण किया और दूसरी ओर रवीन्द्रनाथ में यही मानवतावाद विश्व-संस्कृति, आध्यात्मिकता, अन्तर्राष्ट्रीयता प्राचीन और नवीन शिक्षा-पद्धति के समन्वय आदि के रूप में दिखलाई पड़ा। इन दो व्यक्तियों का इस युग में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यापक प्रभाव पड़ा। गांधी जी ने स्वराज्य के लिये अछूतोद्धार को एक आवश्यक शर्त माना। १९३२ में उन्होंने नये विधान में अछूतों को हिन्दुओं से अलग मतदान के प्रस्ताव के विरोध में आमरण अनशन प्रारम्भ किया जिसके फलस्वरूप पूना का समझौता हुआ। इस प्रकार उन्होंने हिन्दू समाज को खण्डित होने से बचा लिया। उन्होंने हरिजन आन्दोलन द्वारा हरिजनों को हिन्दू समाज में उचित स्थान दिलाने की कोशीश

की, मन्दिरों में हरिजनों के प्रवेश का समर्थन किया और १९३४ में इसी सम्बन्ध में सारे देश का भ्रमण भी किया। समाज के सामने उन्होंने सन्त के जीवन का आदर्श रखा; जैनी होते हुए भी अपने को वैष्णव स्वीकार किया। किन्तु इसामसीह का प्रभाव भी उनके ऊपर कम नहीं था। टालस्टाय तथा रस्किन उनके मानस-गुरू थे। इस प्रकार वे सीधे कबीर की सन्तपरम्परा में दिखलाई पड़ते हैं। कबीर की तरह उन्होंने भी अपने सम्पूर्ण जीवन का हिन्दू-मुस्लिम-एकता के लिए उत्सर्ग कर दिया था। गांधी जी की तरह रवीन्द्रनाथ में भी कबीर की सन्त-परम्परा का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। ब्रह्म-समाजी होने के कारण उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति के समन्वय का सफल प्रयत्न किया। वस्तुतः गांधी जी और रवीन्द्रनाथ का व्यक्तित्व एक दूसरे का पूरक है। इन दोनों के व्यक्तित्वों से ही इस युग के मानस का निर्माण हुआ है। अतः महायुद्ध के बाद भारतीय साहित्य पर गांधीवाद और रवीन्द्र के मानवतावाद का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। अगले अध्याय में छायावाद का विश्लेषण करते समय इस सम्बन्ध में विशेष रूप से विचार किया जायगा।

विद्रोह-युग की कविता

पिछले अध्यायों में यह दिखाया जा चुका है कि किस तरह १८५७ के बाद हिन्दी कविता में एक महान परिवर्तन होने लगा था। प्रथम महायुद्ध के बाद परिवर्तन का एक दौर पूरा हो गया। हिन्दी कविता संक्रान्ति और पुनरुत्थान की मंजिलों को पार कर इस युग में विद्रोह के रास्ते पर आगे बढ़ी। यह विद्रोह देश की आर्थिक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न हुआ और राजनीति, समाज-नीति, धर्म, दर्शन, साहित्य-कला सबमें वह विविध रूप धारण करके सामने आया। यह भी कहा जा चुका है कि यह सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध उठते हुए पूँजीवाद का विद्रोह था। इस प्रकार इस युग की कविता पूर्णरूप से पूँजीवादी और राष्ट्रीयतावादी (धर्मनिरपेक्ष) हो गई। यहाँ पूँजीवाद और राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में भी विचार कर लेना आवश्यक है क्योंकि छायावादी कविता में इन्हीं प्रवृत्तियों की संश्लिष्ट अभिव्यक्ति हुई है।

पूँजीवाद का प्रभाव

पूँजीवाद ने मानव-सभ्यता के विकास में अत्यन्त क्रान्तिकारी काम किया है। जहाँ-जहाँ वह शक्तिशाली रहा है, उसने समाज के सभी सामन्ती सम्बन्धों को मिटा दिया है और मानव-समाजमें विशुद्ध आर्थिक स्वार्थ का सम्बन्ध स्थापित किया है। वह उत्पादन और वितरण के साधनों में क्रान्तिकारी परिवर्तन करता है। इस तरह उत्पादन की शक्तियों और सामाजिक सम्बन्धों में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है।* इसका परिणाम यह

---

* The bourgeoisie, historically, has played a most revolutionary part. The bourgeoisie, wherever if has got the upper hand, has put an end to all feudal patriarchal, idyllic relations. It has pitilessly torn asunder the motley feudal ties that bound man to his "natural superiors" and has left no other nexus between man and man than naked self-interest, that callous 'cash-payment'. (Marx and Engels—Communist Manifesto, Page—44.)

होता है कि ऊपर-ऊपर से वे सभी सामाजिक सम्बन्ध मिटते हुए से मालूम पड़ते हैं जो जोर-जबर्दस्ती और शोषण के लिये बने होते हैं। उनकी जगह वह सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार का सम्बन्ध स्थापित करता है। इस प्रकार पूँजीवादी समाज में मनुष्य स्वतंत्र हो जाता है। सामन्तवादी समाज में तो दास मालिक से और मालिक सामन्त से मजबूरन बँधा रहता है। किन्तु पूँजीवादी समाज में ये मजबूरी के सम्बन्ध टूट जाते हैं और प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र होकर स्वतंत्र बाजार में अपना माल बेचने और खरीदने का अधिकारी हो जाता है। वह अपने माल की तरह अपना परिश्रम भी बेचने के लिये स्वतंत्र होता है। इस तरह पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था व्यक्तिवादी अर्थ-व्यवस्था है किन्तु यथार्थतः वह एक ऐसी घृणित अर्थ-व्यवस्था है जिसमें बहुजन-समाज के लिये उस स्वतंत्रता की कोई कीमत नहीं रह जाती। पूँजीवाद शोषण के सामन्ती तरीके को हटाकर नये तरीके स्थापित करता है। इस तरह उसके स्वतंत्रता के नारे का खोखलापन स्पष्ट हो जाता है। इस व्यवस्था में उत्पादन के साधनों पर व्यक्ति का अधिकार हो जाता है जो राज्य के कानूनों द्वारा संरक्षित होता है। पूँजीवाद की दृष्टि से तो इस आर्थिक व्यस्वथा में व्यक्ति स्वतंत्र होता है किन्तु सामान्य जनता की दृष्टि से स्वतंत्र बाजार और उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार ही वे तरीके हैं जिनसे पूँजीवादी वर्ग शेष समाज का शोषण करता है। यही पूँजीवाद का अन्तर्विरोध है और पूँजीवादी संस्कृति को समझने के लिये इसे समझना आवश्यक है।

पूँजीवाद व्यक्तिवाद के सिद्धान्त के द्वारा अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करता है, पर अन्य वर्गों के लिये यह स्वतंत्रता परतंत्रता से भी बढ़कर होती है। पूँजीवादी एक व्यक्तिवादी वीर की तरह होता है जो 'जन्मजात स्वतंत्र होते हुए भी सब जगह बेड़ियों में जकड़े हुये मनुष्य' के बन्धनों को काटने का दम्भ करता है। इस स्वतंत्र बाजार की होड़ तथा व्यक्तिवाद का परिणाम यह होता है कि उत्पादन के साधनों में निरन्तर क्रान्तिकारी परिवर्तन होता रहता हैं।* इसके

---

*The bourgeois cannot exist wthout constantly revolutionizing the instruments of production, and thereby the relations of production, and with them the whole relations of society. Conservation of the old modes of production in unaltered form was, on the contrary, the first condition of existence for all

बिना पूँजीवादी स्वतंत्र बाजार की होड़ में नहीं टिक सकता। इस तरह नये यन्त्रों के आविष्कार होते हैं, सस्ता माल तैयार होता है, गृह उद्योग-धन्धे नष्ट हो जाते हैं। धीरे-धीरे पूँजीवादी व्यवस्था में मध्यमवर्ग के लोग या तो मजदूरी या नौकरी करने के लिये विवश होते हैं। फलस्वरूप समाज में एक तरह की अव्यवस्था उत्पन्न होती है और सारा समाज थोड़े से पूँजीपतियों के चंगुल में फँस जाता है, बाजार में मन्दी आती है, लड़ाइयाँ होती हैं, उद्योगों पर एकाधिकार कायम होता है, उपनिवेश कायम किये जाते हैं, साम्राज्यवाद और फासिस्टवाद का जन्म होता है और मनुष्य सामन्तवाद से भी अधिक भयावनी गुलामी में फँस जाता है।

पूँजीवादी साहित्य पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के अनुरूप ही व्यक्तिवादी होता है। इस युग का कवि व्यक्तिवादी के रूप में उस स्वतंत्रता को प्राप्त करने का प्रयत्न करना हुआ दिखलाई पड़ता है जो सामन्ती समाज व्यवस्था में उसे नहीं प्राप्त थी। वह हृदय के आवेग और संवेदना-शक्ति द्वारा अपने 'स्व' का बाह्य वस्तुओं पर आरोप करता है। वह स्वप्न-द्रष्टा होता है जो अपने स्वप्नों और दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति करता है। उसका भ्रम ही एक ओर सामान्ती बन्धनों से उसे मुक्त करने का कारण बनता है और दूसरी ओर काव्य के रूपविधान में भी निरन्तर परिवर्तन करता चलता है। पुराने सामाजिक बन्धनों को तोड़ कर पूँजीवादी कवि व्यक्ति-स्वातंत्र्य का जो स्वप्न देखता है, वही उसके लिये नया बन्धन बन जात है। उसकी ऐकांतिकता स्वयं उसके लिये असह्य और घातक बन जाती है। वह असामाजिक होता जाता है और सारा जगत उसे बन्धन स्वरूप मालूम होने लगता है।

पूँजीवादी स्वतंत्रता का भ्रम

---

earlier industrial classes. Constant revolutionizing of production, uninterrupted disturbance of all social conditions, everlasting uncertainty and agitation distinguish the bourgeois epoch from all carlier ones. All fixed, fast-frozen relations, with their train of ancient and venerable prejudices and opinions, are swept away, all new-formed ones become antiquated before they can ossify. [Karl Marx–Engels—Communist Menifesto—page—45.]

उसकी यह असामाजिकता उसे समाज में नगण्य, अरक्षित और खोखला बना देती है। पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था की भाँति पूंजीवादी कविता का अन्तर्विरोध ही उसके जल्दी-जल्दी परिवर्तन का कारण होता है। जब तक वह पुरानी सामन्ती संस्कृति के बन्धनों को तोड़ने का कार्य करती है, तबतक शक्तिशाली और प्रगतिशील रहती है। किन्तु जब वह नये पूंजीवादी बन्धनों का कारण बनती और उन्हें स्थिर रखने में सहायता करती है तो उसका रूप प्रतिक्रियावादी और ह्रासशील हो जाता है। अपने अन्तर्विरोधों के कारण ही ऐसी परिस्थिति में कविता नये क्रान्तिकारी वर्ग सर्वहारा वर्ग) का साथ देने के लिए विवश हो जाती है।

स्वच्छन्दतावादी कविता में पूंजीवाद के उपर्युक्त भ्रम की ही अभिव्यक्ति होती है। इस भ्रम में वह कल्पना भी छिपी रहती है जो आगे आने वाले यथार्थ की रूपरेखा प्रस्तुत करती है। यद्यपि पूँजीवादी कविता बहुत ही संश्लिष्ट और अनेक-रूपात्मक होती है फिर भी उसमें वह कल्पना बराबर दिखाई पड़ती है जो व्यक्ति की स्वतंत्रता का मानस-चित्र उपस्थित करती है। यह स्वतंत्रता सामाजिक आवश्यकता की चेतना के लिये नहीं, बल्कि उसे भुला देने के लिये होती है। पूँजीवादी कवि व्यक्ति के सहजज्ञान को स्वतंत्र मानता है और समाज उस सहजज्ञान पर प्रतिबन्ध लगाता रहता है। इसलिये स्वच्छन्दतावादी कविता भी सहज ज्ञान की स्वतंत्रता में विश्वास करने के कारण सामन्ती सामाजिक नियंत्रण के ही नहीं, पूँजीवादी परिस्थितियों के विरुद्ध भी उसी तरह विद्रोह प्रकट करती रहती है जिस तरह पूँजीवादी स्वयं अपने आधार में क्रान्तिकारी परिवर्तन करता रहता है। स्वच्छन्दतावादी कवि यह विश्वास करता है कि सामाजिक आवश्यकताओं की अस्वीकृति ही वह स्वतंत्रता है जो आन्तरिक सहजोच्छ्वास द्वारा उसके अहं को पूर्णता प्रदान करती है। इस तरह पूँजीवाद का कवि समाज के प्रति अपना कोई उत्तरदायित्व नहीं स्वीकार करता क्योंकि वह अपने को समाज से स्वतंत्र और अपनी आत्मा के प्रति उत्तरदायी मानता है। किन्तु यह भ्रम मात्र होता है। सामन्ती सामाजिक सम्बन्धों से मुक्ति पा लेने के बाद उसे और भी अधिक उलझे हुए सम्बन्धों का सामना करना पड़ता है। इन सम्बन्धों में वह और भी जकड़ जाता है, यद्यपि वह इनकी उपेक्षा करता और उनका कारण नहीं समझ पाता है। इस मानसिक स्थिति में उसका व्यक्तित्व अन्तर्मुखी हो जाता है। समाज तथा बाह्य जगत से असन्तुष्ट हो कर वह या तो विद्रोही हो जाता है या अपने को समाज से अलग मानकर काल्पनिक स्वप्नलोक का निर्माण करता है। किन्तु प्रत्यक्षतः

इन असामाजिक भावनाओं को व्यक्त करता हुआ भी अप्रत्यक्ष रूप से वह पूँजीवादी सामाजिक सम्बन्धों की ही अभिव्यक्ति करता है। उसका अहं अकेला उसीका नहीं बल्कि समूचे पूँजीवादीवर्ग के व्यक्तियों का अहं होता है। अतः भ्रम पर आधारित होते हुए भी पूँजीवादी कविता असत्य नहीं होती। प्रारम्भिक समाजवाद की अवस्था में फसलों को बोने या काटने के पहले सामूहिक उत्सव में कला का आयोजन होता था, ताकि अच्छी फसलें हों। इन उत्सवों के परिमाण स्वरूप नहीं, बल्कि व्यक्तियों के परिश्रम के फलस्वरूप फसलें अच्छी होती थीं। किन्तु लोगों का यह विश्वास अथवा भ्रम रहता था कि उनके उत्सव के फलस्वरूप ही फसलें अच्छी हुईं। उनके उक्त भ्रमपूर्ण विश्वास में भी सत्य इसी अर्थ में था कि जिस परिणाम की वे आशा करते थे उसकी प्राप्ति के लिये वे उत्सव उन्हें मानसिक बल प्रदान करते थे। इसी तरह पूँजीवादी युग में भी कविता जिस भ्रमपूर्ण स्वप्नलोक का निर्माण करती है उसमें भी सत्य की अप्रत्यक्ष अभिव्यक्ति रहती है; वह इस अर्थ में कि पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों द्वारा उस स्वतन्त्रता की प्राप्ति हो जाती है जिसकी कल्पना पूँजीवादी कवि करता है। अर्थात् व्यक्ति-स्वातंत्र्य, स्वतंत्र बाजार तथा यान्त्रिक उत्पादन द्वारा उस स्वप्न का प्रतिफलन होता है, यद्यपि पूँजीवादी का अन्तर्विरोध भी उस स्वप्न में निराशावाद, नियतिवाद, प्रतीकवाद आदि के रूप में कविता मे दिखलाई पड़ता है।

पूँजीवाद और राष्ट्रीयता

राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में पिछले अध्याय में पर्याप्त विचार किया जा चुका है। यहाँ इतना ही कह देना आवश्यक है कि राष्ट्रीयता कोई शाश्वत भावना नहीं है। यह एक परिवर्तनशील दृष्टिकोण है जो समाज के विकास की विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न रूप ग्रहण करता है। पूँजीवादी युग में स्वतंत्रबाजार की नीति के कारण विभिन्न पूँजीवादी देशों के बीच बाजार प्राप्त करने की होड़ होती है, आर्थिक संगठन के नये-नये तरीके निकाले जाते हैं, उपनिवेशों की स्थापना होती है और साम्राज्य कायम होते हैं। अतः पूँजीवादी देशों में पारस्परिक होड़ के कारण पूँजीवादी राष्ट्रीयता का विकास होता है और दूसरी ओर औपनिवेशिक देशों में साम्राज्यवादी-पूँजीवादी शोषण के प्रतिक्रियास्वरूप राजनीतिक जागर्ति होती है। पिछले अध्यायों में यह कहा जा चुका है कि हिन्दुस्तान में अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने अपनी शोषण-नीति में समय-समय पर इसलिये परिवर्तन किये कि उसकी शोषण-क्रिया अनन्तकाल तक चलती रहे। यह भी कहा जा चुका है कि औद्योगिक विकास के साथ ही साथ उसके शोषण की भयंकरता भी बढ़ती गई, किन्तु उसके साथ राष्ट्रीय चेतना

भी तीव्रतर होती गयी। उस राष्ट्रीयता में अनेक तरह के स्वार्थ जुड़े हुए थे। १८५७ के विद्रोह के समय जो राष्ट्रीयता दिखाई पड़ी उसमें सामन्ती चेतना अधिक थी, मध्यवर्गीय चेतना कम। उसके बाद सन् १९०० ई० तक जो राष्ट्रीय चेतना दिखलाई पड़ी उसमें विकासशील पूँजीवादी मध्यवर्ग का हाथ अधिक था, किन्तु सामन्तवर्गीय चेतना भी उस के साथ-साथ चलती रही। १९०० से १९१८ तक की भारतीय राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत और विकसित करने में सभी वर्गों का सम्मिलित सहयोग था। उठते हुए पूँजीवादी वर्ग ने इस युग में राष्ट्रीयता की शक्तियों का खुलकर साथ दिया। इस युग में अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने राष्ट्रीयता की शक्ति को तोड़ने के लिये साम-दाम-दण्ड-भेद, सभी नीतियों का अवलम्बन किया। प्रथम महायुद्ध के बाद भारतीय पूँजीवाद का विकास अपेक्षाकृत तेजी से होने लगा और ब्रिटिश शोषण-नीति में भी ऐसा परिवर्तन हुआ जो ऊपर ऊपर से तो राष्ट्रीय शक्तियों को सन्तुष्ट करने वाला प्रतीत होता था, किन्तु परोक्ष-रूप से शोषण की गति को और भी तीव्र बनाने वाला था। अतः इस युग में निम्नमध्यवर्ग ने राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व अपने हाथ में ले लिया। महात्मा-गांधी इस वर्ग के प्रतिनिधि थे। उन्होंने राष्ट्रीयता को नई दिशा दी और गोखले की समझौतावादी नीति तथा तिलक की उग्रवादी नीति दोनों का समय-समय पर अवलम्बन किया। यद्यपि ब्रिटिश साम्राज्यवाद की महानशक्ति के सामने ये राष्ट्रीय शक्तियाँ अधिक शक्तिशाली नहीं थीं, फिर भी जब देश के कोने कोने में राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत हो गई तो उसे बहुत दिनों तक दबा कर नहीं रखा जा सकता था। विभिन्न राजनीतिक दलों, पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों द्वारा राष्ट्रीय चेतना निरन्तर बढ़ाई जाती रही जो दूसरे महायुद्ध के बीच में १९४२ की उग्र क्रान्ति के रूप में प्रकट हुई।

इस पर्यवेक्षण से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारत की राष्ट्रीय चेतना के मूल में भी औद्योगिक विकास के लिये पूँजीवादी प्रवृत्ति ही काम कर रही थी। भारत का राष्ट्रीय जागरण भारतीय पूँजीवाद के विकास की राजनीतिक अभिव्यक्ति है। इसलिये जब हम आधुनिक हिन्दी कविता पर विचार करते हैं तो उसमें राष्ट्रीय और पूँजीवादी मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति शुरू से अन्त तक पाते हैं। संक्रान्ति-युग में ये दोनों मनोवृत्तियाँ मिली-जुली थीं। किन्तु पुनरुत्थान-युग में पूँजीवाद ने सामन्तवाद और साम्राज्यवाद से समझौता किया जिसके फलस्वरूप हिन्दी कविता में पुनरावर्तन की प्रवृत्ति अधिक और राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति कम हो गई; साथ ही स्थूल नैतिकता, मर्यादा और बौद्धिकता का बन्धन भी स्वीकार किया गया। युद्धकाल में सभी वर्गों ने बड़ी-बड़ी आशायें लेकर ब्रिटिश

साम्राज्यवाद का साथ दिया, किन्तु उनकी आशाएँ पूरी नहीं हुईं। अतः औद्योगिक विकास में बाधा डालने और राष्ट्रीय शक्तियों का दमन करने की ब्रिटिश नीति ने पूँजीवादी वर्ग को साम्राज्यवाद-सामन्तवाद से अलग होकर राष्ट्रीय शक्तियों का साथ देने के लिए विवश किया। अंग्रेजों के स्वार्थ के कारण ही सही, प्रथम महायुद्ध और उसके कुछ वर्षों बाद तक भारतीय पूँजीवाद कुछ शक्तिशाली हुआ। उसने यह अनुभव किया कि साम्राज्यवादी जुए को हटाये बिना उसका समुचित विकास नहीं हो सकता है और न भारत तथा विदेशों के बाजार पर ही उसका अधिकार हो सकता है। इस तरह १९२१ के बाद एक तरफ तो ब्रिटिश सरकार, भारतीय नौकरशाही और सामन्तवाद में राष्ट्रीय शक्तियों को कुचलने के लिए साँठ-गाँठ हो रही थी और दूसरी तरफ साम्राज्य-वाद और सामन्तवाद के बन्धनों से मुक्ति पाने के लिए पूँजीपति-वर्ग, किसान-मजदूर-वर्ग और नौकरीपेशा मध्यवर्ग के बीच भी सहयोग बढ़ रहा था। इसका प्रभाव हिन्दी कविता पर भी पड़ा। वह पूँजीवादी भावनाओं को अभिव्यक्त करने वाली और सामंती बन्धनों से मनुष्य के व्यक्तित्व को मुक्ति दिलाने वाली हो गयी।

रोमाण्टिसिज्म और छायावाद

किन्तु वह उस अर्थ में सामन्तवाद के विरुद्ध क्रान्ति करने वाली पूँजीवादी कविता नहीं थी जैसी यूरोप में अठारहवीं शताब्दी के अन्त और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ की रोमाण्टिक कविता थी। इसके कई कारण थे। रोमाण्टिक कविता का विद्रोह केवल सामन्तवाद और उसके समर्थकों के विरुद्ध था; किन्तु छायावाद का विद्रोह सामन्तवाद के साथ ही साम्राज्यवाद के विरुद्ध भी था। इससे उसका विरोध न तो सामन्तवाद पर ही पूर्णरूप से केन्द्रित हो सका और न साम्राज्यवाद पर ही। अतः उसमें रोमाण्टिक कविता जैसी शक्ति, वेग और तीव्रता न थी। दूसरी बात यह थी कि यूरोप में रोमाण्टिक कविता के समय तक पूँजीवाद का जितना विकास हो चुका था उतना भारतीय पूँजीवाद का द्वितीय महायुद्ध के बाद तक भी नहीं हुआ था। यूरोपीय पूँजीवाद को दुनिया का सारा बाजार प्राप्त था, किन्तु भारतीय पूँजीवाद को दूसरे देशों के कौन कहे, अपने देश के बाजार पर भी सीमित अधिकार ही प्राप्त थे। देशी रजवाड़े और अंगरेज शासक उसके सिर पर भूत की तरह सवार थे। इससे उसे खुलकर विद्रोह करने का साहस नहीं हुआ। वह मध्यमवर्ग के पढ़े-लिखे लोगों की कभी छिपकर और कभी खुलकर आर्थिक सहायता करता रहा। पूँजीपति-वर्ग ने राष्ट्रीय आन्दोलनों या कौन्सिलों के चुनावों में अन्य वर्गों का नेतृत्व नहीं किया, वह

केवल उनका साथ देता रहा। इसी कारण छायावादी कविता उस अर्थ में क्रान्तिकारी कविता नहीं थी जिस अर्थ में रोमाण्टिक कविता थी, क्योंकि वह जिस वर्ग की भावनायें अभिव्यक्त करती थी वह स्वयं सच्चे अर्थ में क्रान्तिकारी नहीं था।

छायावाद-युग में अनेक काव्य-प्रवृत्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं जिनमें छायावाद, रहस्यवाद, स्वच्छन्दतावाद, व्यक्तिवाद (अहंवाद , राष्ट्रीयतावाद, मानवतावाद और प्रगतिवाद प्रधान हैं। इस युग में रोमाण्टिक कविता की स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति के साथ अन्य कई प्रवृत्तियों के मिल जाने का कारण यह है कि यूरोपीय साहित्य का भारतीय साहित्य पर सीधा प्रभाव पड़ा था और उधर यूरोपीय साहित्य इस समय तक रोमाण्टिसिज़्म (स्वच्छन्दतावाद की मंजिल को पीछे छोड़ कर और भी कई मंजिलें पार कर चुका था। इंगलैण्ड में रोमाण्टिक विद्रोह का काल १७५० से लेकर १८२५ तक था। उसके बाद १९३० तक ह्रासोन्मुख स्वच्छन्दतावाद, प्रतीकवाद, भविष्यत्वाद, यथार्थवाद, अतियथार्थवाद आदि रहस्यवादी और घोर व्यक्तिवादी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न, विकसित और मृत हो चुकी थीं। युद्धोत्तर काल में हिन्दी के कवियों ने यूरोपीय साहित्य का अध्ययन किया और केवल रोमाण्टिक काल के वर्ड्सवर्थ, कालरिज, कीट्स, बायरन आदि से ही नहीं, बाद के अंग्रेजी कवियों, जैसे स्विनबर्न, ब्राउनिंग, आरनोल्ड, टामस हार्डी, वाल्ट ह्विटमैन, ईट्स, सरोजिनी नायडू आदि से भी प्रभाव ग्रहण किया। पर इनसे भी अधिक और सीधा प्रभाव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता का पड़ा।* ब्रह्म-समाजी होने के कारण विश्वकवि पर पाश्चात्य दर्शन और साहित्य का उतना ही प्रभाव था जितना भारतीय पुरातन साहित्य और संस्कृति का। उपनिषदों के ब्रह्मवाद, कबीर के योग और ज्ञानमार्ग और सूफियों के प्रेममार्ग का उन्होंने

*'पल्लव काल में मैं उन्नीसवीं सदी के अंगरेजी कवियों—मुख्यतः शेली, वर्ड्सवर्थ, कीट्स और टेनीसन से विशेष रूप से प्रभावित रहा हूँ, क्योंकि इन कवियों ने मुझे मशीन-युग का सौन्दर्य-बोध और मध्यवर्गीय संस्कृति का जीवन-स्वप्न दिया है। रवि बाबू ने भी भारत की आत्मा को पश्चिम की मशीन युग की सौन्दर्य-कल्पना में ही परिधानित किया है। पूर्व और पश्चिम का मेल उनके युग का 'स्लोगन' भी रहा है। इस प्रकार मैं कवीन्द्र की प्रतिभा के गहरे प्रभाव को भी कृतज्ञता पूर्वक स्वीकार करता हूँ और यदि लिखना एक Unconcious-concious process है तो मेरे उपचेतन ने यत्र-तत्र इन कवियों की निधियों का उपयोग भी किया है और उसे अपने विकास का अंग बनाने की चेष्टा की है।' [सुमित्रानन्दन पन्त—आधुनिक कवि की भूमिका, पृष्ठ १३]

पाश्चात्य रहस्यवादियों–ब्लेक, वर्ड्सवर्थ आदि-के जीवन-दर्शन से सम्मिलन कराया था। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ ऐसी थीं जिनसे रहस्य-वादी प्रवृत्तियों को प्रश्रय मिला। ऐसे ही समय (१९१३) में रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजलि को विश्व-सम्मान मिला। बंगला में इस नई कविता का नाम छायावाद पड़ा था। अतः हिन्दी में यही नाम ग्रहण किया गया; साथ ही वे सभी प्रवृत्तियाँ भी हिन्दी कविता में आ गयीं जो बंगला के छायावाद की थीं। दर्शन, अध्यात्म और भक्ति की तरफ झुकाव होने पर उनके मूल स्रोतों की ओर कवियों का ध्यान जाना स्वाभाविक था। स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ ने भी कवियों को उस तरफ आकर्षित ही नहीं किया, विदेशों में वेदान्त का प्रचार कर और विदेशियों को अपना शिष्य बना कर उन्हें आश्चर्य में भी डाल दिया था। अतः इस युग के सभी प्रमुख कवियों ने प्राचीन भारतीय दर्शन का अध्ययन-मनन किया और भक्तिकालीन कवियों—कबीर-मीरा-जायस–से भी प्रभाव ग्रहण किया। * गान्धी जी ने भी भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों का समन्वय करके उन्हें जीवन में व्यवहृत करने का प्रयत्न किया। अतः उनके दर्शन का भी कवियों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। इसी समय (१९१७) रूस में राज्यक्रान्ति हुई और समाजवादी राज्य की स्थापना हुई। इससे संसार भर के लोगों का ध्यान मार्क्सवाद की ओर आकृष्ट हुआ। टालस्टाय और

*१. "वीणा और पल्लव विशेषतः मेरे प्राकृतिक साहचर्य-काल की रचनायें हैं। तब प्रकृति की महत्ता पर मुझे पूर्ण विश्वास था और उसके व्यापारों में मुझे पूर्णता का आभास मिलता था। वह मेरी सौन्दर्य-लिप्सा की पूर्ति करती थी जिसके सिवा उस समय मुझे कोई वस्तु प्रिय नहीं थी। स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ के अध्ययन से प्रकृति-प्रेम के साथ ही मेरे प्राकृतिक दर्शन के ज्ञान और विश्वास में भी अभिवृद्धि हुई।" [पन्त-आधुनिक कवि, पृष्ठ ३]

२. "जो रहस्यानुभूति हमारे ज्ञान-क्षेत्र में एक सिद्धान्त मात्र थी वही हृदय की कोमलतम भावनाओं में प्राण-प्रतिष्ठा पाकर तथा प्रेममार्गी सूफी सन्तों के प्रेम में अतिरंजित हो कर ऐसे कलात्मक रूप में अवतीर्ण हुई जिसने मनुष्य के हृदय और बुद्धिपक्ष दोनों को सन्तुष्ट कर दिया। एक ओर कबीर के हठयोग की साधनारूपी सम-विषम शिलाओं से बँधा हुआ और दूसरी ओर जायसी के विशद प्रेम-विरह की कोमलतम अनुभूतियों की बेला में उन्मुक्त यह रहस्य का समुद्र आधुनिक युग को क्या दे सका है, यह अभी कहना कठिन होगा।"
[महादेवी वर्मा—आधुनिक कवि—पृष्ठ १०]

रस्किन ने ईसाई धर्म की पवित्रता, त्याग और भक्ति के आदर्शों का जो उपदेश किया था, गान्धी जी के माध्यम से उनका प्रभाव भी कवियों पर पड़ा। इस प्रकार रहस्यवाद और मानवतावाद की विचार-धारा हिन्दी कविता में भी तीव्र गति से फैल गयी। इन दार्शनिक सिद्धान्तों और उनके मूल आदर्शों के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना अगले अध्याय में की जायगी।

जीवन और काव्य को उक्त परिस्थितियों और दार्शनिक विचारधाराओं ने विविध रूप में प्रभावित किया। पूँजीवाद विकासशील था, अतः उसकी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति पर ही पहले विचार किया जायगा।

परिस्थिति और छायावाद

पहले ही कहा जा चुका है कि पूँजीवाद व्यक्तिवाद के सिद्धान्त के द्वारा अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करता है। भारत में भी पूँजीवाद के विकास के साथ व्यक्तिवाद का विकास हुआ और हिन्दी कविता में छायावाद के रूप में व्यक्तिवादी भावनायें ही अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुईं। चाहे वह पार्थिव प्रेम की कविता हो या आध्यात्मिक प्रेम की, चाहे राष्ट्रीय हो या मानवतावादी, सभी में कवि अकेला एक योद्धा के रूप में समाज के बन्धनों से मुक्ति पाने के लिए जूझता हुआ दिखलाई पड़ता है। संक्रान्ति-युग में अभी इस व्यक्तिवादिता का अधिक विकास नहीं हुआ था, अतः उस काल की कविता में सामाजिकता की भावना अधिक थी। पुरुत्थान-युग में भी बहुत कुछ यही बात थी। किन्तु विद्रोह-युग में पूँजीवाद के विकास, महायुद्ध के पश्चात् प्रभाव और मध्यवर्ग की राजनीतिक असफलता आदि कारणों ने मिल कर व्यक्तिवाद के विकास में बहुत सहायता की। पाश्चात्य साहित्य और प्राचीन भारतीय दर्शन के प्रभाव की बात ऊपर कही जा चुकी है। इन सब कारणों से इस युग के नवयुवक कवियों का उग्र रूप से विद्रोही हो जाना या वर्तमान समस्याओं और उलझनों से हट कर अध्यात्म, अतीत अथवा प्रकृति के एकान्त भावना-क्षेत्र में पलायन करना स्वाभाविक था। विद्रोह दो रूपों में व्यक्त हुआ—सीधी और स्पष्ट राष्ट्रीय कविताओं के रूप में और प्राचीन रूढ़ियों, विचारों, आदर्शों और काव्य-नियमों के बन्धन तोड़कर स्वतंत्र और मुक्त-काव्य-प्रवाह के रूप में। इस तरह राजनीतिक स्वतंत्रता की भावना काव्य-क्षेत्र में प्रत्यक्ष रूप से भी व्यक्त हुई और साथ ही असन्तोष और निराशा की भावना की अप्रत्यक्ष अभिव्यक्ति (रहस्यवाद) के रूप में भी।

राजनीतिक-क्षेत्र में महात्मा गांधी के रूप में जिस तरह देश की आत्मा स्वतंत्रता प्राप्ति के नये प्रयोगों में लीन हुई; जैसे देश नव-जीवन-प्राप्ति के नये

मार्ग ढूँढ़ने में प्रवृत्त हुआ, उसी तरह साहित्य-क्षेत्र में भी अनेक नये प्रयोगों और विविध स्वतंत्र मार्गों की खोज की गई। राजनीतिक जीवन की असफलता, निराशा, असंतोष, घृणा, विराग और साथ ही भविष्य की आशा, उमंग, प्रेम, सद्भावना, सुख-संतोष आदि मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति काव्य में विभिन्न प्रच्छन्न और प्रत्यक्ष रूपों में हुई। छायावाद-युग की काव्यधारा में विविधता के बीच भी एक सामान्य एकता—स्वातंत्र्य-प्रेम—के दर्शन होते हैं। यह उस मुक्तिकामी चेतना का ही परिणाम है। किंतु इस स्वतंत्रता की भावना को खुल खेलने की स्वतंत्रता न थी। एक ओर तो शासकों का प्रबल दमन-चक्र सिर पर निरन्तर घूम रहा था, दूसरी ओर समाचार-पत्रों तथा भाषण और लेखन की पूर्ण स्वतंत्रता नहीं थी। इन कारणों से राजनीतिक स्वतंत्रता की वाणी को प्रच्छन्न, व्यंग्यात्मक और प्रतीकात्मक होना पड़ा। दूसरी ओर सामाजिक, धार्मिक, नैतिक और साहित्यिक स्वतंत्रता के क्षेत्र में भी सरपट दौड़ लगाना सम्भव नहीं था क्योंकि समाज अभी पुराने मार्ग पर ही चल रहा था और मध्यवर्ग की नई पीढ़ी उसमें क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना चाहती थी। यह पीढ़ी केवल काव्य में ही नहीं बल्कि जीवन में भी परिवर्तन लाना चाहती थी क्योंकि समाज के बन्धनों में उसका गला घुट रहा था। पुनरुत्थान-युग ने समाज की बुराइयों का ही विरोध किया था, प्राचीन मान्यताओं, आदर्शों और नैतिक सिद्धान्तों से वह चिपका रहा। किन्तु छायावाद-युग का विरोध मूल में ही था। वह बाह्य उपकरणों और कर्मकाण्डों को उतना महत्व न देकर आन्तरिक क्रान्ति चाहता था। सामाजिक सम्बन्धों और नैतिक आदर्शों में उलटफेर न तो समाज के अशिक्षित और पुरानी रूढ़ियों में पले सामान्य जन ही सहन कर सकते थे और न पुराने खेवे के साहित्यिक ही। नई पीढ़ी के नवयुवक पश्चिमी शिक्षा और संस्कृति से प्रभावित थे; उनके विचार और आदर्श भी वैसे ही ढल रहे थे। किन्तु अपने जीवन में वे अपने स्वप्नों को सत्य नहीं कर पाते थे। वस्तुतः जीवन में अपने आदर्शों को ढालने की उन्हें स्वतंत्रता नहीं थी। स्वच्छंद प्रेम और विवाह में अवरोध, पारिवारिक सम्बन्धों का निर्वाह, मानसिक विकास के साधनों का अभाव, बेकारी आदि प्रश्नों और उलझनों ने नई पीढ़ी की स्वतंत्रता के मार्ग का दृढ़ता से अवरोध कर रक्खा था। शिक्षित नवयुवक-समाज, विशेष कर उसके चेतन वर्ग—कवियों-कलाकारों—में घोर असंतोष, निराशा और विद्रोह की भावना का आना स्वाभाविक था। अतः काव्य में भाग्यवाद, दुःखवाद, निराशावाद, करुणा और देश-प्रेम आदि की अभिव्यक्ति छायावाद-युग में विशेष रूप से हुई।

जैसा पहले ही कहा जा चुका है, प्रथम महायुद्ध का हिन्दी साहित्य पर व्यक्त

और अव्यक्त रूप से बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। यह महायुद्ध भारत के राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में एक नवीन चेतना लेकर आया। उसके पहले भारत के सम्मुख मुख्यतः अपना ही प्रश्न रहता था। वस्तुतः १६१४ के पहले भारत की संसार के अन्य देशों के बारे में उतनी अधिक जानकारी नहीं थी। यूरोप में एक नवीन वैज्ञानिक और यांत्रिक सभ्यता का चरम विकास हो रहा है, यह तो भारतीय जान गये थे; किन्तु उसका परिणाम कैसा होगा, इसका परिचय उन्हें महायुद्ध से ही मिला। इसके पहले ही १९०४ के रूस-जापान युद्ध में जापान की विजय से एशिया की हीनता की मनोवृत्ति समाप्त हो चली थी और उसका प्रभाव भारत पर भी पड़ा था। पश्चिम के अनुकरण से जापान ने यह शक्ति अर्जित की थी, यह बात भी स्पष्ट हो गई थी। किन्तु पश्चिम की सभ्यता की बाह्य चकाचौंध के भीतर क्या छिपा हुआ है, यह बात इस महायुद्ध ने ही स्पष्ट की। युद्ध में भारतीय सैनिक काफी संख्या में विदेश भेजे गये थे, समाचार-पत्रों में युद्ध के समाचार भरे रहते थे; अनेक युद्धों में भारतीय सैनिकों ने विजय प्राप्त करके योरोपीय सैन्यशक्ति पर अपनी श्रेष्ठता स्थापित की थी। इन सब बातों से भारतीय जनता का दृष्टिकोण बहुत व्यापक, उनकी अन्तर्राष्ट्रीय भावना अधिक विस्तृत और राष्ट्रीय गौरव की भावना अधिक तीव्र हो गई। इस युद्ध ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि आज के इस वैज्ञानिक युग में, जब कि जहज, रेल, वायुयान, रेडियो आदि ने देशों की भौगोलिक दूरी कम करके उनकी सीमाएँ तोड़ दी हैं, भारत भी इस विशाल विश्व का एक अंग बन गया है और संसार की प्रत्येक घटना का उसके लिये भी उसी तरह का महत्व है जैसे अन्य देशों के लिये।

महायुद्ध का प्रभाव

युद्धकाल में युद्ध का प्रभाव उतना लक्षित नहीं हुआ जितना उसके बाद। यह प्रभाव विश्वव्यापी था जो अनेक रूपों में प्रकट हुआ। पहले तो इस युद्ध में लाखों आदमी मारे गये, अनगिनत आदमी पंगु बनकर जीवित मृतक हो गये, अपार धनराशि, कला और सभ्यता की प्राचीन असंख्य वस्तुएँ और संस्कृति के प्राचीन चिह्न नष्ट हो गये जिसका प्रभाव विश्व की नैतिकता पर बहुत पड़ा। दूसरे पूँजीवाद और साम्राज्यवाद अपने नग्नरूप में संसार के सामने आ गये। इस वैज्ञानिकता और अतिशय भौतिकता के विरोध में टालस्टाय आदि कुछ मनीषी पहले ही से स्वर ऊँचा कर रहे थे। दूसरी ओर मार्क्स और एंगिल्स जैसे विद्वान इसके पूर्व ही भौतिक दर्शन को प्रतिपादित करके इस वैज्ञानिकता और और यांत्रिकता का समर्थन करके तज्जन्य आर्थिक विषमता और पूँजीवाद का

विरोध तथा वर्ग-संघर्ष का समर्थन कर गये थे। इस युद्ध ने स्पष्ट कर दिया कि जब तक उत्पादन के ये वैज्ञानिक साधन पूँजीपतियों के हाथों में रहेंगे तबतक न तो आर्थिक वैषम्य, भीषण गरीबी और बेकारी मिटेगी और न परतंत्र देशों की गुलामी ही मिटेगी; साथ ही अपना विक्रय-क्षेत्र बढ़ाने के लिये पूंजीवादी और साम्राज्यवादी राष्ट्रों की प्रतिस्पर्धा और तज्जन्य युद्ध भी बने ही रहेंगे। रूस की राज्य-क्रांति और तुर्की के उदय ने संसार के सामने जन-शक्ति और राष्ट्र-शक्ति का महत्व और भी अधिक स्पष्ट कर दिया।

इन सब बातों का प्रभाव भारत पर भी पड़ना अवश्यम्भावी था। सर्वप्रथम तो ब्रिटेन ने भारत की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को कुचल कर अपना साम्राज्यवादी रूप स्पष्ट कर दिया। फिर वार्सेलीज़ की सन्धि में जर्मनी के साथ मित्र राष्ट्रों ने जो व्यवहार किया इससे उनकी साम्राज्यवादी और पूँजीवादी नीति पूर्णतया स्पष्ट हो गई। युद्ध के बाद संसार भर में जो आर्थिक संकट शुरू हुआ उसका सबसे अधिक प्रभाव भारत पर पड़ा, जिसके सम्बन्ध में पिछले अध्याय में विचार किया जा चुका है। संसार के अन्य देशों में युद्धजनित अवसाद और पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई उसकी लहरें भारत में भी पहुँची। गांधी जी ने टालस्टाय के भौतिकता-विरोधी तथा आध्यात्मिक और नैतिक सिद्धान्तों से प्रेरित हो कर अपना सत्याग्रह संग्राम शुरू किया। गांधीवाद युद्ध-जर्जर विश्व, विशेष कर परतंत्र और बलहीन भारत, के लिये बहुत ही आकर्षक प्रतीत हुआ। उधर रूस में श्रमजीवी क्रांति हो गई थी, राजतंत्र उलटकर दुनियाँ के छठे भाग में समाजवादी शासन-व्यवस्था कायम की गई थी जो संसार के लिये एक आश्चर्यजनक वस्तु बन रही थी। संसार भर के मजदूरों का संगठन तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ (Third International) संसार भर में श्रमजीवी क्रान्ति करने के लिये प्रयत्नशील था जिससे सभी देशों में पूंजीपतियों और श्रमजीवियों के बीच संघर्ष होने लगे। चीन में सनयातसेन ने रूस की सहायता से क्रान्ति कर दी थी। इन सब विश्वव्यापी घटनाओं का व्यक्त-अव्यक्त प्रभाव भारत पर भी पड़ रहा था। भारतीय जनता संसार के विविध आन्दोलनों के परिचय के उपरान्त अधिक साहस और आत्मविश्वास से युक्त हो गई।

संघर्षशील मध्यवर्ग की चेतना इस तरह महायुद्ध के बाद पहले से बिलकुल बदल गयी। महायुद्ध के प्रभाव और पाश्चात्य तथा बँगला साहित्य के अध्ययन का उस परिवर्तन को लाने में बहुत अधिक हाथ था। मध्यवर्गीय चेतना का परिवर्तन छायावादी कविता में निम्नलिखित रूपों में दिखलाई पड़ता है:—

१—सामंती और पुनरावर्तनवादी प्रवृत्तियों का लोप।

२—व्यक्तिवाद और व्यक्ति-स्वातंत्र्य के आदर्श की स्थापना।

३—बुद्धि के विरुद्ध हृदय का और स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह।

४—यथार्थ के बन्धनों से ऊब कर प्रकृति, रहस्य, कल्पना, और क्रान्ति के स्वप्नलोकों में पलायन।

५—ह्रासोन्मुख पूँजीवादी प्रवृत्तियों—कलावाद, निराशावाद, अहंवाद आदि का विकास।

६—सामाजिक यथार्थवाद या प्रगतिवाद का प्रारम्भ।

सामंतवादी प्रवृत्तियों के विरुद्ध पूँजीवादी विद्रोह का प्रारम्भ संक्रान्ति-युग में ही हो गया था। सामंतवादी व्यवस्था में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म का ही आधिपत्य रहता है और उस रूढ़िवादी परम्परा को तोड़े बिना व्यक्ति को स्वतंत्रता नहीं मिल सकती। संक्रान्ति-युग और पुनरुत्थान-युग में धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक रूढ़ियों का तो विरोध किया गया पर धर्म का सर्वथा त्याग नहीं किया गया था। हिन्दू जाति या राष्ट्र का जागरण, भारतीय संस्कृति का पुनरुत्थान, सामाजिक सुधार आदि पुनरावर्तन की प्रवृत्तियों के रूप में धर्म अपना प्र त्व फिर भी बनाये रहा। पर इस युग में धर्म का प्रभुत्व बहुत कुछ हट गया और उसकी जगह आध्यात्मिकता और दार्शनिकता ने ले ली। छायावादी कवियों ने प्राचीन भारतीय दर्शन और भक्तिकालीन काव्य से प्रभाव ग्रहण किया और साथ ही रीतिकालीन काव्य-परम्परा का खुले रूप में विरोध भी किया।* इस तरह इस युग में सामंती और दरबारी संस्कृति के बन्धनों से कवियों ने मुक्ति प्राप्त की। † भाषा

---

* भाव और भाषा का ऐसा शुक-प्रयोग, राग और छन्दों की ऐसी एकस्वर रिमझिम, उपमा तथा उत्प्रेक्षाओं की ऐसी दादुरावृत्ति, अनुप्रास एवं तुकों की ऐसी अश्रान्त उपलवृष्टि क्या संसार के और किसी साहित्य में मिल सकती है। घन की घहर, भेकी की भहर, झिल्ली की झहर, बिजली की बहर, मोर की कहर, समस्त संगीत तुक की एक ही नहर में बहा दिया और बेचारे औपकायन की बेटी उपमा को तो बाँध ही दिया?—आँख की उपमा?—खंजन, मृग, कंज, मीन इत्यादि, होठों की?—किसलय, प्रवाल, लाख इत्यादि और इन धुरन्धर साहित्याचार्यों की?—शुक, दादुर, ग्रामोफोन इत्यादि।"

[पन्त—पल्लव की भूमिका, पृष्ठ—१०]

† "एक दीर्घकाल से कवि के लिए, सम्प्रदाय अक्षयवट और दरबार कल्पवृक्ष बनता आ रहा था और इस स्थिति का बदलना एक व्यापक उलटफेर के बिना सम्भव ही नहीं था जो समय से सहज हो गया।"

[महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ—५२]

छन्द, काव्य-विषय, कल्पना, सब में प्राचीन लकीरों को छोड़ कर नये रास्ते अपनाये गये। रीतिकाल के विरोध में पुनरुत्थान-युग में जो स्थूल नीतिमत्ता, थोथी उपदेशात्मकता और नीरस वर्णनात्मकता का विधान हुआ था, उससे नये कवि के उन्मुक्त मन को सन्तोष नहीं हुआ। वह स्थूल शृंगार के बन्धनों को तोड़ कर पूँजीवाद और सामन्तवाद के समझौते से उत्पन्न मर्यादावाद और बुद्धिवाद के बन्धनों को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था क्योंकि इनसे उसकी उन्मुक्त कल्पना और स्वतंत्र इच्छाशक्ति के पंख बँध जाते थे। उसने स्थूल बन्धनों से विद्रोह कर के सूक्ष्म मनोलोक में अपने नीड़ की रचना की। अतिशय बौद्धिक नीरसता की जगह भावुकता और हार्दिकता की, भौतिक जीवन दृष्टि की जगह अध्यात्मिक जीवन दृष्टि की, स्थूल ऐन्द्रिक प्रेम अथवा प्रेम के बहिष्कार की जगह आदर्शवादी प्रेम (Platonic love) और स्वाभाविक प्रेम की प्रतिष्ठा हुई। यही नहीं, देश, जाति, प्रकृति और विश्व के प्रति भी प्रेम की मनोवृत्ति का प्रसार हुआ। इस तरह छायावाद में रीतिकाल या सामंत-युग की काव्य-परम्परा के विरुद्ध होने वाली प्रतिक्रिया की परिणति विद्रोह के रूप में हुई। रीतिकाल का सौन्दर्य-बोध इतना रूढ़ और स्थूल हो गया था और उसका प्रवाह इस तरह धार्मिक, नैतिक और शास्त्रीय नियमों से अवरुद्ध था कि बदलती हुई आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों में उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक और अनिवार्य था। इस युग में एक सीमा तक यह कार्य हुआ। भाषा बदली पर छन्द संस्कृत के वर्णवृत्त बने रहे। वासना का रंग छूटा तो उपदेश की रंगहीनता आ गयी; रस के ऊपर इतिवृत्ति चढ बैठी। इस तरह काव्य-धारा महलों की बावलियों-कूपों से निकली तो जरूर, पर संकीर्णता के उलझे जटाजूट में भटकती रह गयी। स्थूल सौन्दर्य-बोध के विरोध में पुनरुत्थान-युग के काव्य ने सौन्दर्य को ही निर्वासित कर दिया। छायावादी कवि ने कविता को संकीर्ण भूमि से उठा कर सूक्ष्म और आन्तरिक सौन्दर्य के आकाश में पहुँचा दिया जहाँ से वह एक ओर तो विपुला पृथ्वी का दर्शन करने लगी और दूसरी ओर निरवधि काल के प्रवाह से होड़ लेने लगी। *

* "इसके साथ-साथ रीतिकाल की प्रतिक्रिया भी कुछ कम वेगवती न थी। अतः उस युग की कविता की इतिवृत्तात्मकता इतनी स्पष्ट हो चली कि मनुष्य की सारी कोमल और सूक्ष्म भावनाएँ विद्रोह कर उठीं।......पर स्थूल सौन्दर्य की निर्जीव आवृत्तियों से थके हुए और कविता की परम्परागत नियम-शृंखला से ऊबे हुए व्यक्तियों को फिर उन्हीं रेखाओं में बँधे स्थूल का न तो यथार्थ चित्रण

जब हम कहते हैं कि छायावादी कविता के निर्माण में पूँजीवाद का बहुत अधिक योग है तो हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि छायावादी कवि पूँजीपति, सेठ या दूकानदार था और वह अपनी कविता का क्रय-विक्रय करता था। इसके विपरीत छायावादी कवि पूँजीवाद के प्रभाव के कारण जीवन के यथार्थ से उत्तरोत्तर दूर होता गया। राष्ट्रीय पूँजीवाद ने सामंतवादी समाज-व्यवस्था को तोड़ने में पूँजीवादी साम्राज्यवाद की सहायता की तो मध्यवर्गीय कवि ने भी सामंती विचारों और परम्पराओं के बन्धनों को तोड़ा। यदि पूँजीवाद ने व्यक्ति-स्वातंत्र्य का आदर्श खड़ा कर स्वतंत्रता का भ्रम उत्पन्न किया तो पूँजीवादी कवि ने भी रीतिकालीन परम्पराओं से मुक्ति का भ्रम उत्पन्न किया। उन परम्पराओं से मुक्ति पाकर एक बार पुनरावर्तन के भ्रम की स्थापना हुई और दूसरी बार छायावाद के भ्रम की। पुनरुत्थान-युग में स्थूल सौन्दर्य के निराकरण के लिए सौन्दर्यबोध का ही बहिष्कार किया गया तो छायावाद-युग में स्थूल सामाजिक आदर्शों और रूढ़ियों के निराकरण के प्रयत्न में समाज से ही मुक्ति पाने का भ्रम उत्पन्न किया गया। पर व्यक्ति सामाजिक सम्बन्धों से कैसे मुक्ति पा सकता है? अत: यथार्थ दृष्टि तो यह है कि समाज को ही बदला जाय। पर छायावादी कवि समाज की ओर से आँख मूँद कर उससे पलायन करने में ही व्यक्ति की मुक्ति देखने लगा। इस तरह छायावादी कविता में व्यक्ति-स्वातंत्र्य की भावना की दृढ़ प्रतिष्ठा हुई और सामाजिकता की प्रवृत्ति कम हो गयी। कवि अपनी इच्छाओं-आकांक्षाओं और दुख-सुखों के प्रति जितना जागरुक था उतना सामाजिक आवश्यकताओं के प्रति नहीं। वह अपने सहजज्ञान (Instincts) का दास बन गया, स्वामी नहीं।

छायावादी स्वतंत्रता का भ्रम

मध्यवर्ग की इस व्यक्तिवादी मनोवृत्ति का कारण यह था कि मध्यवर्गीय व्यक्ति समझता था कि सामन्तवादी बन्धनों को तोड़कर व्यक्ति को समाज से स्वतंत्र कर देने से ही समाज के सभी वर्गों को स्वतंत्रता प्राप्त हो जायेगी। इसीलिये सामन्तवाद और उसके संरक्षक साम्राज्य-वाद के विरुद्ध होने वाले संघर्ष में उच्चमध्यवर्ग, निम्नमध्यवर्ग और सर्वहारावर्ग सभी ने सम्मिलित रूप से योग दिया। सामन्तवाद का आधार-स्तम्भ पुरोहितवर्ग पर ही नहीं, धर्म के

रुचिकर हुआ और न उसका रूढ़िगत आदर्श भाया। उन्हें नवीन रूप-रेखाओं में सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति की आवश्यकता थी जो छायावाद में पूर्ण हुई।"

[महादेवी वर्मा-आधुनिक कवि की भूमिका, पृष्ठ ९]

बाह्यरूप पर भी कठोर आघात किये गये। ध्वंस का यह कार्य पुनरुत्थान-युग में ही बहुत कुछ पूरा हो चुका था। इस नये युग में जीवन के सभी क्षेत्रों में लोकतांत्रिक दृष्टिकोण का प्रचार हुआ जिसके आधार थे समानता, स्वतंत्रता और बन्धुत्व। किन्तु यह दृष्टिकोण भी कवि का भ्रम मात्र ही था क्योंकि जिस स्वतंत्रता की बात वह करता था वह केवल पूँजीवादीवर्ग के लिये थी, निम्नमध्यवर्ग और सर्वहारावर्ग के लिये नहीं। इन कवियों का विचार था कि मनुष्य जन्म से ही स्वतंत्र है, फिर भी वह जीवन में उलझनों और बन्धनों से घिरा हुआ है; अतएव इन सामाजिक उलझनों और विषमताओं से मुक्ति पाने का एक मात्र रास्ता यही है कि मनुष्य को प्रकृत मनुष्य बनाया जाय, वह प्रकृति की विकृति न करे, उसे स्वाभाविक रूप में स्वीकार करे। राजनीति में यह विचारधारा गांधीवाद के रूप में दिखलाई पड़ी जिसने यन्त्रों का विरोध किया और मनुष्य को आध्यात्मिकता की तरफ उन्मुख किया। छायावाद में वह प्रकृति के प्रति तादात्म्य की अनुभूति के रूप में प्रकट हुई; कवियों ने सर्वत्र एक ही चेतना का आभास देखा। निस्संदेह प्राचीन भारतीय दर्शन के अध्ययन तथा महायुद्ध के निराशाजनक प्रभाव से यांत्रिकता के विरोध और प्रकृति की ओर लौटने की प्रवृत्ति और बढ़ी। प्रकृति के प्रति कवियों के झुकाव के मूल में उनका आध्यात्मिक दृष्टिकोण था। वे अपनी ही अन्तरात्मा का प्रक्षेप बाह्य प्रकृति पर करते थे और उसमें किसी परोक्ष सत्ता का स्पन्दन देखते थे। इस युग की प्रायः सभी प्रतिनिधि रचनाओं में प्रकृति के प्रति तादात्म्य की भावना, उसके आन्तरिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति, उस सौन्दर्य के प्रति आश्चर्य और जिज्ञासा की भावना आदि प्रवृत्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं।* ऐसा इसलिये हुआ कि क्रान्तिकारी पूँजीवाद की तरह छायावादी कवि भी यही सोचता था कि समाज के पुराने बन्धनों को एकबार तोड़ देने से ही मनुष्य अपने प्रकृतस्वरूप

---

* कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है··· कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर एक अव्यक्त सौन्दर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था······और यह शायद पर्वतप्रान्त के वातावरण का ही प्रभाव है कि मेरे भीतर विश्व और जीवन के प्रति एक गंभीर आश्चर्य की भावना, पर्वत ही की तरह निश्चल रूप से अवस्थित है। प्रकृति के साहचर्य्य ने जहाँ एक ओर मुझे सौन्दर्य स्वप्न और कल्पनाजीवी बनाया वहाँ दूसरी ओर जनभीरु भी बना दिया······प्राकृतिक चित्रणों में प्रायः मैंने अपनी भावनाओं का सौन्दर्य मिलाकर उन्हें ऐन्द्रिक चित्रण बनाया है ·· प्रकृति को मैंने अपने से अलग सजीव सत्ता रखने वाली नारी के रूप में देखा है। [पन्त-आधुनिक कवि, पृष्ठ १–२]

को प्राप्त कर लेगा। सामाजिक बन्धनों ने मनुष्य को इतना विकृत कर दिया था कि उसमें सौन्दर्य, सत्य, स्वतंत्रता आदि, आध्यात्मिक गुणों का कहीं दर्शन ही नहीं होता था। इसलिये इन गुणों की खोज छायावादी कवि प्रकृति में करने लगा क्योंकि मनुष्य अभी प्रकृति को पूर्णरूप से विकृत नहीं कर सका था। प्रकृति के प्रति यह आकर्षण मध्यवर्ग के पलायन की प्रवृत्ति का द्योतक है यद्यपि यह पलायन भी एक तरह का अप्रत्यक्ष विद्रोह ही था जिसका मूल कारण तत्कालीन विषम सामाजिक अवस्था थी। इस तरह प्रकृति में कवि की कल्पना और सौन्दर्यबोध को प्रसार पाने के लिए व्यापक क्षेत्र मिला यद्यपि कविता सामाजिक आवश्यकताओं से दूर, उनसे अधिकाधिक विमुख होती गई और समाज की स्वतंत्रता के लिये लड़ने वाला सैनिक कवि स्वयं समाज से दूर हो गया। यही छायावादी कविता की स्वतंत्रता का भ्रम है।

स्वतंत्रता का यह भ्रम प्रकृति के क्षेत्र में ही नहीं, अध्यात्म, कल्पना और क्रान्ति के स्वप्नलोकों में भी दिखलाई पड़ा। प्रकृति में परोक्ष सत्ता के आरोप की बात पहले ही कही जा चुकी है। व्यक्ति को स्थूल सामाजिकता के बन्धन से मुक्त करने के लिये छायावाद ने और भी कई रूपों में परोक्ष सत्ता का सहारा लिया। साम्राज्यवाद के कठोर बन्धन, द्वितीय महायुद्ध के निराशाजनक परिणाम और अद्वैतवाद के पुनः प्रचार से इस भावना को और भी प्रश्रय मिला।

आध्यात्मिक आदर्शवाद

भक्तिकाल में आध्यात्मिकता के उत्थान में सामाजिकता का भी बहुत अधिक योग था और वह भिन्न भिन्न साधना-मार्गों के सिद्धान्तों और प्रयोगों से पुष्ट थी। किन्तु इस युग की आध्यात्मिकता प्रधानतया एक दृष्टिकोण के रूप में थी जिसमें साधना का योग नहीं था; वह धार्मिक परम्परा और सुधारवाद के विरुद्ध विद्रोहरूप में आई थी। उसका लक्ष्य व्यक्ति की आत्मा को स्थूल सामाजिक नियंत्रण से मुक्त करना था यद्यपि वह इस प्रतिक्रिया के प्रवाह में स्वयं भौतिकता का विरोध करने वाली हो गई। इस प्रकार सामाजिक सम्बन्धों की विषमता से छुटकारा पाने के लिये कवि ने अध्यात्म का सहारा लिया। अध्यात्म के क्षेत्र में अद्वैतवाद का ही स्वर प्रधान था जो प्राणिमात्र की आत्मा को भूत से स्वतंत्र और समान मानता है। इसीलिये लोकतंत्र की स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व की मांग अध्यात्मवाद आदर्श रूप में पूरा करता था। यूरोप के दार्शनिक, कान्ट, हीगेल, श्लीगेल आदि ने भी इसी पूँजीवादी और अध्यात्मवादी आदर्शवाद का प्रचार किया था जो अवैज्ञानिक और भ्रम पर आधारित था। सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ने वालों को एक सूत्र में बाँधने के लिये

अध्यात्मवाद का प्रयोग सर्वत्र एक नारे के रूप में किया गया, क्योंकि वह सामाजिक यथार्थ से व्यक्ति का ध्यान हटाता है और साथ ही स्वतंत्रता के लिये शक्ति भी प्रदान करता है। यूरोप के रोमाण्टिक साहित्य, विशेषकर जर्मनी के साहित्य, में जिस तरह आध्यात्मिकता का रंग बहुत गहरा था उसी तरह हिन्दी की छायावादी कविता में भी आध्यात्मिकता का रंग चढ़ा हुआ था। इस काल में भारत में आध्यात्मिकता भी विद्रोह का एक प्रतीक बन गई थी। स्वामी विवेकानन्द, योगी अरविन्द, स्वामी रामतीर्थ, महात्मा गांधी सबने राष्ट्रीयता और आध्यात्मिकता का अपने जीवन में समन्वय किया था। वस्तुतः व्यक्तिवाद के विकास के साथ-साथ आध्यात्मिकता का विकास भी स्वाभाविक है। आध्यात्मिकता के क्षेत्र में व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के प्रसार का पूरा अवसर हाथ लगता है और उसके अहं की तृप्ति भी होती है। छायावादी कवियों में भी अधिकांश ने इस आध्यात्मिकता के माध्यम से ही अपने विद्रोह का स्वर ऊँचा किया है। निराला का 'जागो फिर एक बार' 'राम की शक्तिपूजा', प्रसाद की 'कामायनी' आदि रचनायें इसका प्रमाण हैं। इस तरह छायावादी कवियों ने धार्मिक रूढ़ियों की जगह आध्यात्मिक आदर्शवाद की स्थापना की।

यह आदर्शवाद केवल अध्यात्म के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं था। सौन्दर्य, कल्पना और राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में भी इस आदर्शवाद का प्रसार दिखलाई पड़ता है। आध्यात्मिक आदर्शवाद के अनुसार यह जगत मिथ्या है, आत्मा सत्य, चिरन्तन और अखण्ड है और परोक्ष सत्ता से मिलन ही उसका साध्य है। उसी तरह काव्य के क्षेत्र में भी यथार्थ से कल्पना को विच्छिन्न करके एक आदर्श स्वप्नलोक की स्थापना की गयी जहाँ जगत की विषमतायें और आत्मा की स्वतंत्रता के मार्ग की बाधायें नहीं हैं। प्रकृति और अध्यात्म के क्षेत्रों के अतिरिक्त प्रेम, विश्व-बन्धुत्व, अतीत के गौरवपूर्ण स्थल आदि क्षेत्रों से भी अपने स्वप्नलोक के निर्माण के लिये छायावादी कवियों ने उपादान ग्रहण किये हैं। वर्तमान जीवन से असन्तुष्ट होकर ही इन कवियों ने स्वतंत्र स्वप्नलोक का निर्माण किया। उन्होंने जगत के विषम कोलाहल से दूर भागकर उससे मुक्ति पाने की कामना की। इसीलिये 'क्षितिज के पार' 'ज्योतिर्मय' 'उस पार' 'निर्जनवन प्रान्तर' 'आकाश-सुमन', 'स्वर्ण-ज्वाल', 'नन्दन वन', 'स्वर्ग' आदि शब्दों की बार-बार आवृत्ति की गई और 'भग्नहृदय' 'टूटेतार' 'हृदयवीणा' 'मूकरुदन' 'विरह-वेदना' 'सुप्त व्यथा' 'विकल रागिनी' आदि शब्दों द्वारा वर्तमान से असन्तोष की भावना को वाणी दी गई। इस तरह एक तरफ तो अपने जीवन के प्रति असन्तोष प्रकट किया गया और दूसरी तरफ कल्पना के

पंखों पर चढ़ कर स्वप्नलोक में विचरण किया जाने लगा। किन्तु यह दर्द की दवा नहीं, उसे थोड़ी देर तक भुलाने का इञ्जेक्शन मात्र था। फिर भी इस प्रवृत्ति को प्रतिक्रियावादी नहीं कहा जा सकता क्योंकि तत्कालीन परिस्थितियों में यह भी विद्रोह की भावना को ही अभिव्यक्त करने वाली थी। अतः जीवन के असौन्दर्य और अभाव की क्षतिपूर्ति काव्य में कलात्मक सौष्ठव की प्रतिष्ठा द्वारा की गई। व्यक्तिवादी होने के कारण कवि अन्तर्मुखी हो गया था, अतः उसने अपने प्रातिभ ज्ञान द्वारा सत्य का साक्षात्कार किया और उसे अपनी वैयक्तिक शैली में अभिव्यक्त किया। उसने वस्तु के बाह्य नहीं, उसके आन्तरिक सौन्दर्य को वाणी दी। फलस्वरूप काव्य-विधान की पुरानी परम्परा पीछे छूट गई। मानवीकरण, ध्वन्यात्मकता, प्रतीकपद्धति, लक्षणा और व्यञ्जना के चमत्कार आदि द्वारा वस्तु के सूक्ष्म सौन्दर्य का चित्रण किया गया। इस तरह छायावादी काव्य में संश्लिष्ट चित्रण, व्यक्तिगत ऐन्द्रिक अनुभव और दूरारूढ़ कल्पनाओं का आधिक्य हो गया। छन्द और भाषा के सम्बन्ध में भी नये सौन्दर्यबोध से ही काम लिया गया। पुराने रूढ़ शब्दों को छोड़ करके नये अप्रचलित अथवा नवनिर्मित शब्दों का प्रयोग किया गया जिनके द्वारा नवीन सूक्ष्म भावों की सफल अभिव्यक्ति हो सकी। कवियों ने छन्दों के चुनाव में भी स्वतंत्र प्रवृत्ति दिखलाई। लोकगीतों में प्रयुक्त छन्दों और नये मुक्तछन्दों का साहस के साथ प्रयोग किया गया तथा नाद और लय सौन्दर्य पर विशेष ध्यान दिया गया।* इसका परिणाम यह हुआ कि काव्य की भावना, शैली और भाषा सभी जनजीवन से दूर, एक विशेष वर्ग के लिये हो गई। इस प्रकार इस युग की कविता हर पहलू से सामाजिक यथार्थवाद से दूर हट कर आदर्शलोक की वस्तु होती गई।

छायावादी कविता में अभिव्यक्त राजनीतिक विचारधारा में भी उसी व्यक्तिवादी आदर्शवाद का दर्शन होता है। कहा जा चुका है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थितियों और क्रान्तियों तथा राजनीतिक विचारधाराओं

---

* "हमारे जीवन का पूर्णरूप, हमारे अन्तरतम प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही संगीतमय है। अपने उत्कृष्ट क्षणों में हमारा जीवन छन्द ही में बहने लगता; उसमें एक प्रकार की सम्पूर्णता, स्वरैक्य तथा संयम आ जाता है। प्रकृति के प्रत्येक कार्य, रात्रि दिवस की आँखमिचौनी, षड्ऋतु-परिवर्तन, सूर्य-शशि का जागरण-शयन, ग्रह-उपग्रहों का अश्रान्त नर्तन, सृजन-स्थिति-संहार सब एक अनन्त छन्द, एक अखण्ड संगीत ही में होता है।"

[पन्त-पल्लव की भूमिका, पृष्ठ २४]

व्यक्तिवादी क्रान्ति की अभिव्यक्ति का प्रभाव भारतीय मध्यवर्ग पर निरन्तर पड़ता रहा। महायुद्ध के बाद उनका प्रभाव और भी तीव्र हो गया। रूसी क्रान्ति और आयरलैण्ड के स्वातंत्र्य-आन्दोलन की हिंसात्मक पद्धतियों तथा यूरोपीय अराजकतावादी विचारधाराओं को भारतीय राजनीति में भी स्थान मिला। बंगला की तरह छायावादी कविता में भी इन भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई। बंगाल में नजरुलइस्लाम ने अपनी क्रान्तिकारी कविताओं द्वारा राजनीतिक चेतना को जाग्रत करने बहुत बड़ा काम किया। यह लहर हिन्दी भी आई। गांधी जी के आन्दोलन और आदर्शों का प्रभाव भी हिन्दी कविता पर पड़ रहा था। अतः इस युग में राष्ट्रीय कविताओं के दो रूप दिखलाई पड़ते हैं।

पहली तरह की राष्ट्रीय कविता में छायावादी शैली में गांधीवादी राजनीतिक विचारधारा व्यक्त की गई और साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष करने के लिये जनता को उद्बुद्ध किया गया। दूसरी प्रकार की कविता में अराजकतावादी आदर्शवाद की ध्वनि थी जिसमें 'महानाश' 'क्रान्ति', 'ध्वंस', 'अग्निवीणा' आदि शब्दों द्वारा क्रान्ति का आवाहन किया गया, उसे निर्बन्ध, लक्ष्यहीन और अनियन्त्रित बताया गया। इस तरह इस ध्वंसात्मक क्रान्ति की भावना के पीछे कोई रचनात्मक विचारधारा नहीं थी। इन कविताओं में वर्ग-संघर्ष और नवीन समाज-व्यवस्था की कोई रूपरेखा नहीं दिखलाई पड़ी। बहुधा इनकी अभिव्यक्ति प्रतीक-पद्धति में हुई जिससे इनकी प्रभावोत्पादकता भी कम हो गई। फिर भी ये दोनों ही प्रकार की राष्ट्रीय कवितायें राजनीतिक विद्रोह की भावना को अभिव्यक्त करने वाली थीं; इनमें पलायन की नहीं बल्कि संघर्ष का सामना करने की प्रवृत्ति थी। बंगाल के हिंसात्मक क्रान्तिकारी भी इसी विचारधारा को लेकर चलने वाले थे। बंगाल में मध्यवर्ग जमींदारों से बना था। परिस्थितियों के प्रभाव से जमींदारवर्ग के पढ़े-लिखे युवक पूँजीवादी विचारधारा के समर्थक हो गये थे और पूँजीवाद के साथ कंधे से कंधा मिलाकर साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ रहे थे। इसीलिये उनमें वर्ग-भावना उतनी नहीं थी जितनी भावुकता। अतः वे क्रान्ति के साथ आध्यात्मिकता की भावना का समन्वय करके चल रहे थे और जब वर्ग-भावना तीव्र हुई तो इनमें से बहुतों ने मध्यवर्ग का साथ छोड़ कर निराशाजन्य आध्यात्मिकता की शरण ली अथवा भावुकता के अतिरेक में विक्षिप्त हो गये। अरविन्द घोष और काजी नजरुल इस्लाम इसके प्रमाण हैं। हिन्दी कवियों में 'निराला' इसके सबसे बड़े उदाहरण हैं। उन्होंने आध्यात्मिकता और क्रान्ति की भावनाओं का समन्वय किया। 'बादल राग' 'जागो फिर

एकबार' तथा अन्य कविताओं में उन्होंने ऐसी ही अनियंत्रित क्रान्ति का भावुकतापूर्ण चित्रण किया। बायरन और नजरुल इस्लाम की तरह निराला अकेले योद्धा की भाँति सामाजिक और राजनीतिक बन्धनों से लड़ते हुये दिखलाई पड़ते हैं। अपनी ओज और व्यंगपूर्ण कविताओं द्वारा उन्होंने अपने क्रांतिकारी स्वरूप का प्रदर्शन किया है किन्तु अन्त में संघर्ष में क्षत-विक्षत होकर नजरुल इस्लाम की तरह ही वे भी विक्षिप्त हो जाते हैं।

छायावाद की दूसरी मंजिल

छायावाद का यह आदर्शवादी भ्रम अधिक दिनों तक नहीं टिक सका। पहले कहा जा चुका है कि महायुद्ध के बाद विश्वव्यापी मन्दी आई और भारतीय उद्योगों पर भी उसका व्यापक प्रभाव पड़ा। अतः भारतीय पूँजीवाद ने स्वतंत्रता का जो भ्रम खड़ा किया था वह भी टूट गया। १९२७ के बाद देशभर में औद्योगिक हड़तालें होने लगीं। बेकारी फैली और पूँजीवाद के स्वार्थ अपने नग्न रूप में सामने आ गये। अतः मध्यवर्गीय छायावादी कवि ने पूँजीवाद के प्रभाव से अनियंत्रित स्वतंत्रता की जो कल्पना की थी वह टूट गई और जीवन उसे और भी विकराल और बन्धनग्रस्त मालूम होने लगा। एक ओर तो मध्यवर्ग की जड़ें सामन्ती समाज-व्यवस्था में थी जो अँग्रेजी राज्य के संरक्षण और भारतीय पूँजीवाद की प्रबलता के कारण अब भी अपनी रूढ़ियों और बन्धनों को जिलाये जा रही थीं। दूसरी ओर पूँजीवाद की व्यक्तिवादी मनोवृत्ति को ग्रहण कर वह अनियंत्रित स्वतंत्रता का अभिलाषी हो गया था। पर अपने अन्तर्विरोध और स्वार्थ के कारण पूँजीवाद ने उसे प्राप्त नहीं होने दिया। उधर राजनीतिक स्वतंत्रता की लड़ाई में बार-बार असफलता मिलती रही। महायुद्ध के बाद राष्ट्रसंघ की असफलता के कारण पश्चिमी देशों में भी यह स्पष्ट होता जा रहा था कि जिस मानवी स्वतंत्रता के लिये युद्ध लड़ा जा रहा था वह प्राप्त नहीं हुई और पूँजीवाद अपने विकृत रूप में मनुष्य की स्वतंत्रता को और भी भयानक रूप से लीलता जा रहा था। इस विश्वव्यापी निराशा की लहर भारत में भी आई। इन सब बातों ने मिलकर मध्यवर्गीय कवि को अहंवादी, भाग्यवादी और निराशावादी बना दिया। फलस्वरूप १९३० के बाद छायावादी कविता में निराशा, भ्रम, मृत्यु-पूजा, क्षयी रोमान्स, काल्पनिक अस्वस्थ ऐन्द्रिकता और घोर समाजविरोधी अनुत्तरदायित्व की प्रतिक्रियावादी भावनायें दिखलाई पड़ने लगीं। वह समाज को शत्रु के रूप में देखने लगा और समाज उसके व्यक्तित्व को कुचलने वाला मालूम पड़ने लगा। अतः वह दुनिया से दूर होता गया। उसने अपने मन की अतृप्ति, लालसा और इच्छित विश्वासों

को, जो उसके जीवन में मूर्त नहीं हो सकते थे, काव्य में मूर्त किया। समाज ने न तो छायावादी कवियों के अनियंत्रित जीवन को ही स्वीकृति दी और न उनके काव्य को ही। प्रतिक्रियास्वरूप वे अज्ञात वेदना में डूबकर शून्य को मुखरित करने लगे, 'पीड़ा', 'आँसू', 'काली रजनी', 'स्मशान', 'स्वप्न', 'अन्धकार' आदि उनके काव्य के उपादान हुए। उन्होंने नियति के आगे अपना सर झुका दिया। ऐसा इसलिये हुआ कि उन्हें व्यक्ति की असफलता और अभाव के कारणों का ज्ञान नहीं था। पूँजीवादी स्वतंत्रता के भ्रम का आधार ही अज्ञान है। अतः पूँजीवाद के इन कवियों ने अभाव, वेदना, समाज की विषमता आदि को शाश्वत मान लिया और निराशा के गहरे सागर में गोते लगाने लगे। यथार्थ जीवन की असंगतियों और उनके कारणों का विश्लेषण करने की ओर उनका ध्यान नहीं जा सका। अपने दुखों को भुलाने और कठिनाइयों से मुक्ति पाने के लिये फारसी कविता के हाला, प्याला, मधुशाला तथा मधुबाला की शरण ली गई। निशा को निमंत्रित करके कल्पित साथी को एकान्त में अपने दर्दों का संगीत सुनाया गया। 'पलाश-वन' की रंगीन छाया में असफल प्रेम की रागिनी गाई गई। इस तरह व्यक्ति की 'अपराजिता' शक्ति ने हथियार डालकर विशुद्ध कला की उपासना शुरू कर दी। किन्तु १९३० के बाद की सभी कवितायें ऐसी ही नहीं हैं। कुछ कवियों ने जीवन के दुखों के निदान और उपचार के सम्बन्ध में भी चिन्तन किया। वस्तुतः दर्शन का प्रारम्भ ही दुख और निराशा से होता है। जिन कवियों ने पराजय नहीं स्वीकार की वे भावना के क्षेत्र से दर्शन और चिन्तन के क्षेत्र की ओर मुड़ गये। अतः परवर्त्ती छायावाद में जीवन के प्रति विश्लेषणात्मक और बौद्धिक दृष्टिकोण अपनाया गया यद्यपि उसमें भी वैज्ञानिकता का अभाव ही था। चिन्तन की प्रधानता के कारण कवि और भी अन्तर्मुखी होता गया। जिन परिस्थितियों ने अन्य कवियों को निराशावादी और ऐन्द्रिक बना दिया उन्होंने ही इन कवियों को अन्तर्मुखी चिन्तन और आन्तरिक सामञ्जस्य की ओर भी बढ़ने के लिये प्रेरित किया। अतः इनमें से किसी ने वेदना को जगत का कल्याण करने वाला माना, किसी ने उसे व्यक्ति को पवित्र बनाने का साधन माना। इस तरह दुख को आदर्शवादी आवरण दिया गया * और कवियों ने दुख के माध्यम से ही अपने

---

* "पल्लव और गुंजन के बाद मेरा किशोर भावना का सौन्दर्य-स्वप्न टूट गया। पल्लव की 'परिवर्तन' कविता दूसरी दृष्टि से मेरे इस मानसिक परिवर्तन की द्योतक है। इसलिये वह पल्लव में अपना विशेष व्यक्तित्व रखती है। दर्शन-शास्त्र और उपनिषदों के अध्ययन ने मेरे रागतत्व में मंथन पैदा कर दिया और

जीवन और काव्य का उन्नयन किया।* भारतीय दर्शन से इन कवियों को बहुत अधिक प्रेरणा मिली। अस्तु; इन कवियों की कविता में सूक्ष्मतम अनुभूतियों, भावना के हल्के रंगों, दुख की गंभीर रेखाओं और करुणा के विविध रूपों की अधिकता दिखलाई पड़ती है। विषय की गंभीरता के कारण इनकी कविता भी दुरूह, संश्लिष्ट और बौद्धिक हो गई है। उसमें दर्शन की उँचाई और विचारों की गहनता तो है किन्तु अनुभूतियों की तीव्रता और संवेगों का सीधापन कम है। फिर भी इन्होंने जीवन में त्याग, साधना और बलिदान का महत्व स्वीकार किया और एक सीमा तक सामाजिक आदर्शों के सम्बन्ध में विचारोत्तेजना उत्पन्न की। प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी इन सभी कवियों में १९३० के बाद उपर्युक्त अन्तर्मुखी चिन्तन और मानवतावादी आदर्शवाद की प्रवृत्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं। ये ही कवि धीरे-धीरे आदर्शलोक को छोड़ कर सामाजिक यथार्थ की भूमि की ओर बढ़ने लगे।

ऐसा होना अनिवार्य था क्योंकि कवि का स्वप्नलोक, उसकी अन्तुर्मुखी कल्पना और उसके आदर्श सामाजिक यथार्थ से अधिकाधिक दूर हटकर अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सकते थे। यूरोप में ह्रासोन्मुख पूँजीवाद के विरोध में सर्वहारावर्ग क्रान्ति कर रहा था और भारत में भी उस क्रान्ति की पुकार पहुँच रही थी। पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि भारत की आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों में १९३० के बाद बहुत कुछ परिवर्तन हुआ। पूँजीवाद के विकास के साथ ही साथ सर्वहारावर्ग का उदय हुआ और वर्ग-

---

उसके प्रवाह की दिशा बदल दी। मेरी निजी इच्छाओं के संसार में कुछ समय तक नैराश्य और उदासीनता छा गई। मनुष्य के जीवन के अनुभवों का इतिहास बड़ा ही करुण प्रमाणित हुआ। जन्म के मधुर रूप में मृत्यु दिखाई देने लगी, वसंत के कुसुमित आवरण के भीतर पतझर का पंजर।"

(पंत-आधुनिक कवि—पृष्ठ ४)

*"दुख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें किन्तु हमारा एक बूंद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता। मनुष्य सुख को अकेला भोगना चाहता है परन्तु दुख सब को बाँट कर। विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि की मोक्ष है।"

('रश्मि' की भूमिका-महादेवी वर्मा—पृष्ठ ७)

संघर्ष की भावना बढ़ चली। मध्यवर्ग का स्वतंत्रता का भ्रम टूटा और वह निराशा और चिन्तन की अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों की ओर बढ़ा, दूसरी ओर इसी वर्ग के कुछ लोगों ने पूँजीवाद से होने वाले संघर्ष में सर्वहारावर्ग का साथ भी भी दिया। देश की बढ़ती हुई बेकारी, गरीबी और साम्राज्यवादी शासन की कठोरता के विरुद्ध सामान्य जनता की संघर्ष की भावना बढ़ती गई और राजनीतिक आन्दोलनों के साथ-साथ लगान-बन्दी आन्दोलन, हड़तालें और हिंसात्मक षड्यन्त्र होने लगे। कम्युनिस्ट और सोशलिस्ट पार्टी के प्रचार और मेरठ-षडयन्त्र-केस की गूंज ने उस भावना की वृद्धि में सहायता की। इस भावना की अभिव्यक्ति कविता में भी हुई। कवि अबतक पूँजीवाद के स्वर में स्वर मिलाकर मानवात्मा की मुक्ति की पुकार करता था किन्तु स्वार्थी पूँजीवाद ने समानता, स्वतंत्रता और बन्धुत्व के सिद्धान्त को केवल अपने वर्गतक ही सीमित रखा जिससे सर्वहारावर्ग विद्रोही हो उठा। अतः कवियों में से भी कुछ ने इस सामाजिक यथार्थ का अपनी कविता में चित्रण किया। इस तरह छायावाद का मानवतावादी आदर्शवाद का स्वर बदलकर धीरे-धीरे यथार्थवादी बनने लगा। इस तरह १९३६ के बाद हिन्दी कविता में प्रगतिवाद का प्रारम्भ हुआ जो एक विशेष राजनीतिक दल की विचारधारा से बँध कर बाद में कोरा प्रचारात्मक बन गया। छायावाद के रूप-परिवर्तन में इस नयी विचारधारा का बहुत अधिक हाथ था।

इस प्रकार १९१९ से लेकर १९३९ तक की हिन्दी कविता में छायावाद का, जिसमें पूँजीवादी और राष्ट्रीयतावादी विचारधारा की प्रधानता थी, प्रारम्भ और विकास हुआ जिसकी विविध प्रवृत्तियों और उनके कारणों का विश्लेषण ऊपर किया गया है। इस काल की कविता की सब से बड़ी विशेषता यह थी कि इसके रूपविधान में निरन्तर प्रयोग और परिवर्तन होता रहा। इसका कारण यह था कि पूँजीवाद स्वयं अपने आधार में निरन्तर परिवर्तन करता रहता है जिससे सामाजिक सम्बन्धों में भी तीव्र गति से परिवर्तन होता रहता है। पूँजीवाद एक तरफ तो व्यक्ति-स्वातंत्र्य, स्वतंत्र बाजार, सामाजिक सम्बन्धों से मुक्ति और समानता आदि की मांग करता है और दूसरी तरफ और भी दुरूह सामाजिक सम्बन्धों, असमानता, एकाधिकार तथा राजनीतिक नियंत्रण को उत्पन्न करता रहता है। अतः पूँजीवाद के इस अन्तर्विरोध के कारण सामाजिक सम्बन्धों में जो परिवर्तन होता है उसका प्रतिबिम्ब पूँजीवादी कविता में भी दिखलाई पड़ता है। छायावादी कविता की विषय-वस्तु और रूपविधान का इतिहास इसी निरन्तर परिवर्तन का इतिहास है। छायावाद में रीतिकाल की स्थूल प्रवृत्तियों के विरुद्ध

जो विद्रोह हुआ था वह स्वयं रूढ़ि बन गया। अतः उसकी सूक्ष्मता और अतिशय भावुकता के विरुद्ध फिर विद्रोह हुआ और व्यक्तिवादी निराशावाद, अहंवाद और अन्तर्मुखी चिन्तन की प्रवृत्तियों का उदय हुआ। किन्तु यह परिवर्तन भी स्थायी नहीं था, क्योंकि ये प्रवृत्तियाँ भी जग-जीवन की असुन्दरताओं और विभीषिकाओं से दूर एक अलौकिक संसार में ही व्यक्ति को रमाती थीं। दर्शन के अध्ययन, मनन और चिन्तन से कवियों में अवश्य कटु सत्य के साक्षात्कार की प्रवृत्ति बढ़ी और कवि भावुकता को छोड़कर संस्कारशील बौद्धिकता का आश्रय ग्रहण करने लगे। इस काल में वैज्ञानिकता का भी सहारा लिया गया और विज्ञान-विरोधी अलंकारों का प्रयोग नहीं किया गया। वर्ग-संघर्ष की चेतना उत्पन्न होने पर कवि चिन्तन और कल्पना के शीशमहल (Ivorytower) से बाहर निकल कर सर्वहारावर्ग का समर्थन तथा पूँजीवादी-साम्राज्यवादी शोषण का विरोध करने लगे। यद्यपि इनमें भी भविष्यवादी, मानवतावादी अथवा आदर्शवादी क्रान्ति की अयथार्थ प्रवृत्तियाँ कम नहीं थीं। इस तरह बीस वर्ष के अल्पकाल में ही छायावादी कविता की विषय-वस्तु में बार-बार परिवर्तन होते रहे, फलतः काव्य-भूमि का विस्तार होता रहा। इसी प्रकार कला के सम्बन्ध में भी प्रत्येक कवि ने नवीनता की उद्भावना की। पन्त, निराला और प्रसाद ने प्रगीत मुक्तक (Odes) गीत और मुक्तछन्द की लम्बी कवितायें अपनी विशिष्ट शैली में लिखीं, महादेवी ने गीत-काव्य में मीरा और-सूर की परम्परा को कुछ कदम आगे बढ़ाया, बच्चन ने हृदय की सच्ची अनु। केभूतियों को सीधे-सादे शब्दों में पाठकों तक पहुँचाने की सीधी शैली अपनाई सुभद्राकुमारी चौहान, माखनलाल चतुर्वेदी और दिनकर ने ओजपूर्ण शब्दों में राष्ट्रीयता की भावना को मूर्त किया। छायावादी काव्य के इस बहुमुखी विकास के काल में सामन्त-युग और पुनरुत्थान-युग की काव्य-परम्परा भी क्षीण रूप से चलती रही किन्तु साहित्य की प्रधान धारा में उसका विशेष महत्व नहीं था; इसलिये उनके सम्बन्ध में यहाँ विचार नहीं किया जा रहा है।

दार्शनिक पीठिका

महायुद्ध के बाद हिंदी कविता की धारा ऐसे नये मार्ग से बहने लगी जिसे हिंदी साहित्य ने इसके पहले नहीं देखा था। अनेक तरह की भाव-भूमियों और सम-विषम विचारक्षेत्रों से होकर वह धारा बही। इस धारा में सब से गहरा रंग छायावाद-रहस्यवाद का था। और इसी कारण नये युग का नाम ही छायावाद-युग पड़ गया। प्रारम्भ में इस ढंग की कविताओं की भरमार सी हो गई थी, जिसकी उपमा वर्षा-ऋतु में गंगा की बाढ़ से दी जा सकती है। पर बाद में वह बाढ़ हट गई और विशुद्ध रहस्यवाद तथा छायावाद की धारा का रूप स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगा। छायावादी कविता की विचारधारा का उद्‌गमस्थान दर्शनों की घाटियाँ हैं। अतः नये कवियों की दार्शनिक प्रेरणा के उद्गम-स्थलों पर विचार कर लेना आवश्यक है।

कवि भी उसी सत्य का उद्घाटन करता है जिसका दार्शनिक; किन्तु दोनों के साधन और प्रयोगों में मौलिक अन्तर होता है। दार्शनिक और कवि एक नहीं होते, फिर भी दोनों एक ही चित्र के दो पहलू हैं। दार्शनिक बुद्धि-क्षेत्र से होकर अपना मार्ग निर्माण करता हुआ अपने अन्तिम लक्ष्य—सत्य—तक पहुँचता है, कवि हृदय-क्षेत्र की सीमा के भीतर अन्तर्लोक के सूक्ष्मातिसूक्ष्म सत्यों को परख कर उनका उद्घाटन करता है। दार्शनिक चिन्तनलोक का निवासी है और कवि भावलोक का। किन्तु जीवन में दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों का लक्ष्य एक ही है पर मार्ग अलग-अलग हैं। नानात्व में एकत्व की खोज दोनों करते हैं किन्तु एक का प्रकाश-दीप बुद्धि है और दूसरे का पथ-प्रदर्शक हृदय। इसीसे दोनों की सीमायें मिली रहती हैं और दोनों कभी-कभी एक दूसरे की सीमारेखा का उल्लंघन करते हुए पाये जाते हैं। कवि भी एक सीमा तक दार्शनिक होता है और दार्शनिक भी कुछ अर्थों में कवि होता है। कवि के दर्शन का आधार स्पन्दनशील जीवन है और दार्शनिक के दर्शन का आधार सत्य की खोज। कवि का दर्शन जब जीवन की अनुभूतियों से रूप, कल्पना से रंग और भावनाओं से सौन्दर्य ग्रहण करके सजीव हो उठता है, तो उसे कविता कहते हैं। कवि

का यह दर्शन सापेक्ष्य होता है, निरपेक्ष्य या निस्संग नहीं। वह जीवन के अस्तित्व को शून्य मानकर एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। जीवन के प्रति उसकी आस्था ही उसका दर्शन है। किन्तु उसका यह जीवन-दर्शन दार्शनिक के सत्यों के मेल में ही रहता है, उनका विरोधी नहीं। कवि की यह दार्शनिकता या तत्त्वज्ञान कभी तो प्रातिभ और अनुभूत होता है और कभी पठित और अर्जित। यह अर्जित ज्ञान बहुधा उसे दार्शनिक से ही प्राप्त होता है।

भारतीय संस्कृति में एक ध्यान देने योग्य विशेषता यह है कि यहाँ साहित्य और कला का धर्म से अलग स्थान नहीं था। वस्तुतः यहाँ धर्म को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रधान स्थान दिया गया। जीवन और धर्म अविच्छिन्न थे। वैदिककाल से लेकर आज तक के भारतीय वाङ्मय में वह आध्यात्मिक धारा बहती हुई दिखाई पड़ती है। यह दूसरी बात है कि किसी युग में इसकी गति स्पष्ट, तीव्र और व्यापक है और किसी में क्षीण, प्रच्छन्न और सीमित। हिंदी भाषा और साहित्य के विकास के बाद उक्त आध्यात्मिक स्पन्दन भक्तिकाल की कविता में स्पष्ट और व्यापक रूप में लक्षित हुआ था। कालगति से वह स्पन्दन रीतिकाल में फिर रुक सा गया। द्विवेदी-युग में उसे जाग्रत करने की भूमिका तैयार हुई और छायावाद-युग में, जो राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना का काल था, कला की काया में वह समन्वयात्मक अध्यात्म पुनः स्पन्दित हो उठा। इस नवजागरण और परिवर्तन के कारण दिखलाये जा चुके हैं। यहाँ यही दिखलाना उद्देश्य है कि छायावाद-युग में इस आध्यात्मिक स्पन्दन के प्रेरणा-स्थल कौन से हैं।

छायावाद-युग की आध्यात्मिक रंग में रँगी कविता की प्रधान धारा रहस्यवाद है। रहस्यवाद विश्व की परमसत्ता (Transcedental reality) का बोध और साक्षात्कार है। प्रसाद जी के अनुसार "इसमें अपरोक्ष की अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहं का इदं से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है। हाँ, विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बनकर इसमें सम्मिलित है।" यह आध्यात्मिक अनुभूति की वह अवस्था है जिसमें साधक परमात्मा के मिलन का चरम प्रयास करता है। यह क्रिया कई साधना-पद्धतियों से सम्पन्न होती है। अहं (आत्मा) और इदं (जगत) का समन्वय तभी हो सकता है जब साधक की दृष्टि आध्यात्मिक तथा सूक्ष्म हो और उसकी अनुभूति परिपक्व हो गई हो।

रहस्यवाद

रहस्यवाद साधना के विविध-मार्ग ग्रहण करके अनेक रूपों वाला हो गया। भक्ति-सिद्धान्त के आधार पर मानव-हृदय की विविध प्रकार की भावनाओं को

अभिव्यक्ति, दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर आत्मा, परमात्मा और जगत के नित्य संबंधों की काव्यात्मक व्याख्या, एक ही पारमार्थिक सत्ता का समस्त व्यक्त जगत के जड़-चेतन सभी रूपों में दर्शन, परमात्मा की माधुर्य-भावनायुक्त उपासना तथा जगत को दुख का आगार मान कर परमात्मा से आत्मा को आध्यात्मिक विरह की उद्भावना, ये कुछ पद्धतियाँ हैं जिनमें रहस्यवाद की भावना अभिव्यक्त हुई। इस ढंग की कविता लिखने वालों में सर्वश्री जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी, 'निराला', सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा और माखनलाल चतुर्वेदी प्रमुख हैं। उनके प्रेरणाधार वे विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्त तथा उपासना-पद्धतियाँ हैं जो वैदिक काल से भक्तिकाल तक भारतीय वाङ्मय में सर्वत्र मिलती हैं। कहा जा चुका है कि बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों का काल सांस्कृतिक पुनरुत्थान का काल है। आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, स्वामी विवेकानंद, स्वामी रामतीर्थ तथा बँगला के रहस्यवादी कवि रवीन्द्रनाथ का जबर्दस्त प्रभाव नई पीढ़ी के कवियों पर पड़ा। आर्यसमाज वेदों पर जोर दे रहा था, स्वामी विवेकानंद ने वेदान्त के सिद्धान्तों को लिया, साथ ही भक्ति, योग और कर्म को भी अपनाया। स्वामी रामतीर्थ ने शंकराचार्य के अद्वैतवाद को ग्रहण करके भक्ति और प्रेम के मार्ग को प्रधानता दी। लोकमान्य तिलक ने गीता का विद्वत्तापूर्ण भाष्य 'गीता-रहस्य' लिखकर शिक्षित जनता को उपनिषदों के ज्ञान और षड्दर्शनों के अध्ययन की ओर प्रवृत्त किया। महात्मा गांधी ने अहिंसा मार्ग को अपनाकर तथा गीता के निष्काम-कर्मयोग को ग्रहण करके न केवल अपने, बल्कि सारे राष्ट्र के जीवन को उसी मार्ग पर ले चलने का प्रयत्न किया। पुरातत्त्व-विभाग ने अपने प्रयत्नों से बौद्ध धर्म की अनेक अज्ञात बातों को प्रकट कर दिया था। इन सब प्रभावों के कारण वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों, षड्दर्शनों, गीता और शैव तथा बौद्ध-दर्शनों का अध्ययन किया जाने लगा। स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद ने इन सब का गहन अध्ययन किया था। उस काल के सभी सचेत कवियों—निराला, पंत, महादेवी आदि ने उपनिषदों और वेदान्त का अध्ययन किया। उन पर बौद्ध-दर्शन के दुःखवाद का भी बहुत प्रभाव पड़ा है। निराला मस्तिष्क से तो अद्वैतवादी हैं किन्तु हृदय से भक्ति और प्रेमवादी। यह रामकृष्ण परमहंस और विवेकानंद का प्रभाव है। प्रसाद पर उपनिषदों, काश्मीर के आगमवादियों के शैव-दर्शन और बौद्ध-दर्शन का काफी प्रभाव पड़ा है। पन्त पर उपनिषदों का प्रभाव स्पष्ट है। इनके अतिरिक्त रविबाबू और हिन्दी के पुराने निर्गुण-पंथी कवि कबीर आदि तथा मीरा का अव्यक्त प्रभाव तो सभी कवियों पर दिखलाई पड़ता है। पश्चिम का दार्शनिक सिद्धांत तो प्रारंभ में अंग्रेजी के

स्वच्छंदतावादी कवि वर्ड्सवर्थ, शेली और कीट्स के सर्ववाद (Pantheism) के रूप में ही आया। किन्तु बाद में मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद क्रान्ति और प्रगति की कविताओं में स्पष्ट रूप से गृहीत हुआ। कहना न होगा कि पन्त जी ने पाश्चात्य दर्शन का सम्यक् अध्ययन किया और उनकी कविता का नवीन विकास उसीका परिणाम है। यहाँ उन दार्शनिक सिद्धान्तों और उपासना-पद्धतियों पर कुछ विचार कर लेना तथा यह देख लेना कि रहस्यवाद की परम्परा वेदों, उपनिषदों तथा बाद के संस्कृत साहित्य में किस तरह चली, आवश्यक है।

वेदों में ईश्वर की भावना

प्राचीन आर्यों ने आदिकाल में ही सम्पूर्ण सृष्टि में क्रियाशील प्राकृतिक शक्तियों को देवरूप में ग्रहण किया था। ऋग्वेद संहिता के प्रथम सूक्त की पहली ऋचा ही अग्नि देवता की स्तुति में है।* इसमें विश्व-हितैषी अग्निदेव के कल्याणकारी भावों की अनुभूति के लिये विश्वव्यापिनी अग्नि-शक्ति का रूपक 'सर्वहितैषी-कर्मशील-कल्याणेषु' पुरुष के साथ बाँधा गया है। संहिता में सभी देवताओं या चिन्तन के विषयों की व्यंजना इन्हीं रूपकों से युक्त आख्यानों के रूप में हुई है।† उसी तरह वरुण, इन्द्र, मरुत् आदि देवताओं की स्तुतियों में रूपक की भाषा का प्रयोग कर जो हृदयोद्गार प्रकट किये गये हैं वे वास्तव में अनुभव के जीवित चित्र हैं। यह स्तुति न तो कोरी भक्तिभावना थी न अंधविश्वासजनित कर्मकाण्ड, प्रत्युत यह एक स्वाभाविक चैतन्य का अनुभव मात्र था, जिसके सहारे सुन्दर प्रकृति के आँगन में शान्ति और सुखों के अभिलाषी ऋषियों ने अपने कर्मरत जीवन को परोक्ष सत्ताओं के साथ संयुक्त करने का प्रयत्न किया।

मूर्त जगत् की सभी विहँसती सत्ताओं ने उनका ध्यान आकर्षित किया। सभी से उन्होंने 'भद्रं करिष्यसि' की प्रार्थना की। वे देवताओं से स्वर्ग या मोक्ष की कामना नहीं करते थे बल्कि जीवन को ही सुखी और चिरायु बनाने की

---

*. अग्निमीले पुरोहितं
यज्ञस्य देवमृत्विजं।
होतारं रत्नधातमं॥

†. The hymns of Rgveda being mainly invocations of the gods, their contents are largely mythological." Macdonell—History of Sanskrit literature. P. 67

प्रार्थना करते थे, जीवन ही उनके लिये अमृतत्व था।* इन स्तुतियों के बाद याज्ञिक कृतियों का समय आया। सामवेद और अथर्ववेद में इसी प्रवृत्ति की प्रधानता है। मंत्रकाल में ही इन्द्र, वरुण, सोम, अग्नि, वायु सभी एक विराट अव्यक्त शक्ति के नानारूप माने गये।† यद्यपि उसी समय अनेक देवताओं में किसी एक महान देवता या विश्व-स्रष्टा की कल्पना वे करने लगे थे।‡ साथ ही यह बात भी ध्यान देने की है कि उस काल की परिस्थितियों और जीवन ने प्रकृति के साथ तादाम्य का अनुभव करने और उस पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप करने की तत्कालीन मानव-समाज को अनेक तरह की सुविधायें दी थीं। फलतः वैदिक ऋचाओं में उषस्, मरुत् आदि को चेतन-व्यक्तित्व प्रदान किया गया। उदाहरणार्थ ऋग्वेद का द्रष्टा मेघ को प्राकृतिक परिणाम नहीं, चेतन व्यक्तित्व के रूप में देखता है।

वातत्विषो मरुतो वर्षनिर्णिजो यमाइव सुसदृशः सुपेशसः।
पिशङ्गाश्वा अरुणाश्वा अरेपसः प्रत्वक्षसो महिना द्यौरिवोरवः।
[ऋग्वेद ५–५७–४]

सुजातासो जनुषा रुक्मवक्षसो दिवो अर्का अमृतं नाम भेजिरे।
[ऋ० ५–५७–५]

["विद्युत-प्राण (तीक्ष्ण कान्ति) से उद्भासित, जलधारा के परिधान से वेष्टित यह एक से एक सुन्दर और शोभन हैं। अरुण-पीत अश्वों वाले इन वीरों ने विस्तृत अन्तरिक्ष छा लिया है। कल्याणार्थ उत्पन्न ज्योतिर्मय पक्षवाले इन आकाश के गायकों की ख्याति अमर है।" अनुवादिका—महादेवी वर्मा]

इन चित्रों को देखकर आज का सौन्दर्य प्रेमी कवि प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता था। निराला ने अपनी "बादल-राग" शीर्षक कविता में कहाः—

---

* 'उतो अस्माँ अमृतत्वे दधातन शुभं यातामनु रथा अवृत्सत;'
[ऋग्वेद ५–५५–४]

'वृष्टिं वां राधो अमृतत्वमीमहे द्यावापृथिवी वि चरंति तन्यवः।'
[ऋ० ५–६३–२]

† इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः।
[ऋग्वेद १–१६४–४६]

‡ "यो देवेष्वधिदेव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम।"
[ऋ० १०–१२१–८]

ऐ निर्बन्ध !—
अन्ध-तम-अगम अनर्गल बादल !
ऐ स्वच्छन्द !—
मन्द चंचल समीर रथ पर उच्छृंखल
ऐ उद्दाम ! अपार कामनाओं के प्राण !
बाधा-रहित विराट !—[परिमल]

और उषा के उसी सनातन सौन्दर्य ने पंत के प्राणों को मुखरित किया—

तुम नील वृन्त पर नभ के जग, ऊषे गुलाब सी खिल आईं,
अलसाई आँखों में भर कर जग के प्रभात की अरुणाई ।
× × × ×
जग के प्रदीप में जीवन की लौ सी उठ नव छवि फैलाई । [उषा-वंदना—पंत]

जिज्ञासा की भावना

जैसा कहा जा चुका है कि मंत्रकाल में ही व्यक्त-जगत के बीच अनेक रूपों और क्रियाओं में अभिव्यक्त प्राकृतिक शक्तियों की कल्पना एक समष्टि-शक्ति के रूप में की गई। ऐसा हो जाने पर उस समष्टि-शक्ति के परिचय की जिज्ञासा या अभिलाषा भी भावुकतापूर्ण ढंग से की जाने लगी। अथर्व के द्रष्टा ने जिज्ञासा की थीः—

कथं वातं नेलयति कथं न रमते मनः ।
किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदाचन ॥

[वायु क्यों बेचैन हो रहा है ? मन किसी एक स्थान में क्यों नहीं रमता ? किस सत्य को प्राप्त करने के निमित्त जल सतत प्रवाहमान रहता है ?]

कहीं-कहीं इस जिज्ञासा का उत्तर भी मिला है। ऋग्वेद का पुरुष-सूक्त इसका उदाहरण है जिसमें पुरुष की सर्वव्यापकता और सर्वशक्तिमत्ता प्रतिपादित की गई है और कहा गया है कि भूत–भव्य सभी पुरुष ही हैं।* यही जिज्ञासा की भावना निराला के इस गीत में अभिव्यक्त हुई हैः—

कौन तमके पार ?—(रे कह)
× × × ×
उदय में तम-भेद सुनयन,
अस्त-दल ढक पलक-कल तन
निशा-प्रिय-उर शयन सुखधन
सार या कि असार ?— रे कह)

---

* पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् । [ऋग्वेद १०–९०–२]
हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । [ऋग्वेद १०–१२१–१]

बरसता आतप यथा जल
कलुष से कृत सुहृत कोमल,
अशिव उपलाकार मंगल
द्रवित जल नीहार ?—(रे कह)
[गीतिका—निराला]

और महादेवी ने भी उसी अज्ञेय को जानने की उत्कट अभिलाषा प्रकट की:—

तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी
देख लूँ उस ओर क्या है ?
जा रहे जिस पंथ से युग-कल्प
उसका छोर क्या है ?

और पंत को उस परोक्ष सत्ता का आकर्षण चारों ओर मौन निमंत्रण देता प्रतीत होता है। उनकी 'जिज्ञासा' शीर्षक कविता में अथर्व का वह कवि ही जैसे गा उठा है—

शान्त सरोवर का उर
किस इच्छा से लहराकर
हो उठता चंचल-चंचल ?
× × ×
मैं चिर उत्कण्ठातुर
जगती के अखिल चराचर
यों मौन मुग्ध किसके बल ?

वेदों के बाद उपनिषदों में, जो वेदान्त के ज्ञानकाण्ड कहे जाते हैं, उस परोक्ष सर्वशक्तिमान सत्ता के विषय में सन्देह की स्थिति समाप्त हो चली थी।

उपनिषदों में ब्रह्मवाद

यद्यपि उनमें सांख्य-धाराओं की विद्यमानता है जो वेदों में भी यत्र-तत्र बिखरी मिलती हैं, किन्तु उनकी मूल धारा एकेश्वरवाद की ही है। वृहदारण्यक, श्वेताश्वतर कठ, मैत्री, छान्दोग्य, आदि में सांख्य के पुरुष-प्रकृति का द्वैतवाद भी है, किन्तु प्रधानता है एक ब्रह्म की जो कण-कण में प्रतिबिम्बित माना गया है। उपनिषदों के ज्ञानवाद की विशेषता यह है कि उनमें यज्ञों की अवज्ञा और ज्ञान की श्रेष्ठता प्रतिपादित होते हुये भी सुख-आनन्द का सर्वथा त्याग नहीं किया गया है। सांख्य सुख-दुख दोनों से मुक्ति चाहता है। वहाँ केवल शुष्क चेतना है। इन दोनों अभावों की पूर्ति उपनिषदों से हुई, द्वैतवाद की जगह एक सत्ता की स्थापना हुई और सत् के साथ चिदानंद का योग किया

गया। साथ ही इस ब्रह्मज्ञान के युग में यज्ञों की कर्मकाण्डजनित बुराइयाँ दूर करने का प्रयत्न किया गया और काममय यज्ञों का विरोध करके कर्म के बंधनों से मुक्ति का उपाय ज्ञान बताया गया।*

यहाँ यह बात विशेष रूप से ध्यान देने की है कि रहस्यवाद की जो प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं उन सबका मूल स्रोत उपनिषदों में दिखलाई पड़ता है। ऊपर कहा जा चुका है कि उपनिषदों में द्वैत और अद्वैत दोनों विचारधारायें मिलती हैं और ब्रह्म से जीव की अभिन्नता स्थान स्थान पर दिखाई गई है।† उसी परम प्रकाश से सारा विश्व प्रकाशित है और उसी चेतन से जगत अनुप्राणित है, यह विचार धारा भी प्रतिपादित की गई है।‡ ये सभी विचार धारायें वर्तमान युग की रहस्यवादी कविता में परिलक्षित होती हैं। कवि उसी का प्रकाश सर्वत्र फैला हुआ देखता है:—

> गई निशा, वह, हँसीं दिशयें, खुले सरोरुह, जगे अचेतन।
> बही समीरण, जुड़ा नयन मन, उड़ा तुम्हारा प्रकाश कतन॥
>
> [निराला—गीतिका]

सांख्य और वेदान्त की चिन्ता-धारा

उपनिषद्-काल में ब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा से यज्ञों की प्रधानता नष्ट हो गई और तार्किकों की श्रेणियाँ एक के बाद दूसरी बनती गई। उसी तर्क-शृंखला में ही षड्दर्शनों का जन्म हुआ। इनमें सांख्य-सिद्धान्त की परम्परा तो बहुत पुरानी थी। डैलमैन और प्रोफेसर मैकडोनल सांख्य विचारों का प्रारम्भ संहिताओं से ही मानते हैं। इसमें ज्ञान द्वारा सत् और असत् के पार्थक्य का चिन्तन किया गया और पुरुष और प्रकृति को ही नित्य पदार्थ माना गया। उन्हें सृष्टि और प्रलय में प्रधानता देकर प्रकृति को त्रिगुणात्मक बताया गया। उसमें पुरुष का रूप निष्क्रिय, उदासीन रखा गया और प्रकृति को कर्मशील कहा गया

---

* कर्मणा बध्यते जन्तु विद्यया च प्रमुच्यते।—प्रश्नोपनिषद्—३—७

† तत्सयं स आत्मा तत्त्वमसि।—छान्दोग्य उप०।

अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद।—बृहदारण्यक उप०।

> बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं
> सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।
> दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च
> पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्। [मुण्डक—३—१—७]

‡ तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। [मुण्डक २—२—१०]

है। साथ ही सुख-दुख दोनों से मुक्ति पाने की बात भी कही गई। सांख्य का पुरुषवाद मानव की ओर झुका था, अतः योग ने सांख्य-तत्त्वों में एक और तत्त्व 'ईश्वर' को जोड़ा। तत्पश्चात् यह सुधार एक कदम और आगे बढ़ा और 'ईश्वरासिद्धेः' के स्थान पर 'सोऽहम्' सिद्धान्त का निरूपण कर सांख्य के शुद्ध द्वैतमत को आकर्षक और लोक-मंगलकारी बनाया गया। इससे द्वैतवाद की अनेक शंकायें मिट गईं। 'सोऽहंवाद' में ब्रह्म और जीव अभिन्न माने गये और ब्रह्म ही जगत का निर्माता—एक सत्य—स्वीकार किया गया। वस्तुतः इसमें सांख्य के पुरुष, प्रकृति, भ्रान्ति और तत्त्वज्ञान के स्थान पर क्रमशः ब्रह्म, जगत, अविद्या और ज्ञान को प्रतिष्ठित किया गया। दोनों में दृश्य जगत मायिक, क्षणिक माना गया। 'सोऽहंवाद' द्वारा जीव और ब्रह्म के बीच दिखाई पड़ने वाले भेद के लिये 'स्वप्न' या 'माया' शब्द ग्रहण किया गया। ब्रह्म को सच्चिदानंद कहा गया। अपने विचारों को सर्वसुलभ और आकर्षक बनाने के लिये सोऽहंवादियों ने सांख्य के तप-ध्यान-योग द्वारा साध्य अपवर्ग को भी अपनी सिद्धमुक्ति के रूप में बदल दिया। वैदिक कर्मकाण्ड का अंत करके वैदिक ज्ञानकांड को अत्यंत उच्च स्थान देने के कारण यह सिद्धांत वेदांत के नाम से प्रचलित हुआ। पूर्व-मीमांसा के विरोध में होने के कारण यह उत्तर-मीमांसा भी कहलाया। वेदांत को ही ब्रह्मसूत्र भी कहा गया। किंतु प्रचलित वेदांत—शांकर मत के अद्वैतवाद और रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद उससे भिन्न हैं। सोऽहंवाद वेदांत का प्रारम्भिक और पुरातन रूप है। उपनिषदों में इस सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है।*

ब्राह्मण ग्रंथों में भी कहीं-कहीं सोऽहंवाद पाया जाता है। सोऽहंवादी सुख-दुःख के बंधन से मुक्ति के लिए ईश्वर की दैवी शक्ति की अपेक्षा नहीं रखते। उनका प्रयत्न सोऽहं के ज्ञान से अहंकार का नाश करके माया के बंधन से मुक्ति के लिए होता है। वे समत्व की दृष्टि धारण करते हैं और भेदबुद्धि को नहीं ठहरने देते। आध्यात्मिक शान्ति, शारीरिक सरलता मानसिक प्रकाश और नैतिक निष्पक्षता को वे अपना स्वभाव बना लेते हैं। उनके ज्ञानसागर में दुखसुख की लहरें तरंगित होकर स्वयं में ही विलीन हो जाती है। इस तरह वे 'अहं' और 'इदं' में कोई भेद नहीं देखते। जीवन में निष्काम होकर बंधन

---

* 'अजं ध्रुवं सर्वतत्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।' [श्वेताश्वतर २-१५]
'पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।'
—ईशा० १६

से मुक्त हो जाना उनका लक्ष्य है। 'सोऽहं' का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर उन्हें ब्रह्म की खोज, स्वर्ग की चाह, मुक्ति की इच्छा कुछ नहीं रह जाती।

शंकराचार्य का अद्वैतवाद

बाद में गौड़पादाचार्य, शंकराचार्य तथा उनके अनुयायियों ने वेदान्त के अद्वैतवाद का जैसा रूप स्थिर किया उसमें केवल ब्रह्म ही सत्य और नित्य माना गया और माया के कारण भिन्न प्रतीत होते जीव की ब्रह्म से अभिन्नता प्रतिपादित की गई।* 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' कह कर जीव भी ब्रह्म की भाँति शुद्ध बुद्ध मुक्त सत्य माना गया। जगत को ब्रह्म द्वारा अधिष्ठित, पर असत् और मायिक कहा गया। शंकराचार्य ने इसे दुख का महासमुद्र कहा। अविद्या मिटा कर अद्वैत ज्ञान से जीव को सुख-दुख से मुक्ति पाने की व्यवस्था यहाँ भी दी गई। उसी 'अयमात्माब्रह्म' 'तत्वमसि' और 'सोऽहं' का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। शंकराचार्य ने सामान्यतया ब्रह्म के स्वरूप को सगुण और निर्गुण दोनों माना। 'सन्ति उभयलिङ्गाः श्रुतयो ब्रह्म विषयाः'; किन्तु सिद्धान्ततः निर्गुण और अव्यक्त को ही ब्रह्म-लक्षण स्वीकार किया। उसके सोपाधिं या सगुण रूप को उन्होंने केवल उपासना में व्यवहार के लिए स्वीकार किया। जगत को उन्होंने मिथ्या प्रतीति या विवर्त कहा, जैसे रज्जु में सर्प का भ्रम। यह भ्रम या स्वप्न अविद्या या माया के कारण है। इस तरह उन्होंने सोऽहंवाद के साथ जगत के मिथ्यात्व का विचार जोड़ने में स्वप्न या माया या अविद्या का सहारा लिया। ध्यान देने की बात है कि रहस्यवाद में इस स्वप्न या माया का महत्त्वपूर्ण स्थान है। रहस्यवादी कवियों के अतिरिक्त सगुण भक्ति के कवियों पर भी इसका प्रभाव पड़ा है। कबीर, जायसी और अन्य निर्गुणपंथी कवियों में तो अद्वैतवाद के सभी सिद्धान्तों के साथ मायावाद प्रतिष्ठित है ही, मीरा-सूर-तुलसी में भी वह विद्यमान है और आधुनिक युग में निराला, प्रसाद, पन्त, महादेवी, सभी रहस्यवादी कवियों ने माया और स्वप्न के अद्वैतवादी रूप को किसी न किसी रूप में ग्रहण किया है।

सोऽहं के सिद्धान्त के पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो जानेपर यह स्वर सब ओर

---

* जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते।
नानात्वं निन्द्यते यच्च तदेवंहि समंजसम्॥
मायया भिद्यते ह्येतन्नान्यथा जं कथंचन।
तत्वतो भिद्यमानेहि मर्त्यताममृतं व्रजेत्॥
[गौड़पादः मांडूक्य कारिका—अद्वैत प्रकरण—१३—१९]

ध्वनित होनेलगा—'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय।' ब्रह्म और आत्मा के जानने पर ही जोर दिया जाने लगा क्योंकि 'आत्मा के दर्शन से ही श्रवण-मनन कर निदिध्यासन से यह अखिल जगत ज्ञात हो जाता है * और "मुमुक्षु उसे ब्रह्म ही जान कर प्रज्ञा प्राप्त करें; वह [ब्रह्म] मन से ही साक्षात्कार करने योग्य, भेद-रहित है" † इस तरह विश्वासप्रद वचनों द्वारा ब्रह्मवाद ने भारतीय विचार धारा में सर्वैकता की भावना का योग देकर दार्शनिक अन्वेषणों को एक कदम आगे बढ़ाया था, समस्त जगत में उस ब्रह्म की सत्ता देखी जाने लगीं थी ‡ और जगत की सत्ता का अध्याहार पूर्ण ब्रह्म में किया गया था। + इस प्रकार छान्दोग्य में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का आविर्भाव हुआ। ब्रह्मवेत्ताओं को यह बड़ा ही प्रिय जँचा। इस सर्वैकता के प्रचार से ब्रह्म के दो स्वरूप—व्यक्त और अव्यक्त—मान्य हो गए। उपनिषदों में इन दोनों के स्वरूप का एक साथ चित्रण हुआ है। × ब्रह्म का एक से बहुत्व उसकी माया द्वारा सिद्ध किया गया।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेति।'

—बृहदारण्यक २-५-१९

अतः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, कह कर ब्रह्म, जगत और जीव के संबंध में जो धारणा स्थिर की गई उसका प्रभाव भारतीय काव्य-साहित्यपर सर्वत्र दिखाई पड़ता है। सगुण भक्त कवियों ने भी इसे अपनाया और निर्गुण धारा वालों ने भी। तुलसी का 'सियाराम मय सब जग जानी' इसी सूत्र का रूपान्तर है। सूफियों के प्रतिबिम्बवाद और यूनानी सर्ववाद (Pantheism) में भी यही बात पाई जाती है।

---

† मनसैवाऽनुद्रष्टव्य नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इहनानेव पश्यति॥

* बृहदारण्यक उपनिषद्

‡ 'मनो ब्रह्मेति ····आकाशो ब्रह्मेति प्राण ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति।'
[छान्दोग्य ३-१८-१-४-१०-५]

+ ओऽम् पूर्णमदः पूर्णमिदं, पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥ [बृहदारण्यक उपनिषद्-१]

× तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ [ईशावास्योपनिषद् ५]

वर्तमान हिंदी कवियों के रहस्यवाद में सबसे गहरा रंग इसी सर्वैकता और सर्ववाद (Pantheism) का ही है। अपनी 'सौर-मंडल' कविता में पंत यही भावना व्यक्त करते हैं—

चिन्मय प्रकाश से विश्व उदय
चिन्मय प्रकाश में विकसित लय
रवि, शशि, ग्रह, उपग्रह, ताराचय
अग जग प्रकाशमय हैं निश्चय,
× × ×
वह विश्वात्मा रे अग-जग का
वह अखिल चराचर का समुदय।

ब्राह्मण-ग्रंथ-काल में काममय यज्ञों का इतना महत्त्व बढ़ा कि सारी सिद्धियों के लिये उन्हीं का विधान होने लगा। सांसारिक दुःखों के नाश का कारण यज्ञ ही माने जाने लगे। उपनिषदों और वेदान्त के युग में इसकी प्रतिक्रिया हुई और ब्रह्मवाद तथा ज्ञान की प्रतिष्ठा हुई। फिर यह ज्ञानवाद भी अपने मार्ग पर इतना आगे बढ़ गया कि समाज में कर्म का कुछ मान ही नहीं रह गया। कायर लोग भी संन्यास का बहाना लेकर कर्म-विरत होने लगे। अतः फिर षड्दर्शनों द्वारा कर्म की प्रतिष्ठा कुछ अंशों में हुई। फिर महाभारत काल में कृष्ण ने गीता में कर्म, ज्ञान और भक्ति मार्गों का समन्वय करके निष्काम-कर्मयोग का प्रतिपादन किया।

किन्तु समाज में यह सिद्धान्त भी शक्ति-क्षीण हुआ और लोग निष्काम से सकाम कर्म की ओर झुक पड़े। ऐसी अवस्था में जैन और बौद्ध धर्मों का उदय हुआ। इसमें बौद्धधर्म बहुकाल और बहुदेशव्यापी रहा और उस का हिंदी काव्य-परम्परा पर प्रभाव भी काफी पड़ा है। अतः उसके सम्बन्ध में कुछ विचार कर लेना आवश्यक है।

सारनाथ में 'धर्मचक्रप्रवर्तन' करते हुए बुद्धदेव ने अपने पाँच शिष्यों को सर्व प्रथम यह शिक्षा दी थी—

"संसार में चारों ओर दुख ही दुख है। जन्म भी दुख है, जरा भी दुख है, अप्रिय लोगों का संयोग भी दुख है, प्रिय लोगों का वियोग भी दुख है,

बौद्ध दर्शन का दुःखवाद

इच्छा करने पर किसी चीज का न मिलना भी दुख है। सारे भौतिक-अभौतिक पदार्थ दुख ही हैं। दुख राग या तृष्णा से पैदा होता है। तृष्णा तीन प्रकार की है—काम, विभव भव। दुख का नाश राग, तृष्णा और काम के ही नाश के

नाश 'आरिय अट्ठाङ्गिक मग्ग' के ग्रहण से सम्भव है। वे मार्ग हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीविका, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि।"

इस तरह गौतम ने द्रव्ययज्ञ का परित्याग कर ज्ञानयज्ञ को ग्रहण किया। आत्मा के संबंध में आत्मवादियों से उनका मतभेद रहा और उन्होंने अनात्मवाद का प्रतिपादन किया। इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि दुख काम से और काम अहंकार और ममकार से उत्पन्न होता है। यह अहंकार आत्मन् के भाव से उत्पन्न होता है और ममकार 'पंचस्कंध युक्त' आत्मीय विचारों से। आत्मन् 'द्रव्यसत्' नहीं 'प्रज्ञाप्ति सत्' है। आत्मन् को सत्य समझने वाले आत्मीय में लीन रहकर मोह में पड़े रहते हैं और दुख के भागी होते हैं। अतः अनात्मन् या शून्यता या नैरात्म्य ही सत्य है, इस ज्ञान से आत्ममोह नहीं होता—तभी दुखों से हीन होकर निर्वाण की प्राप्ति होती है। निर्वाण में ही सच्चा सुख है। यह मरण के उपरान्त मिलने वाला नहीं बल्कि इसी जीवन में मिलने वाला, धर्मपद से उच्च आनंद की दशा का द्योतक है। सांख्य मत के समान बौद्ध मत भी शरीर को तपाने के विरुद्ध है।

बौद्ध दर्शन के इस दुखवाद का अनेक आधुनिक कवियों पर प्रभाव पड़ा है किन्तु जयशंकर प्रसाद और महादेवी वर्मा पर यह प्रभाव अधिक है। महादेवी की समस्त काव्यभूमि इसी करुणा की धारा से सिंचित है। किन्तु बौद्ध दर्शन के दुखवाद से ही ये कवि प्रभावित हुए हैं, उसके निर्वाण सिद्धान्त से नहीं; क्योंकि ये कवि आत्मवादी हैं, अनात्मवादी नहीं। महादेवी वर्मा दुख में अज्ञात प्रियतम को देखती हैं—

तुमको पीड़ा में खोजा, तुम में खोजूँगी पीड़ा।

—रश्मि

और प्रसाद जी करुणा का अभिनंदन करते हैं—

जिससे कन-कन में स्पन्दन हो
मन में मलयानिल चंदन हो
करुणा का नव अभिनंदन हो
वह जीवन-गीत सुना जा रे!

—लहर

वैदिक काल में आर्य ऋषियों की चिन्ताधारा जब बहुदेव-उपासना की ओर से एकेश्वरवाद और आत्मवाद के दो पथों पर अग्रसर होने लगी तो उनमें

आपस में संघर्ष अवश्यम्भावी था। कालान्तर में आत्मवाद का, जिसके उपास्य देवता इन्द्र थे, आर्यों में अधिक स्वागत हुआ और एकेश्वरवाद की, जिसके उपास्य वरुण थे, असीरिया आदि पश्चिमी देशों में प्रतिष्ठा हुई। सप्तसिन्धु के आर्यों ने कामयज्ञों में ही उल्लासपूर्ण आनंद की साधना की। उनमें विवेक और विज्ञान से भी अधिक आनंद को महत्त्व दिया गया और यह परम्परा निरंतर चलती रही।* उपनिषदों के ज्ञान काण्ड के बीच भी आनंद की भावना के साथ प्रेम, आमोद और प्रमोद की भावना मिलती है। वे आनंद के उपासक आत्मवादी विकल्पात्मक विचारों और तर्कों में नहीं बल्कि संकल्पात्मक अनुभूतियों और भावनाओं में विश्वास रखते थे। † उपनिषदों में स्थान-स्थान पर इसी तरह का संकल्पात्मक चिन्तन मिलता है और उनकी साधना-प्रणालियों के कुछ गुह्य और रहस्यात्मक होने का भी पता चलता है। श्रुतियों और निगमों के बाद आगमों में भी उस आनंदवाद का अनुसरण किया गया और उनके टीकाकारों द्वारा वह और भी पल्लवित हुआ। काश्मीर के शैवागम सिद्धान्त के आचार्यों ने अद्वैत-मूलक रहस्यवाद के व्यावहारिक रूप में विश्व को आत्मा का अभिन्न अंग मान लिया। शैवागमवादी आत्मा को प्रधानता देते और उसमें जगत को पर्यवसित करने के सिद्धान्त को मानते थे। सिद्धों, बौद्धों के महायान सम्प्रदाय, तान्त्रिकों, नाथ सम्प्रदाय आदि में इसी आनंदवाद की परम्परा विभिन्न रूपों में पाई जाती है।

शैवागम का आनंदवाद

आनंदमूलक अद्वैतवाद में जगत को मिथ्या मानकर दुःखवाद से उत्पन्न संन्यास और विराग की आवश्यकता न थी। यहाँ जगत से आत्मा की व्यावहारिक अभिन्नता में ही आनंद की उपलब्धि मानी गई।‡ ये जगत में कहीं भी अशिव

---

* 'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुष विधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनंद आत्मा।

—तैत्तिरीय, २।५

† 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।'

—मुण्डकोपनिषद, ३-२-३

'नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।—कठोपनिषद, १-२-९

‡ 'त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा।
चिदानंदाकारं शिवयुवति भावेन बिभृषे।'—सौन्दर्य लहरी, ३५

अमंगल का दर्शन नहीं करते, इन्द्रियों के विषयों में भी नहीं। अतः मनोनिग्रह की उन्हें आवश्यकता ही नहीं पड़ती। वे बाहर-भीतर सर्वत्र 'आनंदघन शिव' को ही व्याप्त मानते हैं। इस तरह ये समरसता के सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं। इसमें दुख के कारण दुखी और सुख में सुखी होकर भेददृष्टि रखने में विश्वास नहीं किया जाता। सुखदुख दोनों में समभाव रखने की साधना की जाती है। इस दर्शन को प्रतिभिज्ञा दर्शन कहा गया है। इसमें बाह्यचर्या या अन्तश्चर्या की आवश्यकता नहीं। केवल प्रतिभिज्ञा (Identification) की आवश्यकता होती है। महाचिति या ईश्वर जब अपनी लीला का विस्तार करता है तो यह सृष्टि व्यक्त होती है और जब उसका समाहार करता है तो अव्यक्त। दोनों ही दशाओं में आनंद वर्तमान रहता है। यह समस्त विश्व ईश्वर में ही प्रतिबिम्बित या प्रतिभासित होता है जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब। जीव उस प्रतिबिम्ब को उससे भिन्न समझता है। जब उसे प्रतिभिज्ञा हो जाती है कि यह प्रतिबिम्ब भी वही है तो उसे अपने शिवत्व का ज्ञान हो जाता है और किसी पदार्थविशेष में उसकी अनुरक्ति नहीं रह जाती। जब सब के प्रति राग या सब के प्रति द्वेष हो जाय तो उसे समरसता कहते हैं। पर सबके प्रति राग होना ही अच्छा है। द्वेष या विरक्ति के परिणामस्वरूप प्राप्त मुक्ति आनंदस्वरूप नहीं हो सकती। अतः प्रतिभिज्ञा द्वारा ही प्राप्त रागमूलक समरसता का परिणाम आनंद होता है। सुख और दुख दोनों में आनंद लेना ही समरसता है। कामायनी में प्रसाद जी समरसता के बारे में लिखते हैं—

> नित्य समरसता का अधिकार, उमड़ता कारण जलधि समान !
> व्यथा की नीली लहरों बीच बिखरते सुख-मणिगण द्युतिमान !
>
> —कामायनी

और भी—

> समरस थे जड़ या चेतन, सुन्दर साकार बना था।
> चेतनता एक विलसती, आनंद अखंड घना था।
>
> —कामायनी

उस प्रतिभिज्ञा दर्शन या आनंदवाद का प्रभाव प्रसाद पर सबसे अधिक पड़ा है। उनके महाकाव्य 'कामायनी' में इसी दार्शनिक सिद्धान्त की धारा प्रारम्भ से अन्त तक प्रवाहित हुई है।

इन विविध चिन्ताधाराओं का प्रभाव तो वर्तमान हिंदी कविता पर पड़ा ही, हिन्दी के ही प्राचीन निर्गुण कवियों ने भी वर्तमान छायावादी कवियों को प्रेरणा

दी। इन निर्गुण कवियों की वाणी साधारण जनता के बीच व्याप्त हो गई थी, जहाँ से सच्चे कवि बहुधा प्राण-वायु ग्रहण करते है। साथ ही राधास्वामी सम्प्रदाय में आदर पाने और रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा कबीर आदि का आभार स्वीकार किये जाने से इन सन्तों की बानियों की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक था।

सूफी मत और निर्गुण पंथ का प्रभाव

ध्यान देने की बात है कि स्वयं इन निर्गुणपंथ वालों ने भारतीय दर्शनों (वेदान्त, योगशास्त्र आदि) सूफीमत, तथा सिद्धों और तान्त्रिकों से प्रेरणा ग्रहण की थी और सूफी मत ने भी भारतीय अद्वैतवाद, सिद्ध परम्परा के साधना-मार्ग, बौद्धों के निर्वाण सिद्धान्त तथा भारतीय भक्तिमार्ग से बहुत सी बातें ली थीं। अत: यहाँ निर्गुण पंथ तथा सूफी सिद्धान्तों पर विचार करना पिष्ट-पेषण मात्र होगा। यह अवश्य है कि कुछ आधुनिक हिंदी कवियों ने भी उपासना की माधुर्यभावना में परमात्मा और साधक दोनों को पुरुष रूप में ही चित्रित किया है जब कि माधुर्यभाव के भारतीय उपासकों ने आत्मा को स्त्री रूप में देखा और सूफी साधकों ने ईश्वर को स्त्री रूप में स्वीकार किया। 'हाल' और 'शराब' की भावना भी बेहोशी और मधुचर्या के रूप में सूफीमत के ही प्रभाव से हिंदी में आयी जान पड़ती है। इसी तरह निर्गुण पंथियों और सूफी कवियों का प्रतीक-पद्धति में जीवन के गूढ़ रहस्यों के उद्घाटन का ढंग भी अपनाया गया है। सूफी और निर्गुण कवियों का रहस्यवाद साधनात्मक और भक्तिमूलक था जब कि आधुनिक कवियों का रहस्यवाद बौद्धिक और बहुत कुछ कल्पना-प्रधान है। इसके अतिरिक्त सगुण भक्ति का प्रभाव भी कुछ कवियों पर पड़ा है जिनमें मैथिलीशरण गुप्त, रत्नाकर और वियोगी हरि प्रधान हैं।

महायुद्ध के बाद हिन्दी कविता में राष्ट्रीय विचारों के साथ अन्तर्राष्ट्रीय विचारों का भी प्रवेश होता गया। विभिन्न देशों की राज्यक्रान्तियों, विशेषकर रूसी राज्यक्रान्ति के प्रभाव से क्रान्ति की भावनाओं तथा समाजवादी विचारों का जोर बढ़ने लगा। फलस्वरूप हिंदी कविता भी इनसे प्रभावित हुई। प्रारम्भ में तो विद्रोह और क्रान्ति की ही पुकार सुनाई पड़ती थी पर बाद में जीवन के दृष्टिकोण को ही बदलने का स्वर सुनाई पड़ने लगा और श्रमजीवी वर्ग की ओर विशेष ध्यान रखकर समाज और साहित्य की पुरानी मान्यताओं और मूल्यों को हटाकर उनकी जगह मार्क्सवादी दर्शन द्वारा प्रतिपादित नवीन मान्यताओं और मूल्यों को प्रतिष्ठित करने की आवाज उठाई गई।

मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

मार्क्सवाद भौतिकवादी दर्शन है। वह पदार्थ (Matter) की प्रधानता में विश्वास करता है। उसके अनुसार जगत का आत्मा से बाहर और स्वतंत्र अस्तित्व है। पदार्थ परिवर्तनशील है और उसका इतिहास होता है। अतः कोई वस्तु स्थिर और अपरिवर्तनशील नहीं हो सकती। पदार्थ और चेतना के सम्बंध में मार्क्सवादी दर्शन कहता है कि भूत से चेतना का विकास होता है। विरोधजन्य गतिशील भौतिकवाद (Dialectical materialism) के अनुसार पदार्थ से ही चेतना का विकास होता है। मार्क्स ने यही सिद्धान्त सामाजिक जीवन पर भी घटित किया और सिद्ध किया कि मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व का निरूपण नहीं करती बल्कि उसका सामाजिक अस्तित्व ही उसकी चेतना का रूप निर्माण करता है। इस तरह जीवन के भौतिक साधनों के उत्पादन के ढंग से ही सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक जीवन का निरूपण होता है किन्तु बौद्धिक कारण भी इतिहास की गतिविधि पर प्रभाव डालते हैं और परिवर्तनों के रूप-प्रकार निर्मित करने में प्रमुख भाग लेते हैं। मनुष्य और उसका विकास मार्क्सवादी दर्शन का केन्द्रविन्दु हैं। उसके अनुसार भौतिक शक्तियों और मनुष्य के संघर्ष के फलस्वरूप ही सामाजिक जीवन का विकास होता है। मार्क्सवाद वर्ग-संघर्ष, वर्गहीन समाज, जीवन के प्रति स्वस्थ आशावादी और सामाजिक दृष्टिकोण और लोकमंगल की साधना में विश्वास रखता है। इस चिन्ताधारा के सफल कवि पंत जी हैं उन्होंने 'सृष्टि' नामक कविता में लिखा है—

> मिट्टी का गहरा अंधकार, डूबा है उसमें एक बीज!
> वह खो न गया, मिट्टी न बना, कोदो-सरसों से क्षुद्र चीज!
>
> × × ×
>
> बंदी उसमें जीवन-अंकुर जो तोड़ निखिल जग के बंधन
> पाने को है निज स्वत्व-मुक्ति, जड़ निद्रा से जगकर चेतन!

इन सब दर्शनों के अतिरिक्त दो वर्तमान व्यक्तित्वों का भी बहुत अधिक प्रभाव आधुनिक कविता पर पड़ा है। वे व्यक्तित्व हैं—रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गांधी।

गांधी जी और रवीन्द्रनाथ

महात्मा गांधी हिन्दू धर्म की आत्मा के सन्देश वाहक थे, किन्तु वे सब धर्मों के सार को स्वीकार करते थे। वे कट्टर ईश्वरवादी, तपश्चर्या में आस्था रखने वाले, अहिंसावादी और मानववादी थे। उनका अध्यात्म, लोक से बाहर अन्तःसाधनामूलक नहीं, वे लोकमंगल की साधना में ही ईश्वर की प्राप्ति देखते थे। उनका मार्ग गीता के निष्काम कर्म का मार्ग है। रवि बाबू ब्रह्मसमाज के संस्कारों में पले समस्त प्राचीन दर्शनों से प्रभावित और

पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी विचारधारा से अनुप्राणित थे, वे विश्व-मानवतावाद और विश्व-संस्कृति में विश्वास रखने वाले थे। उनका रहस्यवाद भी साधना-परक नहीं, बौद्धिक और कल्पना प्रधान है। वे निर्गुण पंथियों की तरह मात्र अन्तःसाधना में तल्लीन रहने वाले नहीं थे, उनकी काव्य-दृष्टि जीवन और जगत की अन्य भूमियों पर भी अपना विस्तार करती है। इन दोनों व्यक्तित्वों के जीवन तथा दर्शन की छाप सभी आधुनिक कवियों पर किसी न किसी रूप में पड़ी है।

उपर्युक्त दर्शनों का ग्रहण किस रूप में और किस सीमा तक वर्तमान हिंदी कविता में किया गया है, इसका कुछ दिग्दर्शन अगले खण्ड में यथास्थान किया जायेगा।

द्वितीय खण्ड

प्रवृत्तियाँ और वषयवस्तु

छायावाद-युग की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

पहले कहा जा चुका है कि छायावाद-युग की कविता पुनरुत्थान-युग की ही कविता का सहज विकास है जो रीतिकाल की स्थूल ऐन्द्रिकता, संकुचित दृष्टिकोण और काव्य-रूढ़ियों के बन्धन तथा पाण्डित्य-प्रदर्शन के विरोध में खड़ी हुई थी। पुनरुत्थान युग में आगे चलकर रीति-काल के प्रति विरोध की अभिव्यक्ति भी रूढ़ होने लगी और अधिकांश कवि देशभक्ति, समाज-सुधार, अतीत-स्तवन, ऐतिहासिक वीरों की प्रशस्ति आदि में ही मग्न रहने लगे। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रभाव के कारण श्रीधर पाठक और मुकुटधर पाण्डेय द्वारा स्वीकृत लोक-गीतों के आधार पर निर्मित और पाश्चात्य काव्य-ग्रन्थों के अनुवादों से उद्बुद्ध नवीन स्वच्छन्दतावाद का क्षीण काव्य-स्रोत रुकने सा लगा था। कवियों ने रीतिकाल की ऐन्द्रिकता और स्थूल सौन्दर्य से विद्रोह तो किया किन्तु अपनी कट्टर नैतिकता के आवेश में हृदय-पक्ष को बहुत कम महत्व दिया और सौन्दर्य का चित्रण करते समय नैतिक भावनाओं के नीचे अपनी सहज मनोवृत्तियों को दबाकर बाह्याभिव्यक्ति में ही प्रवृत्त रहने लगे। उन्हें अश्लील हो जाने का भय सदा बना रहता था। साथ ही संस्कृत काव्यादर्शों को अपनाने के कारण उन्होंने न तो हिन्दी के भक्ति-काल की तथा रीतिकालीन रीति मुक्त कवियों की भावधारा की ओर ही ध्यान दिया और न अपढ़ जनता के बीच फैले लोकगीतों की स्वच्छन्द और सरल भावधारा ही अपनायी। फलस्वरूप यह काव्यधारा भी एक ओर तो हृदयपक्ष-शून्य होकर इतिवृत्तात्मक हो गयी और दूसरी ओर सामान्य जनता की परम्परागत भावधारा से उसकी दूरी बढ़ने लगी। यह स्थिति अधिक दिनों तक नहीं रह सकती थी। अतः छायावाद की जो काव्य-धारा सामने आयी वह अपने स्वरूप और प्रभविष्णुता में यूरोप की स्वच्छन्दता-वादी कविता के मेल में रखी जा सकती है।

स्वच्छन्दतावाद जीवन के प्रति एक विशेष प्रकार का दृष्टिकोण है जो मनोवैज्ञानिक परीक्षा का विषय हो सकता है। इसमें सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूतियों का चित्र कल्पना की बारीक़ तूलिका और मर्मस्पर्शी भावनाओं के सहारे चित्रित

किया जाता है। स्वच्छन्दतावादी कविता में कवि की वैयक्तिकता सर्वत्र प्रधान रहती है, क्योंकि संवेदनशीलता और कल्पना, जो व्यक्तिवाद के मूलतत्व हैं, स्वच्छन्दतावाद में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इसमें स्वतंत्रता की चेतना बहुत प्रबल रहती है जो एक ओर तो कवि को रूढ़िगत विचारधारा और काव्यशैली के विरुद्ध विद्रोह करने को विवश करती है, दूसरी ओर उसमें क्रान्तिकारी विचारों का समावेश करके राष्ट्रीय स्वतंत्रता, सामाजिक न्याय और व्यक्ति-स्वातंत्र्य की भावधाराओं का हृदय की मार्मिक और तीव्र अनुभूतियों की गहराई से मनोवैज्ञानिक ढंग से सम्बन्ध स्थापित करती है। इसमें कल्पना की दृष्टि गतिशील और सूक्ष्म होती है जो कवि में भावावेश की तीव्रता भर देती है। साथ ही कवि की बोधवृत्ति इतनी संवेदनशील, तीव्र और सच्ची होती है कि जीवन और जगत के सभी कोने उसकी खोज की परिधि के भीतर आ जाते हैं।

स्वच्छन्दतावादी कवि का 'अहं' सदैव सचेत रहता है। अतः उसके अनुभव की सीमा में जो कुछ भी आता है उसे वह अपने कल्पनाप्रधान और भाव-प्रवण 'अहं' के रंग में रंग कर देखता है। उसकी चेतना वर्तमान से ऊब कर अतीत, भविष्य, प्रकृति के एकान्तस्थल, कल्पना-लोक अथवा अलौकिक या आध्यात्मिक जगत में रमना पसन्द करती है। यथार्थ जीवन से पलायन से उसके हृदय को रमने के लिये मनोनुकूल भूमि मिलती और उसके 'अहं' की संतुष्टि होती है। अतः वह प्रत्यक्ष रूप-विधान में उतना तत्पर नहीं होता जितना स्मृत और कल्पित रूप विधानों में। वह निर्जीव नहीं, सजीव अनुभवों से युक्त चित्र उपस्थित करना चाहता है। अतीत, भविष्य और आध्यात्मिक जगत में उसे अपने 'अहं' को अभिव्यक्त करने का बहुत अधिक अवसर मिलता है।

विस्मय की भावना का भी स्वच्छन्दतावादी कविता में महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें भी कवि वस्तु को अपनी ही आश्चर्य की भावनाओं के बीच रखकर देखता है। * उस वस्तु में निजी असाधारणता हो या नहीं, किन्तु

---

* "It seems certain that if romanticism is based in an atmosphere of wonder, this is not only because the imagination, for so long repressed, now fully indulges itself and at once seeks its satisfaction in the wonderful. All that romantic writers imagine and feel is accompanied by a shade of wonder, because they see those emotions and those images rise

कवि जिस तरह उसका रूपविधान करता है उसमें वह अवश्य रहती है। आश्चर्य की भावना बहुत कुछ उसकी सौन्दर्यानुभूति पर निर्भर करती है। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि स्वच्छन्दतावादी कवि सौन्दर्य की स्थिति वस्तु में नहीं, द्रष्टा के मन में मानता है।* किसी वस्तु के सौन्दर्य के सम्बन्ध में विभिन्न व्यक्तियों के विभिन्न मत होते हैं। साथ ही असुन्दर कही जाने वाली वस्तु में भी किसी की वृत्ति रम सकती है। अतः स्वच्छन्दतावादी कवियों का मन सर्वत्र उस विस्मय की भावना को लेकर ही रमता है। इसमें वस्तु के सुन्दर-असुन्दर होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी विस्मय की प्रवृत्ति के फलस्वरूप कवि के मन में जिज्ञासा और औत्सुक्य की भावनाओं का जन्म होता है। अद्भुत में असाधारणत्व की भावना रहती है जिसके बारे में अधिक जानकर अपनी जिज्ञासा मिटाने की आकांक्षा होती है। इसलिये स्वच्छन्दतावादी कवियों में जिज्ञासा और औत्सुक्य की भावना भी प्रबल है जो अपनी परिणति में रहस्यवाद का रूप धारण करती है।

जैसा कहा जा चुका है, स्वच्छन्दतावाद में विद्रोह की भावना प्रधान रहती है। यह विद्रोह की भावना भाव और कला दोनों पक्षों में दिखलाई पड़ती है। जब किसी विदेशी प्रभाव या अन्य किसी कारण से शिष्टों की कविताधारा सामान्य जनता की भावधारा से, जो लोकगीतों में स्वच्छन्द गति से प्रवाहित होती रहती है, दूर जा पड़ती है और अपने परम्परागत रूढ़ काव्यादर्शों के कारण थोड़े से लोगों की सम्पत्ति बनकर निर्जीव और संकुचित हो जाती है तो इसकी प्रतिक्रिया होती है। लोकगीतों की काव्यधारा में जनता के हृदय का योग रहता है जब कि शिष्टों की काव्यधारा में अधिकतर पाण्डित्य-प्रदर्शन ही रहता है। अतः जनता के हृदय का योग पाने के लिए शिष्ट-काव्य-परम्परा के

---

within themselves with a surprising spontaneousness,"

[*Louis Cazamian—A History of English Literature Page 999*]

* "Beauty is not a quality of things. The sense of beauty is the sense of ourselves passing the final aesthetic judgment on some crucial forms of our experience."

[*Lascelles Abecrombie—Towards a Theory of Arts Page 33*]

विरुद्ध विद्रोह करके सामान्य जनता की भावधारा को अपनाकर या उससे रस ग्रहण कर काव्यधारा की दिशा मोड़ी जाती है। यह परिवर्तन सामंजस्य के रूप में होता है, प्रतिक्रिया के रूप में नहीं। स्वच्छन्दतावाद का यही स्वाभाविक और सुन्दर स्वरूप होता है। क्योंकि यह काव्य का जीवन से सम्बन्ध जोड़ता है। * *कल्पना और कला, व्यक्तित्व और अभिव्यंजना,* बौद्धिकता और आदर्श-*प्रियता आदि इसके बाद में आते हैं और जीवन का परिष्कार करने तथा* अधिक से अधिक आनन्द प्रदान करने का उद्देश्य रखते हुए भी वे अतिवाद का रूप धारण कर लेते हैं जिससे काव्यधारा फिर जीवन से दूर हटने लगती है।

पहले कहा जा चुका है कि बीसवीं शताब्दी में पूँजीवाद के विकास तथा कई अन्य कारणों से मध्यम वर्ग की शिक्षित जनता उत्तरोत्तर व्यक्तिवादी होती गयी। अनुकूल परिस्थितियों के कारण अंग्रेजी और बंगला के प्रभाव से गीतितत्व और कला का विकास हिन्दी कविता में भी होने लगा। व्यक्तिवाद के विकास से हिन्दी कविता अन्तर्मुखी हो गयी; काव्य जगत का केन्द्र कवि का 'अहं' बन गया और व्यक्तिगत अनुभूतियों की अभिव्यंजना ने ही कला का स्वरूप धारण कर लिया। इस प्रकार छायावाद-युग में आत्मगत कविता (Subjective poetry) का प्रचलन हो गया। कविता में सर्वत्र कवि के मनोवेगों की तीव्रता उभर कर आने लगी। कवि समस्त विश्व को अपने 'अहं' के माध्यम से देखने लगा। अतः उसकी कविता का केन्द्र 'मैं' बन गया। ऐसा हुए बिना कविता का आत्माभिव्यंजक होना सम्भव नहीं था। इसके पहले कविता में परम्परा का पालन करते रहने से कवियों को व्यक्तिगत भावों और आवेशों को व्यक्त करने का अवसर नहीं रहता था। वह बन्धन टूट जाने से कवि को अपने मनोवेगों को प्रकट करने का अवसर मिला। अतः जब उन्होंने जीवन और जगत के नानारूपों और सौन्दर्य-सत्ताओं के साथ तादात्म्य का अनुभव किया, जैसा पूर्ववर्ती कवि कम करते थे, तो उन्हें खुलकर आत्माभिव्यक्ति करने के लिए विवश होना पड़ा। इस तरह की आत्माभिव्यंजना दो प्रकार से हुई:—(१) बाह्य वस्तु को अपनी भावना और कल्पना के रंग

---

* There is no such gulf between poetry and life as our literary persons sometimes suppose. There is no gap between our every day emotional life and material of poetry."
[*I. A Richards—Practical Criticism*]

से रंगकर और (२ अपने ही सुख-दुख, आशा-निराशा, संघर्ष और तत्व-चिन्तन को स्पष्ट रूप से व्यक्त करके।

छायावाद-युग के प्रारम्भ में पहली ही प्रणाली अपनायी गयी। इसमें कवि किसी वस्तु को देखकर उसका चित्रण उसी रूप में नहीं करता जैसी वह है, बल्कि उसके व्यक्तिगत संस्कारों, मनोविकारों और कल्पना के कारण वह उसे जैसी दिखती है उसी रूप में चित्रित करता है। इसमें कवि का व्यक्तित्व तो स्पष्ट दिखलायी पड़ता है किन्तु उसकी अपनी जीवन-कथा उसमें नहीं प्रवाहित होती। जीवन, प्रकृति, मानव, ईश्वर आदि सब की कवि अपने भवानुकूल अभिव्यंजना करता है। उदाहरणार्थ वायु से पन्त जी कहते हैं—

प्राण तुम लघु लघु गात!
नील नभ के निकुंज के में लीन
नित्य नीरव निस्संग नवीन
निखिल छवि तुम छविहीन,
अप्सरी सी अज्ञात!

—'गुंजन'

और तारों भरी रात श्री रामकुमार वर्मा को नारी रूप में दिखलाई पड़ती है।

इस सोते संसार बीच जगकर सजकर रजनी बाले,
कहाँ बेचने ले जाती हो ये गजरे तारों वाले?

'रूपराशि'

आत्माभिव्यंजन की दूसरी प्रणाली है व्यक्तिगत सुख-दुखों, आशा-निराशा आदि का सीधा वर्णन। प्रारंभ में तो छायावादी कवि ऐसा करने में कुछ संकोच करते थे और किसी व्याज से या आवरण में अपनी भावनाओं को व्यक्त करते थे किन्तु १९३० के बाद यह प्रणाली बहुत प्रचलित हो गयी। नरेन्द्र, बच्चन, अंचल आदि ने इसे चरम सीमा पर पहुँचा दिया। प्रसाद जी अपने अतीत यौवन के सुखों को स्मरण करके कहते हैं—

तुम्हारी आँखों का बचपन!
खेलता था जब अल्हड़ खेल,
अजिर के उर में भरा कुलेल,
हारता था हँस हँस कर मन!
आह रे, वह अतीत यौवन!

'लहर'

बच्चन की प्रवृत्ति तो अपनी आत्मकथा ही कहने की है:—

संघर्ष से टूटा हुआ,
दुर्भाग्य से लूटा हुआ,
परिवार से छूटा हुआ,
कितना अकेला आज मैं—'एकान्त-संगीत'

ऊपर कहा जा चुका है कि इस युग की एक प्रमुख प्रवृत्ति सौन्दर्यानुभूति और आश्चर्य की भावना की अभिव्यक्ति भी है। रीति-परम्परा के कवियों ने सौन्दर्य को स्थूल दृष्टि से देखा था. अतः उसकी मोटी-मोटी रेखायें ही अंकित कर सके। किन्तु छायावादी कवियों का सौन्दर्यबोध उनकी आत्मा का विषय था और उनकी अभिव्यक्ति उनकी अन्तर्दृष्टि का परिणाम। अतः उन्होंने सौन्दर्य की आत्मा तक पहुँचने का प्रयत्न किया। फलस्वरूप उनके सौन्दर्य-चयन का क्षेत्र सीमित नहीं था। साथही उन्होंने जो कुछ देखा, एक विस्मय की दृष्टि से देखा। अतः उनका सौन्दर्य-चित्रण मूलतः भावप्रधान था, वस्तुप्रधान नहीं। यह सौन्दर्य-चित्रण निर्जीव अथवा शारीरिक नहीं था। विस्मय जनित भावप्रवणता और चमत्कार के कारण उसमें नवीनता और प्रभावोत्पादकता आ गयी। साथ ही उनकी सौन्दर्य-भूमि का विस्तार भी हुआ। पहले केवल मानव-सौन्दर्य तक ही दृष्टि जाती थी, उसमें भी वह बहुधा बाह्य शारीरिक सौन्दर्य में ही उलझी रह जाती थी। किन्तु अब मानव के आन्तरिक सौन्दर्य की ओर अधिक दृष्टि गयी और साथ ही प्रकृति और जीवन के नाना रूपों पर भी ध्यान दिया गया। पर प्रकृति के सौन्दर्य ने ही इन कवियों का मन सबसे अधिक रमाया।

प्रकृति के साहचर्य ने उन्हें स्वप्नदर्शी, सौन्दर्य प्रेमी और कल्पना-जीवी बनाया।* प्रकृति में उन्हें वह सौन्दर्य-राशि दिखलायी पड़ी जिसने

---

* "कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहिले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्माचल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी, मुझे याद है, मैं घंटों एकान्त में बैठा प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था। और कोई अज्ञात आकर्षण, मेरे भीतर, एक अव्यक्त सौन्दर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब कभी मैं आँखें मूँदकर लेटता था, तो वही दृश्य-पट, चुपचाप मेरी आँखों के सामने घूमा करता था···और यह शायद पर्वत प्रान्त ही का प्रभाव है कि मेरे भीतर विश्व और जीवन के प्रति एक गम्भीर आश्चर्य की भावना, पर्वत ही की तरह निश्चलरूप से, अवस्थित है।"
[श्री सुमित्रानन्दनपन्त—आधुनिक कवि–पृष्ठ १–२।]

उनकी विस्मय की भावना को जगाया, साथ ही उनमें जिज्ञासा और औत्सुक्य की भावना भी उत्पन्न की। * प्रकृति के सुन्दर और मधुर रूपों का चित्रण तो उन्होंने किया ही, उसके भीषण और कठोर रूपों का भी अंकन किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रकृति की सभी वस्तुओं में चेतनता का आरोप करके मानवीकरण द्वारा उन्हें प्राण-स्पन्दित सत्ता के रूप में स्वीकार किया। यह पुरानी परम्परा से बिल्कुल आगे बढ़ी हुई बात थी। अब प्रकृति कवि के लिये उद्दीपन मात्र न रहकर उसके भावों का आलम्बन भी बनने लगी, अतः प्रकृति का संश्लिष्ट चित्रण किया जाने लगा। इस प्रकार प्रकृति का स्वतंत्र वर्णन, जो संस्कृत काव्यों से तो मिलता है पर बाद में जिनकी परम्परा बन्द हो गयी थी, फिर किया जाने लगा।

"देखूँ सबके उर की डाली!
किसने रे क्या क्या चुने फूल
जग के छवि उपवन से अकूल?
इसमें कलि, किसलय, कुसुम, शूल!"

इसमें पन्त जी मानव के आन्तरिक सौन्दर्य को देखने के अभिलाषी हैं। प्रकृति के सौन्दर्य में कवियों ने प्रायः अपनी भावनाओं का सौन्दर्य भी मिला दिया है:—

पावस ऋतु थी, पर्वत प्रदेश
पल-पल परिवर्तित प्रकृति प्रदेश!
उड़ गया अचानक ले भूधर
फड़का अपार पारद के पर
रवशेष रह गये हैं निर्झर
है टूट पड़ा भू पर अम्बर!

काव्य या कला में सौन्दर्यानुभूति का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। यह सौन्दर्य किसी भी वस्तु में मिल सकता है। किन्तु स्वच्छन्दतावादी कवियों को वर्तमान से इतना असन्तोष रहता है और सामाजिक बन्धनों और परम्परा-

सौन्दर्य बोध की अन्य मूर्त्तियाँ

गत रूढ़ियों के प्रति विरोध की भावना इतनी तीव्र रहती है कि वे वर्तमान को विश्वास की दृष्टि से नहीं देखते हैं। समाज के यथार्थ जीवन से उन्हें अरुचि सी रहती है। अतः वे प्रकृति की रम्य भूमि में अपनी सौन्दर्याकांक्षा को तृप्त करने का प्रयत्न करते हैं। जिस सौन्दर्य की प्राप्ति वर्तमान प्रत्यक्ष सामाजिक जीवन या समाज में नहीं हो पाती, उसे स्वप्न या कल्पना के लोक, अतीत, भविष्य और अलौकिक या आध्यात्मिक क्षेत्र में प्राप्त करने का उसे यथेष्ट अवसर हाथ लगता है। इसीलिये

अतीत के धुँधले चल चित्र छायावादी कवियों को मनोरम लगे। उन्होंने उन चित्रों के प्रति बड़ी श्रद्धा और सम्मान की भावना प्रकट की और उसे वर्तमान के मुकाबले में रखा। पुरातन के प्रति यह सम्मान और श्रद्धा भी केवल भ्रम के आधार पर नहीं खड़ी होती। सत्य उनके मूल में होता है और राष्ट्रीयता की भावना को स्थिर और दृढ़ बनाने में वह सहायक होती है। इस तरह छायावाद-युग में अनेक कवियों ने अतीत में अभीप्सित सौन्दर्य की खोज की। निराला ने यमुना से प्रश्न किया—

यमुने तेरी इन लहरों में
किन अधरों की आकुल तान?
पथिक प्रिया सी जगा रही है
उस अतीत के नीरव गान?

प्रसाद ने भी 'पेशोला की प्रतिध्वनि', और 'प्रलय की छाया' में अतीत ही को देखा और 'अरी वरुणा की शान्त कछार, तपस्वी के विराग का प्यार' में अतीत के स्मृति-चिह्न—सारनाथ—के प्रति सम्मान प्रकट किया। इस तरह इन कवियों के विस्मय की भावना और सौन्दर्य-भावना की वृत्ति को अतीत ने विश्राम दिया।

कल्पना लोक और आध्यात्मिक क्षेत्र

छायावाद-युग की अधिकांश कविताओं में अतृप्ति, लालसा और दिवा-स्वप्नों का प्राधान्य है। इस युग के कवि की रुचियाँ और मनोवृत्तियाँ सामाजिक परिस्थितियों से मेल नहीं खाती और न समाज के सामान्य जनों की प्रवृत्तियों से सम्बन्ध ही रखती हैं। फलतः कवि को अपनी वर्तमान सामाजिक परिस्थिति की परिधि कारागार बन जाती है। सामाजिक सम्बन्धों का आधार वैषम्य होने से समाज के प्रति अनास्था का होना स्वाभाविक ही है। इस अनास्था और असन्तोष के कारण कवि को इस बात के लिए विवश होना पड़ता है कि या तो वह विद्रोही बनकर समाज में प्रचलित मान्यताओं और मूल्यों का विरोध करे और पुराने मानदण्डों को तोड़कर नये मानदण्डों के निर्माण में योग दे या उन मान्यताओं को न मानते हुए भी जीवन में उनसे बँधा रहे और अतृप्ति, भूख तथा निगूढ़ और निष्क्रिय कामना लेकर कल्पना-लोक का सृजन करे अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र में अपनी अतृप्ति को मिटाने का प्रयास करे। इन दोनों ही मार्गों को कवियों ने किसी न किसी रूप में अपनाया। वर्तमान से ऊब कर अतीत में शरण खोजने के सम्बन्ध में कहा जा चुका है। जिन्होंने अतीत की ओर लौटना नहीं चाहा उनके लिये कल्पना का सम्बल मिला और वे स्वनिर्मित स्वप्न-लोक में रमने लगे। प्रसाद जी विषम कोलाहल भरे जगत से दूर

किसी काल्पनिक जगत में शान्ति पाने की कामना करते हुए कहते हैं :—

ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे धीरे !
जिस निर्जन में सागर-लहरी
अम्बर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो तज कोलाहल की अवनी रे !
—'लहर' ।

इसमें कल्पित देश की ओर जाने की लालसा व्यक्त की गई है । पन्त स्वयं अपने गीत-खग से कहते हैं :—

छूट छाया-तरु-वन में वास
न जग के हास अश्रु ही पास
अरे दुस्तर जग का आकाश
गूढ़ से छाया ग्रथित प्रकाश ['गुंजन'—पृष्ठ १४]

कल्पना-लोक में पलायन के अतिरिक्त छायावादी कवियों ने आध्यात्मिक क्षेत्र में जाकर जगत और जीवन के अभावों की पूर्ति करने की प्रवृत्ति दिखलायी, यद्यपि इसे बिलकुल पलायन नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह भारतीय सांस्कृतिक नवचेतना का एक उन्मेष था, फिर भी उसके कारण साहित्य की धारा जगत और जीवन के अन्य प्रमुख स्वरूपों की ओर से पराङ्मुख होने लगी । साथ ही आध्यात्मिक जागर्ति के मानसिक होने, साधना-प्रक्रियाओं की अभिव्यंजना न होने तथा हृदयपक्ष का योग कम होने से उसमें कृत्रिमता भी आने लगी । फिर भी समाज का रुचि-परिष्कार हुआ और रीतिकाल की ऐन्द्रिक शृङ्गार-भावना के स्थान पर आध्यात्मिक पक्ष में मानसिक शृङ्गारिक भावनाओं की प्रतिष्ठा हुई । इस तरह 'अनन्त' और 'असीम' की खोज में कवि 'उस पार' पहुँचने की कामना करने लगे :—

फिर विकल हैं प्राण मेरे !
तोड़ दो यह क्षितिज, मैं भी देख लूँ उस ओर क्या है ?
जा रहे जिस पन्थ से युग-कल्प उसका छोर क्या है ?

क्यों मुझे प्राचीर बनकर
आज मेरे प्राण घेरे ? [महादेवी वर्मा—सांध्यगीत]

और जगत-जीवन से अलग हट कर 'अव्यक्त' के प्रेम में मिट कर उससे मिलने की अभिलाषा की जाने लगी:—

चेतना-लहर न उठेगी, जीवन-समुद्र थिर होगा,
संध्या हो सर्ग-प्रलय की, विच्छेद मिलन फिर होगा !

[आँसू–प्रसाद]

तथा श्री रामकुमार वर्मा ने विशुद्ध रहस्यवादी की तरह अपने को विश्वात्मा का एक अंश मानकर उसी में लीन होने की इच्छा प्रकट की :—

एक दीपक-किरण-कण हूँ !
पर तुम्हारा स्नेह खोकर—
भी तुम्हारी ही शरण हूँ !

['चन्द्रकिरण' से]

किन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि इन छायावादी कवियों का जीवन और जगत से कोई सम्बन्ध ही नहीं था। कल्पना स्वयं ही जीवन और जगत से बिलकुल परे नहीं जा सकती। साथ ही इन कवियों ने जीवन के गम्भीर प्रश्नों पर दार्शनिक ढंग से चिन्तन भी किया, जगत के नाना रूपों में एक ही चेतना को व्यक्त देखकर विश्वात्मा के जीवन-स्पन्दन का अनुभव किया और इस तरह मनुष्य और प्रकृति के बीच रागात्मक सम्बन्ध स्थापित किया।

एक छवि के असंख्य उडुगन,
एक ही सब में स्पन्दन !
एक छवि के विभात में लीन
एक विधि के आधीन।

[पन्त—परिवर्तन]

और भी—

जाने किसका पन्थ देखती बिछकर फूलों की पलकें ?

[महादेवी वर्मा—नीहार]

वर्तमान के प्रति असन्तोष और यथार्थ से उत्पन्न अभाव और अतृप्ति का अनुभव प्रत्येक अच्छे कवि को होता है। इसके बिना वह आदर्शों का स्वरूप नहीं अंकित कर सकता। मानव कभी पूर्ण नहीं होता यद्यपि पूर्णता की प्राप्ति के लिए वह सतत प्रयत्नशील रहता है। जगत की समस्यायें अनन्त हैं और मानव-मन पर उनकी प्रतिक्रिया भी अनन्त होती है। अतः उलझनों का कोई एक सुलझाव नहीं हो सकता। विभिन्न सामाजिक, भौगोलिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों में उत्पन्न तथा विकसित होने के कारण मानव-समाज के संस्कारों और विचारधाराओं में भिन्नता का होना अनिवार्य है। यही कारण है कि सृष्टि के आदि काल से मानव विश्व-कल्याण और अनन्त सुख की खोज करता

और स्वप्न देखता आया है। विभिन्न युगों के धर्मान्वेषकों और तत्वद्रष्टाओं ने विभिन्न मार्ग बताये और सत्य का स्वरूप प्रतिष्ठित किया किन्तु उन सब के सत्य के रूपों में भिन्नता ही रही और उनके बताये ऋजु मार्ग भी कालान्तर में वक्र होते गये। यहाँ तक कि आज भी सत्य का स्वप्न उसी तरह मृगजलवत है जैसा पहले था। फिर भी मानव को अपने अतीत या वर्तमान से सन्तोष नहीं होता और अपने भविष्य को वह सदैव पूर्ण बनाने की ही आशा में रहता है। यदि वह आशा छोड़ कर निष्क्रिय बन बैठे तो जीवन ही न रह जाय। अतः जीवन के साथ भावी के स्वप्न-जाल बुनना भी अनिवार्य सा है। ये स्वप्न आत्म और विश्व दोनों के मंगल के सम्बन्ध में होते हैं। ये व्यक्ति की सामंजस्य-भावना के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं। अतः भावी का स्वप्न-द्रष्टा वह आदर्शवादी व्यक्ति होता है जिसने अपनी सामंजस्य-बुद्धि के सहारे अपने अहं (स्व) और इदं (पर) का सामंजस्य करके सत्य के समन्वित रूप और संतुलित विचारधारा को प्राप्त कर लिया है। चेतन वर्ग के प्रतिनिधि होने के कारण कवि और कलाकार भी यहाँ तत्वदर्शकों की ही श्रेणी में आ खड़े होते हैं। यथार्थ से वे सन्तुष्ट नहीं रहते, अतः भविष्य में ही वे अपने और विश्व के कल्याण की झलक ढूँढ़ते हैं। प्रत्यक्ष जीवन ही यथार्थ और कल्याण का जीवन ही आदर्श है। मानव यथार्थ से असन्तुष्ट होकर आदर्श की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है। समाज के विकास और इतिहास के विस्तार का यही मूल मंत्र है।

इस सत्य के प्रकाश में भी छायावाद-युग की परीक्षा करना उचित होगा। पहले कहा जा चुका है कि राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से भारत के लिये यह एक अत्यन्त उथल-पुथल का युग था। एक ओर सामंती समाज अपनी पुरानी केंचुल शीघ्र छोड़ने को तैयार न था और दूसरी ओर विश्व में होने वाली राजनीतिक और आर्थिक क्रान्तियों का मध्यवर्ग की चेतना पर तेजी से प्रभाव पड़ रहा था। फलस्वरूप नयी पीढ़ी के कवियों में इस अनिश्चित स्थिति के प्रति घोर असन्तोष उत्पन्न हुआ। अतः यथार्थ से विमुख होकर आदर्श की ओर मुड़ना उनके लिए स्वाभाविक ही था। सामाजिक आदर्शों की ओर उनकी प्रवृत्ति कम थी किन्तु धीरे-धीरे उनमें भविष्य के इन स्वप्नों ने घर कर लिया। कुछ ने विद्रोही बनकर समाज में प्रचलित मान्यताओं का विरोध पहले ही शुरू कर दिया था। उनका यह विरोध सक्रिय था। किन्तु कुछ लोगों ने उसकी अभिव्यक्ति भावी के सुख-स्वप्नों के रूप में की। भावी युग में मानवों का पारस्परिक सम्बन्ध कैसा होगा, उसका जीवन किन आदर्शों पर निर्मित

होगा, स्वतंत्रता, न्याय और समानता का भावी समाज में क्या मूल्य होगा, इन सब आदर्शों की कामना इन कवियों ने की। ये कवि यथार्थ से पराजित नहीं कहे जा सकते क्योंकि उन्होंने सामाजिक जीवन के लिए नये मार्गों की उद्भावना की।

इस तरह वर्तमान के प्रति रोष और भावी नवजीवन की आकांक्षा प्रकट करते हुए पंत ने कहा:—

> मंजरित विश्व में यौवन के
> जग कर जग का पिक, मतवाली
> निज अमर प्रणय की वीणा से
> भर दे फिर नवयुग की प्याली।

['युगवाणी' से]

उत्तरोत्तर इन स्वप्न-द्रष्टा कवियों की संख्या भी बढ़ने लगी जो केवल दर्शक मात्र न रहकर विद्रोह की ज्वाला लेकर भी आगे बढ़े। दूसरे शब्दों में वे केवल लक्ष्य को ही दृष्टि में न रखकर साधन की ओर भी बढ़े। प्रारम्भ से ही वर्तमान के प्रति विद्रोह करने का उद्बोधन कुछ कवि करते आ रहे थे—

> जागो फिर एक बार!
> प्यारे जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें
> अरुण - पंख तरुण - किरण
> खड़ी खोल रही द्वार!

[निराला—परिमल]

और राष्ट्रीय कविताओं में राजसत्ता के विरोध में चलने वाले आन्दोलनों के सम्बन्ध की भावनायें भी व्यक्त की गयी:—

> ढीठ सिपाही की हथकड़ियाँ, दमन-नीति के वे कानून
> डरा नहीं सकते हैं हमको यदपि बहाते हैं नित खून।
> हम हिंसा का भाव त्यागकर विजयी वीर अशोक बनें,
> काम करेंगे ऐसा जिसमें लोक और परलोक बने।

[सुभद्राकुमारी चौहान—मुकुल]

धीरे-धीरे क्रान्ति और विद्रोह की भावना अधिक तीव्र होती गयी। इस प्रवृत्ति का मूल कारण वर्तमान जीवन की विषम परिस्थितियाँ थीं। इसमें वर्तमान के प्रति कटुता, रोष, क्षोभ और विद्रोह का स्वर अधिक था पर राष्ट्रीयता की धारा से यह भावधारा पृथक् थी। यह क्रान्ति भी प्रारम्भ में उद्देश्यहीन सी थी और केवल महानाश की अभिलाषा तक ही सीमित थी—

जल उठ जल उठ अरी धधक उठ, महानाश की भट्टी प्यारी !

'नवीन'

परन्तु बाद में एक महान् उद्देश्य इनके पीछे परिलक्षित होने लगा। मानवतावाद, अन्तर्राष्ट्रीय ऐक्य की भावना, मानव-मानव के बीच समता और न्याय का भाव, जीवन को उच्चादर्शों की ओर ले जाने की और उसे प्राचीन परम्परागत रूढ़ियों और अन्धविश्वासों से ऊपर उठाकर सांस्कृतिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने की कामना, संसार से युद्धों का अन्त करने, विज्ञान को मानव की उन्नति और सुख-प्राप्ति में सहायक बनाने की अभिलाषा आदि भावनाओं की अभिव्यक्ति इस तरह की कविताओं में होने लगी। दलित और शोषित मानवता के प्रति सहानुभूति और शोषक वर्ग की सत्ता के प्रति क्षोभ और रोष की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई। दिनकर ने दीनों की दुर्दशा देखकर चीत्कार किया :—

श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं।
युवती के लज्जा-वसन बेंच जब व्याज चुकाये जाते हैं
मालिक तब तेल-फुलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं।

[दिनकर—हुंकार]

सामाजिक वैषम्य की ओर देखकर निराला जी शोषकों को सम्बोधित करके कहते हैं :—

मिला तुम्हें सच है अपार धन,
पाया कृश उसने कैसा तन ?
क्या तुम निर्मल, वही अपावन ?
सोचो भी संभलो !

और उनकी झोपड़ियों को देखकर कवि रो उठता है :—

भू की छाती पर फोड़ों से कुछ उठे हुए हैं कच्चे घर !

[भगवतीचरण वर्मा—भैंसागाड़ी]

श्रमिकों की शक्ति के विषय में पन्त जी कहते हैं :—

वह पवित्र है, वह जग के कर्दम से पोषित
वह निर्माता, श्रेणि, वर्ग, धन, बल से शोषित
चिर पवित्र वह ! भय-अन्याय-घृणा से पालित
जीवन का शिल्पी, पावन श्रम से प्रक्षालित।

[युगवाणी]

समाज की पुरानी मान्यताओं का विरोध करते हुए 'अंचल' फुफकार उठते हैं :—

संघर्षों की लहरों पर तिर तेरी अंगार-तरी चलती !
असफल विद्रोहों के सिर पर तेरी नूतन ज्वाला जलती !
इस प्रेम-कला-संस्कृति का क्षय हो, क्षय हो युग की माँग अड़ी
हो यह समाज चिथड़े-चिथड़े-शोषण पर जिसकी नींव पड़ी।

[किरणवेला]

छायावाद-युग के कवियों में वेदना का स्वर बहुत ऊँचा है। यह वेदना कई रूपों में दिखलाई पड़ती है। वेदना के कारण ही समवेदना और करुणा की उत्पत्ति होती है। वेदना की चरमसीमा ही निराशा है। इस तरह मनुष्य के जीवन में वेदना का भी उतना ही महत्वपूर्ण स्थान है जितना आनन्द का। चाहे सुख विधेयात्मक (Positive) और दुख अभावात्मक (Negative) अथवा दोनों विधेयात्मक हों * किन्तु इतना तो सत्य है कि इन्हीं दोनों के बन्धन में मानव-मन बँधा रहता है। मानव के सम्पूर्ण कार्य-कलाप सुख की प्राप्ति को ध्यान में रखकर होते हैं फिर भी दुःख पीछा नहीं छोड़ता। अतः मानव की मनोवृत्तियों के मूल में सुख या दुःख की भावना सदैव बनी रहती है। दुख की इच्छा मानव साधारणतया नहीं करता और उससे छुटकारा पाने की इच्छा स्वभावतः किया करता है। एक विशेष दृष्टि से देखने पर यह दुःख जगत में

* भारत के सांख्य दर्शन में दुख को बहुत महत्व दिया गया है और उससे छुटकारा पाना ही उक्त दर्शन का उद्देश्य है। बौद्ध दर्शन का मूल मंत्र ही यह विश्वव्यापी दुःख है और इसीसे प्रभावित होकर सुप्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शापेनहार ने अपने निराशावादी दर्शन का निर्माण किया था। वह दुःख को ही विधेयात्मक (positive) मानता है—और कहता है "I know of no greater absurdity than that produced by most systems of philosophy in diclaring evil to be negative in its character. Evil is just what is positive, it makes its own existence felt......It is the good which is negative. In other words happiness and satisfaction always imply some desire fulfilled, some state of pain brought to an end."

· [*A. Schopenhauer—Studies in Pessimism-Page 1*]

सर्वत्र व्याप्त दिखलाई पड़ता है जिसकी चर्चा दूसरे अध्याय में बौद्ध दर्शन के प्रकरण में हो चुकी है। यों भी जीवन की विषमता में दुःखों की अनुभूति स्वभावतः होती है। अतः उसके तीन रूप हो सकते हैं; (१) सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त एक ही वेदना की सूक्ष्म अनुभूति, (२) दूसरों के दुःख से उत्पन्न करुणा और सहानुभूति की भावना; (३) अपने ही जीवन की असफलताओं या विषमताओं से उत्पन्न विषाद की अनुभूति।

✓ मनुष्य की इच्छायें कभी पूरी नहीं होतीं, एक इच्छा के पूरी होते ही दूसरी उत्पन्न हो जाती है और उसके बाद तीसरी। इस क्रम का कभी अन्त नहीं होता और मानव-मन जन्म से मृत्यु तक भूखा-प्यासा रह जाता है। तात्पर्य यह कि शाश्वत सुख एक कल्पना मात्र है। मानव जब इस सत्य को जान लेता है तो संसार ही उसे दुखों का कारागार प्रतीत होने लगता है। दुख ही उसे सत्य और सुख सत्याभास मालूम होने लगता है। यही वह विराग की अवस्था है जिसमें सारा विश्व ही दुखमय प्रतीत होता है और जीवन निस्सार प्रतीत होने लगता है।

जगत में सर्वत्र दुख ही का विस्तार दिखायी पड़ता है। इस दुख और निराशा की अभिव्यक्ति संवेदनशील कवि अत्यन्त मार्मिक ढंग से किया करते और विश्व को दुखमय बन्धन बताकर उससे छुटकारा पाने की कामना किया करते हैं। छायावादी कविता में तीनों ही प्रकार की वेदना की अभिव्यक्ति हुई है—

विश्व-वाणी ही है क्रन्दन
विश्व का काव्य अश्रुकण!
× × ×
वेदना ही के सुरीले हाथ से
है बना यह विश्व, इसका परम पद
वेदना का ही मनोहर रूप है!

[पन्त—ग्रन्थि]

इसमें पन्त सर्वत्र वेदना की व्याप्ति देखते हैं। महादेवी तो इस वेदना को ही सुख-सोपान समझती हैं :—

विकसते मुरझाने को फूल, उदय होता छिपने को चन्द,
शून्य होने को भरते मेघ, दीप जलता होने को मन्द!

और प्रसाद उस विश्व-वेदना में अपनी वेदना लय कर देना चाहते हैं :—

वह ज्वालामुखी जगत का, वह विश्व-वेदना बाला!
तब भी तुम सतत अकेली जलती हो मेरी ज्वाला!

सन् १९३० के बाद की कविता अधिक व्यक्तिवादी होती गयी। चूँकि व्यक्तिवादी कवि अपने 'अहं' की ही अधिक अभिव्यक्ति करता है अतः अपनी व्यक्तिगत वेदना और निराशा को वह कविता में उपस्थित करता है। जिस तरह वह दूसरों के दुःखों में सहानुभूति प्रकट करता है उसी तरह अपने दुखों की अभिव्यक्ति करके भी वह मौन सहानुभूति की भीख माँगता है। करुणा का जीवन और काव्य से गहरा सम्बन्ध है। ऊपर जिस दुःखवाद की बात कही गयी है उसके मूल में यही करुणा की भावना है।* यह भावना मनुष्य में संस्कारगत होती है, मरे और मरते मनुष्य को देखकर गौतमबुद्ध के मन में जो करुणा उत्पन्न हुई थी वह मानव मात्र में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती है।† इसी करुणा की भावना से मानव सामाजिक क्रियाओं में प्रवृत्त होता है और कवि विश्व-कल्याण की कामना करता है :—

जगती का कलुष अपावन, तेरी विदग्धता पावे।
फिर निखर उठे निर्मलता, यह पाप पुण्य हो जावे!

इस काल के सभी प्रमुख कवियों ने लोकमंगल की भावना किसी न किसी रूप में अभिव्यक्त की है। कहीं वह भावना राष्ट्रीयता, कहीं सामाजिक और राजनीतिक विद्रोह और कहीं भावी के सुख स्वप्न के रूप में दिखलाई पड़ती है।

निराशावाद कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है जो तत्व और कर्तव्य की दृष्टि से

---

*"Then again how insatiable a creature is man. Every satisfaction he attains lays the seeds of some new desire, so there is no end to the wishes of each individual will."......"There is direct proof that existence has no real value in itself, for what is boredome but the feeling of the emptiness of life ? If life—the craving for which is the very essence of our being—were possessed of any positive intrinsic value, there would be no such thing as boredome at all."

[*A. Schopenhauer—Studies in Pessimism-Page* 37]

† क्रौंच-बध देख कर बाल्मीकि का शोक भी इसी कारण श्लोक बन गया था:—

मा निषाद प्रतिष्ठान्त्वमगम शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।

निराशा को ही उचित मनस्थिति मानता हो और निराश बने रहने का उपदेश देता हो। निराशा एक मनोवृत्ति अवश्य है जो कभी कभी व्यक्ति के जीवन में स्थायी बनकर उसका स्वभाव बन सकती है। पर ऐसे स्वभाव का व्यक्ति असाधारण (abnormal) ही माना जाता है। जब निराशा अस्थायी रूप में आती है तो वह स्वाभाविक होती है और जीवन में उसका भी एक महत्वपूर्ण स्थान और उपयोग होता है। जब जीवन की स्वाभाविक प्रेरणा विश्व-बाधाओं से टक्कर लेना चाहती है किन्तु ले नहीं पाती, उसके सामने संकुचित और स्तब्ध हो जाती है, क्योंकि संघर्ष में शक्ति का अपव्यय हो कर जीवन नष्ट हो जाने का भय रहता है, तो इस मनस्थिति को निराशा कहते हैं। अतः यह जीवन की रक्षा का साधन बन जाती है। यह निराशा वस्तुतः जीवन को मृत्यु की ओर नहीं ले जाती, बल्कि आगे बढ़ने के लिये शक्ति और संयम प्रदान करती है। इस तरह निराशा आशा के ही आधार पर अस्थायी रूप से खड़ी होती है। अतः, निराशा को पराजय की मनोवृत्ति नहीं कह सकते, उसे पिछले जीवन का सिंहावलोकन या अस्थायी पलायन कहा जा सकता है।

हिन्दी कविता में जो निराशा आयी उसके कारण बताये जा चुके हैं। व्यक्ति अपने दुखों और निराशा की अभिव्यक्ति किये बिना नहीं रह सकता, अतः हिन्दी कविता में आत्माभिव्यंजना का प्राधान्य होने पर व्यक्तिगत दुखों और निराशा की कविताओं का आना स्वाभाविक था। यदि कवि दुखी या निराश है तो उसके लिए दोषी समाज है न कि वह व्यक्ति; और यदि उसके दुखों को जानकर समाज भी दुखी और निराश होकर रह जाय तो यह समाज की दूसरी गलती है। व्यक्ति के दुखों और निराशा से लाभ उठाकर उनके कारणों को दूर करने में प्रवृत्त होना चाहिये। कवि को ही निराशावादी कह कर निर्वासित कर देने से नहीं काम चल सकता। अस्तु :—

> जो घनीभूत पीड़ा थी, मस्तक में स्मृति सी छायी,
> दुर्दिन में आँसू बनकर वह आज बरसने आयी!

इसमें प्रसाद जी अपने ही आँसुओं की कथा कहते हैं। महादेवी की व्यथा विराट रूप में सामने आती है :—

> मैं नीर भरी दुःख की बदली!
> स्पन्दन में चिर निस्पन्द बसा
> क्रन्दन में आहत विश्व हँसा।

नयनों में दीपक से जलते,
पलकों में निर्भरिणी मचली !

[महादेवी—सान्ध्यगीत]

बच्चन अपने पिछले जीवन से ही निराश हैं—

मैं जीवन में कुछ कर न सका !
जग में अँधियाला छाया था
मैं ज्वाला लेकर आया था
मैंने जलकर दी आयु बिता
पर जगती का तम हर न सका !

और भौतिक दुखों के अतिरेक से उनका मन क्रन्दन कर उठता है :—

त्राहि-त्राहि कर उठता जीवन !
जब रजनी के सूने क्षण में
तन-मन के एकाकीपन में
कवि अपनी विह्वल वाणी से
अपना व्याकुल मन बहलाता—
त्राहि त्राहि कर उठता जीवन !

इसी तरह भगवतीचरण, नरेन्द्र, अंचल और नये खेवे के अन्य अनेक कविय ने अपने मानसिक विषाद के अतिरिक्त अपनी शारीरिक भूख-प्यास की अतृप्ति को भी खुलकर व्यक्त किया है। यह प्रवृत्ति अपने प्रसार में अपनी उद्दाम वासना के कारण एक ओर तो रीतिकाल की सीमा रेखा छूती है और दूसरी ओर प्रबल विद्रोह की भावना के कारण प्रगतिवाद के साथ चरण रखती दृष्टिगत होती है।

विषय-वस्तु (१)

प्रेम-भावना

पिछले अध्यायों में छायावाद-युग की कविता में निहित जीवन-दृष्टि और उसके कारणों पर प्रकाश डाला जा चुका है। इस अध्याय में छायावादी काव्य के विषयों (Subjects) और वर्ण्यवस्तु (Content) पर विचार किया जायगा। विभिन्न युगों अथवा एक ही युग की विभिन्न विचारधाराओं के अनुरूप उन कालों और धाराओं की कविताओं में भी अन्तर हुआ करता है। यह अन्तर जीवन-दर्शन और रचना-प्रक्रिया के अतिरिक्त कविता के विषय और वर्ण्यवस्तु में भी स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। युग की विचारधाराओं के अनुरूप कविता की विषय-वस्तु का होना भी अनिवार्य है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि एक विचारधारा के विषयों और वर्ण्यवस्तुओं को दूसरी विचारधारा की कविता में पाया ही नहीं जा सकता। इसके विपरीत बहुधा विभिन्न युगों की कविता में विषय बहुत कुछ एक से रहते हैं, फिर भी उनके प्रति कवि के दृष्टिकोण, बोधवृत्ति और सौन्दर्य-चेतना में अन्तर दिखलाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न युगों की कविता के विषयों में परिवर्तन, विस्तार या संकोच भी दिखलाई पड़ता है। उदाहरणार्थ भक्तिकाल और रीतिकाल में काव्य-विषय बहुत कुछ एक होते हुए भी काव्य-वस्तु में अन्तर है। इसी तरह वीरगाथाकाल और रीतिकाल में काव्य-विषयों का बहुत संकोच दिखलाई पड़ता है किन्तु भक्तिकाल और आधुनिक काल की कविता में उनका काफी विस्तार मिलता है। आधुनिक काल में ही संक्रान्ति-युग, पुनरुत्थान-युग और छायावाद-युग की कविताओं की विषय-वस्तु में हम बहुत अन्तर पाते हैं। संक्रान्तियुग में अधिकतर भक्ति और रीति काल के काव्य-विषय ही अपनाये गये यद्यपि धार्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय विषयों पर भी थोड़ी बहुत रचनाएँ हुईं। किन्तु पुनरुत्थान-युग में सामन्ती संस्कृति के उपादानों को कविता का विषय नहीं बनाया गया और समाज, राष्ट्र, प्राचीन संस्कृति-इतिहास आदि क्षेत्रों से विषय चुनकर काव्यभूमि का विस्तार किया गया। मगर

छायावादी-युग में फिर विषयों का संकोच हो गया यद्यपि वर्ण्यवस्तु बहुत ही सूक्ष्म, व्यापक और गंभीर हो गई।

छायावादी कविता में समस्त जगत को कवि अपने हृदय की सीमा में समेट लेता था। उन विषयों तक उसके पहुँचने की प्रणाली बहुत ही संश्लिष्ट और अन्तर्मुखी थी। वह जगत की चिन्ता से मुक्त अपनी ही मनोभावनाओं के रंग में जगत को भी रँगता था। चूँकि उसका अपना रंग एक ही था इसलिये उसके काव्य-विषय विविध होते हुए भी सीमित हो गये हैं। शिशु के मुख की सरल मुसकान और हिमाच्छादित पर्वत-शिखर में उसको एक ही अव्यक्त सत्ता का आभास मिलता है और प्रकृति के नाना जड़-चेतन रूपों में उसे एक ही चेतना व्याप्त दिखलाई पड़ती है। स्याही की बूँद और आकाश का तारकपिण्ड, सूर्य और घंटा उसे एक से लगते हैं। इस प्रकार अनेकानेक विषयों के होते हुए भी अनुभूति और संवेदना में बहुरूपता नहीं, प्रत्युत चिन्त्य एकरूपता और अनावश्यक आवृत्ति मिलती है। अव्यक्त के प्रति जिज्ञासा, महत् के प्रति आश्चर्य और श्रद्धा, प्रकृति के सुन्दर और असुन्दर, लघु और विराट सभी रूपों और मानवीय सम्बन्धों में अधिकतर रतिभाव आदि विषयों की सीमा में सर्वत्र एक ही जैसी अनुभूतियों की आवृत्ति दिखलाई पड़ती है। छायावाद-युग के उत्तर-कालीन व्यक्तिवादी कवियों ने अपने काव्य को अधिकतर रतिभाव तक ही सीमित रखा और ऐन्द्रिक प्रेम, वासना के अतिरेक, विरह मिलन के दुख-सुख और कसक-तड़पन के अतिरिक्त उन्हें और कुछ सूझा ही नहीं। हाला-प्याला, पत्नी-प्रेमिका, अतीत जीवन की स्मृति, अतृप्त कामवासना, मृत्युपूजा तथा अन्य अनेक व्यक्तिगत और घरेलू बातों को कोई खुले आम बिना दाम बेचता हुआ और कोई वासना की उद्दाम लहर में बहता हुआ किसी की शबनमी निगाहों की यादकर बेसुध दिखलाई पड़ा। इस प्रकार १९२६ से १९३९ तक की व्यक्तिवादी कविता में विषय और काव्य-वस्तु का और भी संकोच हो गया, यद्यपि इस काल में छायावादी कविता अपने आदर्शवादी रूप को धीरे-धीरे छोड़ती हुई यथार्थवाद की ओर बढ़ने लगी थी। आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों के दबाव के फलस्वरूप अभिव्यक्ति और रचना-प्रक्रिया की तरह ही विषय-वस्तु का भी यथार्थवादी होना स्वाभाविक ही था। अतः व्यक्तिगत सुख-दुख की भावनाओं के यथार्थ चित्रण के अतिरिक्त सामाजिक यथार्थवाद और यथार्थोन्मुख आदर्शवाद की प्रवृत्ति भी बढ़ी। गुंजन, ज्योत्स्ना और युगवाणी में पन्त की जगत सम्बन्धी समस्याओं पर चिन्तन-मनन की बौद्धिक प्रवृत्ति दिखलाई पड़ी। समसामयिक आदर्शों के समन्वय के सम्बन्ध में भी उन्होंने कवितायें लिखीं।

राजनीतिक-आर्थिक विचारधाराओं से प्रेरित कविता का भी प्रारम्भ इसी काल में हुआ। इन प्रवृत्तियों के कारण छायावाद के उत्तरकाल में विषयों का अपेक्षाकृत विस्तार हुआ और काव्यवस्तु में भी पर्याप्त परिवर्तन हुआ। इस तरह एक नये युग के प्रारम्भ की सूचना १९३६ में ही मिल गई जब कि लखनऊ में प्रेमचन्द के सभापतित्व में प्रगतिशील लेखकों का प्रथम सम्मेलन हुआ।

कवि का प्रधान साधन कल्पना है जो प्रतिभा होती है। इस कल्पना के सहारे जीवन और जगत का कोई भी कोना उसकी दृष्टि से अछूता नहीं रह पाता। व्यष्टि और समष्टि की बाह्य और आन्तरिक दोनों ही भूमियों पर उसकी समान गति होती है। इस दृष्टि से जीवन और जगत की प्रत्येक वस्तु काव्य का विषय बन सकती है। अतः काव्य-विषयों को प्रधानतया दो कोटियों में बाँटा जा सकता है; व्यक्तिगत और समष्टिगत। कवि काव्य में 'स्व' और 'पर' सम्बन्धी नाना भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है। व्यक्ति की बहुत सी ऐसी समस्यायें होती हैं जो उसकी बिलकुल निजी होती हैं, चाहे वे लौकिक हों या आध्यात्मिक। उसकी इन निजी समस्याओं के अतिरिक्त जितनी भी अन्य समस्यायें और सम्बन्ध होते हैं वे सभी समष्टिगत होते हैं। अतः इन्हीं दोनों कोटियों के भीतर काव्य विषयों को विभाजित किया जा सकता है। व्यक्तिगत विषयों में कवि के वैयक्तिक जीवन से सम्बन्धित लौकिक और आध्यात्मिक प्रेम, शोक, निराशा, वैराग्य आदि भावनायें भी समाविष्ट हैं। समष्टिगत विषय सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक क्षेत्रों तथा प्रकृति से ग्रहण किये जाते हैं। छायावाद-युग में कविता पूँजीवादी भावनाओं से प्रेरित होने के कारण अधिकतर व्यक्तिवादी हो गई थी। अतः उसमें प्रथम प्रकार के काव्य-विषयों की ही अधिकता है। किन्तु इस युग के सभी कवियों ने अन्तर्मुखी होते हुये भी समष्टिगत विषयों पर भी काव्य रचना की है यद्यपि उनमें वर्ण्यवस्तु आदर्शवादी ढंग से अभिव्यक्त हुई है। कवियों ने प्रारम्भ में तो प्रकृति, व्यक्तिगत प्रेम, अतीत-गौरव, सांस्कृतिक परम्परा, आध्यात्मिक प्रेम, रूढ़ियों के प्रति विद्रोह आदि विषयों पर ही कवितायें लिखीं किन्तु १९२९ के बाद दार्शनिक चिन्तन, सांस्कृतिक-समन्वय, व्यक्तिगत सुख-दुख, आशा-निराशा, जीवन की मस्ती और फक्कड़पन, मधुचर्य्या, मृत्युपूजा, सामाजिक और आर्थिक वैषम्य, राजनीतिक विद्रोह आदि विविध विषयों पर भी कवितायें लिखी गयीं। फिर भी कुल मिलाकर छायावाद-युग में विषयों का विस्तार अधिक नहीं हुआ क्योंकि अधिकतर कवितायें लौकिक और आध्यात्मिक प्रेम, प्रकृतिचित्रण और दार्शनिक चिन्तन तक ही सीमित रहीं।

मनुष्य की सहजात वृत्तियों (instincts) में सबसे प्रधान स्थान रति का है क्योंकि इसी के कारण मनुष्य की वंश-परम्परा अक्षुण्ण रहती है और उससे आत्म-संरक्षण की प्रवृत्ति का पोषण होता है। इसलिये अनादिकाल से मनुष्य के क्रियाकलाप में रति-सम्बन्ध महत्वपूर्ण होते आये हैं। इसके विभिन्न रूप दिखलाई पड़ते हैं जैसे दाम्पत्यरति, सख्यरति, दास्यरति, वात्सल्यरति। प्रत्येक युग में रति की ये भावनायें अपने परिवर्तित रूप में दिखलाई पड़ती हैं। समाज के विकास के साथ दाम्पत्यरति अन्य प्रकार के रति-सम्बन्धों के रूप में अपना क्षेत्र-विस्तार करती है। समाज के विकास की विभिन्न मंजिलों पर इन भावनाओं का रूप बदलता रहता है। उदाहरणार्थ आदिम मनुष्य में स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्ध के अतिरिक्त और किसी प्रकार का रति-सम्बन्ध नहीं था, किन्तु सामन्तवादी समाज-व्यवस्था में श्रमविभाजन के साथ-साथ सामाजिक सम्बन्धों का भी विस्तार हुआ, विवाह प्रथा चली, परिवार का निर्माण हुआ, सरदार और राजा की प्रथा चली और दासप्रथा समाज के लिये आवश्यक वस्तु बन गई। अतः इस काल में दाम्पत्य प्रेम, वात्सल्य प्रेम, दास्य प्रेम, (स्वामी-सेवक भावना) और सख्य प्रेम की मनोवृत्तियों का विकास हुआ। ये मनोवृत्तियाँ समाज की मर्यादाओं से नियंत्रित रहती थीं अर्थात् राजा-पुरोहित के प्रति शेष समाज को श्रद्धानत रहना पड़ता था। समाज में स्त्री और श्रमिक न्यूनतम अधिकार रखते थे और समाज संचालन के लिये सख्यभाव द्वारा मानव-समाज को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया जाता था। उस काल में राष्ट्र का विकास नहीं हुआ था किन्तु भौगोलिक, जातीय और सांस्कृतिक परिवेश के प्रति भी रतिभाव होता था जिसे धार्मिक और राजनीतिक अभिव्यक्ति मिला करती थी। यही नहीं, इस युग में इस जगत से परे किसी परोक्ष सत्ता की भी कल्पना की जाती थी और उसके प्रति भी दाम्पत्य, सख्य, वात्सल्य अथवा दास्य रति के भावों की व्यञ्जना होती थी। अत: उस युग की कविता में राजा और पुरोहित, ईश्वर और देवता के प्रतिनिधि माने गये और आदर्शरूप में उन्हें नायक के पद पर आसीन किया गया। उसी तरह स्त्री भोग की सामग्री मात्र मानी गई, अनेक स्त्रियाँ रखने की प्रथा चली और स्वकीया तथा परकीया नायिकाओं के अनेकानेक भेद किये गये। तात्पर्य यह कि इस युग में सम्पूर्ण रतिभाव का आधार तत्कालीन आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था थी और इसी प्रकार के रति-सम्बन्धों की तत्कालीन साहित्य में अभिव्यक्ति हुई है। सामन्त-युग के बाद पूँजीवादी युग में इन सम्बन्धों का रूप बदल गया। समानता, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व की भावना के विकास के

लौकिक प्रेम-भावना

कारण सभी प्रकार की रति-भावनाओं का रूप भी बदला । मानवता की भावना का विकास हुआ; राजा, सामन्त, पुरोहित आदि न्यस्त-स्वार्थ वर्गों का एकाधिपत्य टूटा, स्वामीसेवक-भावना का लोप हुआ, स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्धों में समानता बरती गई और राष्ट्रीयता तथा सामूहिकता की भावना का विकास हुआ। छायावादी कविता में, जो पूँजीवादी कविता है, इसी प्रकार के रति-सम्बन्धों की भावाभिव्यक्ति हुई है । अतः सभी रीतिकालीन काव्यादर्शों के विरुद्ध विद्रोह हुआ, धीरोदात्त और धीरललित नायकों की जगह सामान्य जन भी काव्य के नायक बनने लगे । नायक-नायिका-भेद और शारीरिक यौन-भावना की जगह मानसिक रति-भावना की प्रतिष्ठा हुई । स्त्री पुरुष के विलास की वस्तु न रहकर स्वतंत्र, समान और शक्तिपूर्ण सहयोगिनी के रूप में स्वीकार की गई। उसी तरह पूँजीवादी व्यक्तिवाद के विकास तथा प्रेम सम्बन्धी पारस्परिक होड़ के कारण विप्रलम्भ-शृंगार और विरह-जनित आशा-निराशा की भावनाओं का अधिकाधिक चित्रण हुआ किन्तु साथ ही पूँजीवाद के स्वतंत्रता के भ्रम के टूटने के कारण ह्रासोन्मुख पूँजीवाद की भावना—जैसे काल्पनिक ऐन्द्रिक रतिभाव, मानसिक व्यभिचार, मधुचर्य्या, मृत्युपूजा और सामाजिक अनुत्तरदायित्व आदि—की भी अभिव्यक्ति हुई । उसी तरह सामाजिक विषमताओं से दूर भागने के लिये प्रकृति अथवा अध्यात्म के क्षेत्र में भी रतिभावना का प्रसार किया गया ।

अस्तु; छायावादी कविता में इन्हीं विशेषताओं के साथ रतिभाव का चित्रण किया गया है । प्रेम के लौकिक और आध्यात्मिक ये दो भेद पूर्ववर्ती हिन्दी कविता में भी मिलते हैं पर उस काल में लौकिक प्रेम व्यक्तिवादी नहीं, सामाजिक था और आध्यात्मिक प्रेम में भी लोकभूमि और प्रकृति का ही सहारा लिया जाता था । किन्तु इस काल में रतिभाव का आश्रय स्वयं कवि बनने लगे और शेष सृष्टि की प्रत्येक वस्तु उनके आलम्बन का स्थान ग्रहण कर सकती थी । उसी तरह इस काल के रहस्यवादी कवि लोकाराधन से विरक्त होकर मानसिक और काल्पनिक आलम्बन के प्रति ही अपने रतिभाव का निवेदन करने लगे, वे 'सान्त' से 'अनन्त' की भूमि पर पहुँच गये । इस तरह दोनों ही—लौकिक प्रेम व्यक्तिवादी होने के कारण और आध्यात्मिक प्रेम लोकभूमि त्यागने के कारण—बहुत कुछ आदर्शवादी (Platonic) और सीमित हो गये । बाद में चल कर लौकिक प्रेम कुछ यथार्थ की ओर उन्मुख हुआ । पर इस युग में अधिकतर प्रेम के आदर्शवादी रूप को ही जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकार किया गया । प्रेम का यह आदर्शवादी स्वरूप पहले द्विवेदी-युग की कविता में ही दिखलाई पड़ा क्योंकि रीतिकाल की ऐन्द्रिक प्रेम-भावना की प्रतिक्रिया के कारण उसमें स्वस्थ स्वाभाविक

लौकिक प्रेम की शृंगारी भावना का भी तिरस्कार किया गया। अतः उसी दमित रतिभावना का उदात्तीकरण छायावादी कविता में हुआ। द्विवेदी युग के प्रबन्ध काव्यों—मिलन, पथिक, प्रियप्रवास—में भी यह उदात्त प्रेम दिखलाई पड़ता है। इस युग में प्रसाद के 'प्रेम-पथिक' और गुप्त जी के 'साकेत में' यह अधिक उभर कर आया है। प्रगीत मुक्तकों में प्रेम का आदर्शवादी स्वरूप अधिक जीवन्त और तीव्र बन कर आया। छायावादी कवियों ने इसे शरीर के नहीं, आत्मा के गुण के रूप में स्वीकार किया:—

अनिल सा लोक-लोक में
हर्ष में और शोक में
कहाँ नहीं है प्रेम, साँस सा सब के उर में ?

['उच्छ्वास'—पंत]

उन्होंने प्रेम को सर्वव्याप्त और जीवन के लिए सब से आवश्यक वस्तु माना। इस उदात्तीकरण के कारण व्यक्तिगत प्रेम विश्वप्रेम और प्रकृतिप्रेम के रूप में भी बदल गया और प्रिय की छवि विश्व-प्रकृति के रूप में दिखलाई पड़ने लगी:—

प्रिये कलि-कुसुम-कुसुम में आज
मधुरिमा, मधु, सुषमा, सुविकास,
तुम्हारी रोम-रोम-छवि व्याज
छा गया मधुवन में मधुमास !

—"पन्त"

पूँजीवाद तथा पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव के कारण मध्यवर्गीय कवियों में स्वच्छन्द सामाजिक आचार-विचारों की प्रवृत्ति जाग्रत हुई, पर अपने यहाँ की सामाजिक रूढ़ियों के कारण उन स्वच्छन्द विचारों को साधारणतया कार्यरूप में परिणत करना सम्भव नहीं हुआ। आर्थिक परिस्थितियाँ भी सुखमय जीवन-निर्वाह के योग्य नहीं थीं। इधर पुनरुत्थान-युग का मर्यादावादी नैतिक अंकुश भी स्वच्छन्द प्रेम में बाधक था। इसलिये स्वच्छन्द प्रेम की वासना दमित और अपूर्ण रह जाने से हिन्दी कविता में प्रेम के निराशामय और कुण्ठापूर्ण चित्र भी बहुत अधिक आये। पन्त जी की 'ग्रन्थि' इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। इस प्रकार की परिस्थितियों के बीच निराशा मिलने के कारण एक ओर तो वेदना, दुख और कसक का बाहुल्य दिखलाई देने लगा, दूसरी ओर शारीरिक मांसल सौन्दर्य की जगह मानव के अतीन्द्रिय मानसिक और काल्पनिक सौन्दर्य के प्रति आकर्षण, कुतूहल और रहस्यमयता की भावनायें अभिव्यक्ति होने लगीं। इस तरह

प्रेम इस युग में शारीरिक से अधिक आध्यात्मिक बन गया। सूफीमत में भी यही बात थी। वहाँ लौकिक सौन्दर्य-प्रेम आध्यात्मिक प्रेम का प्रतीक और आवश्यक मंजिल माना गया था। सूफी काव्य की तरह ही छायावाद में दुख और निराशा के कारण विरह-काव्य की ही प्रधानता रही पर इससे संयोगावस्था का अभाव नहीं समझना चाहिये। संयोगावस्था के शृंगार-वर्णन का भी छायावाद में बिल्कुल अभाव नहीं है। आँसू में अतीन्द्रिय सौन्दर्य के साथ ही शारीरिक सौन्दर्य का शृंगारिक वर्णन हुआ है। परवर्ती छायावादी कवियों में यह ऐन्द्रिक शृंगारिकता अधिक उभर कर आयी।

प्रसाद जी का प्रिय इतना सुन्दर है कि यदि अपना रूप-माधुर्य देख ले तो स्वयं उस पर मुग्ध हो जाय :—

देखकर जिसे एक ही बार हो गये हैं हम भी अनुरक्त,
देख लो तुम भी यदि निज रूप तुम्हीं हो जाओगे आसक्त।

प्रिय के सम्मुख रहने से सारा संसार आनन्दमय प्रतीत होता है। चारों ओर जिस प्रसन्नता और सौन्दर्य के दर्शन हो रहे हैं वह प्रिय के पास रहने और उसकी सौन्दर्य-राशि के अणु-अणु में व्याप्त होने के कारण हैं :—

मिल गये प्रियतम हमारे मिल गये,
यह अलस जीवन सफल अब हो गया!
कौन कहता है जगत है दुःखमय?
यह सरस संसार सुख का सिन्धु है!

"प्रसाद"

छायावादी कविता में दाम्पत्यरति के आलम्बन—शारीरिक-सौन्दर्य-पर भी दृष्टि डाली गई है। पर वह दृष्टि स्थूल नहीं, सूक्ष्म सौन्दर्य का उद्घाटन कर उससे कवि का तादात्म्य करती हुई मालूम पड़ती है। प्रिय के नीलोत्पल सदृश नयनों की छटा पर मुग्ध होकर उर का मधुबाल काली पुतली के रूप में वहीं जा बसा :—

नील नलिन सी है वह आँख!
जिसमें बस उर का मधुबाल, कृष्ण-कनी बन गया विशाल
नील सरोरुह सी वह आँख!

"पंत"

प्रिय की संकोचपूर्ण मुसकान का एक मनोहर और रहस्यमय चित्र कवि ने इस प्रकार उपस्थित किया है :—

तुम कनक-किरण के अन्तराल में लुक-छिपकर चलते हो क्यों?
हे लाज भरे सौन्दर्य, बता दो मौन बने रहते हो क्यों?
× × × ×
अधरों के मधुर कगारों में, कल-कल ध्वनि की गुंजारों में,
मधु सरिता सी यह तरल हँसी अपनी पीते रहते हो क्यों?
"प्रसाद"

उसी तरह प्रेयसी का सौन्दर्य प्रेमी के तन-मन में व्याप्त हो जाता है :—

उषा सी स्वर्णोदय पर भोर दिखा मुख कनक किशोर,
प्रेम की प्रथम मदिरतम कोर दृगों को दुरा कठोर,
छा दिया यौवन-शिखर अछोर, रूप-किरणों में बोर
सजा तुमने सुखस्वर्ग-सुहाग, लाज लोहित अनुराग!
"पंत"

शारीरिक सौन्दर्य की रूप-रेखा और रमणीयता की तरफ इन कवियों ने दृष्टि तो डाली पर उसमें भी कुतूहल की भावना मिली हुई थी :—

बाँधा है विधु को किसने, इन काली जंजीरों से?
अथवा
शशि-मुख पर घूँघट डाले, अंचल में दीप छिपाये,
जीवन की गोधूली में, कौतूहल से तुम आये!

इस प्रकार हम देखते हैं कि संयोगावस्था की दशा में रूप-चित्रों का सजीव विधान तथा प्रिय के सहवास के क्षण में जीवन में जीवन्तता और बाह्य प्रकृति में हर्ष के भावों का नई शैली और नये रूप में वर्णन छायावादी कवियों की विशेषता रही है। इधर के कवियों में मानवीय प्रेम को लेकर मार्मिक चित्र उपस्थित करने वालों में नरेन्द्र, अंचल, भगवतीचरण वर्मा आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। कुछ कवियों की रचनाओं में कहीं-कहीं घोर ऐन्द्रिकता के वर्णन भी मिल जाते हैं जो श्लील नहीं कहे जा सकते।

छायावादी कवियों की उन्मुक्त भाव-लहरी और रमणीय कल्पना के लिये विस्तृत क्षेत्र विरह-दशा के वर्णन में मिला। इनकी प्रवृत्ति आत्मव्यंजक होने के कारण सूक्ष्म भावों को विविध रूपों में सज-धजकर काव्य में आने का पूरा-पूरा अवकाश मिला।

स्मृतिदशा के अनेक भावमय वर्णन और अतीत के रूप-चित्रों का सुन्दर विधान ऐसी कविताओं में दिखाई पड़ता है। प्रिय के वियोग के कारण वेदना, दुख, संताप तथा निराशा के भावों के बहुत अधिक विवृत हो जाने के

कारण वेदनावाद, दुखवाद, निराशावाद आदि अनेक नये-नये वादों की कल्पना की जाने लगी।

जब प्रिय साथ था तब चारों ओर आनन्द ही आनन्द था। इस समय उसकी स्मृति हृदय को बेचैन कर रही है—

वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे !
जब सावन-घन सघन बरसते इन आँखों की छाया भर थे !
सुरधनु-रंजित नव जलधर से भरे, क्षितिज व्यापी अम्बर से,
मिले चूमते जब सरिता के हरित कूल युग मधुर अधर थे !

[प्रसाद—लहर]

प्रिय और प्रेमी की प्रेमक्रीड़ायें बड़ी मादक और मोहमयी होती हैं पर वियोगावस्था में उनकी स्मृति पीड़ा देने लगती है। दुख और विषाद में मन की उमंगें शान्त और शिथिल होकर बैठ जाती हैं, हृदय सुख और आनन्द का समाधि-स्थल बन जाता है जिसके किनारे करुणा बैठी हुई आँसू बहाया करती है:—

मादक थी मोहमयी थी मन बहलाने की क्रीड़ा,
अब हृदय हिला देती है वह मधुर प्रेम की पीड़ा !
सुख आहत शान्त उमंगें बेगार साँस ढोने में,
यह हृदय-समाधि बना है रोती करुणा कोने में।

[प्रसाद—आँसू]

वियुक्ता प्रियतमा की स्मृति में विकल होकर अन्त में कवि कहता है:—

'मूंद पलकों में प्रिया के ध्यान को, थाम ले अब हृदय इस आह्वान को !
त्रिभुवन की श्री भी तो भर सकती नहीं, प्रेयसी के शून्य पावस ध्यान को !

(पन्त—ग्रन्थि)

जैसा पहले कह आये हैं, सामाजिक बन्धनों के कारण विवाह आदि में पढ़े-लिखे युवकों की महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति न हो सकने से जो विषाद और निराशा का भाव उनके हृदय में व्याप्त हो रहा था उसका प्रभाव भी कविता पर पड़ा है। पन्त जी कहते हैं:—

हाय, मेरे सामने ही प्रणय का
ग्रंथि-बंधन हो गया, वह नव कुसुम
मधुप सा मेरा हृदय लेकर किसी
अन्य मानस का विभूषण हो गया !

[ग्रन्थि]

इस घटना का इतना घोर विषादमय प्रभाव हृदय के ऊपर पड़ता है कि विश्व और प्रकृति के क्षेत्र में सुखमय स्वच्छन्द प्रेम-सम्बन्धों से अलग रहकर निराश प्रेमी समझने लगता है कि सारे दुख, सारे क्लेश उसी के लिये हैं:—

शैवलिनि, जाओ मिलो तुम सिन्धु से,
अनिल आलिंगन करो तुम गगन का !
चन्द्रिका, चूमो तरंगों के अधर,
उडुगणों गाओ पवन वीणा बजा,
पर हृदय, सब भाँति तू कंगाल है,
उठ किसी निर्जन विपिन में बैठकर
अश्रुओं की बाढ़ में अपनी पिकी
भग्न भावी को डुबा दे आँख सी !

[पन्त—ग्रन्थि]

वियोगजन्य वेदना से कवि इतना मर्माहत और प्रभावित होता है कि कविता की उत्पत्ति ही वह वियोग से मान लेता है:—

वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान,
उमड़ कर आँखों से चुपचाप, वही होगी कविता अनजान !

"पंत"

प्रिया के दुःख से दुखित निराला जी केवल इतना ही चाहते हैं कि वह इस समय अपनी दशा की सूचना एक बार उसे दे दे। बस इतनी सी अभिलाषा है कि प्रिया की वर्तमान अवस्था से वह अवगत हो जाय:—

एक बार यदि अजान के अन्तर से उठकर आ जाती तुम
एक बार भी प्राणों की तम-छाया में आ कह जाती तुम
सत्य हृदय का अपना हाल,
कैसा था अतीत वह, अब यह बीत रहा है कैसा काल ?
मैं न कभी कुछ कहता, बस तुम्हें देखता रहता ?

अपने वियोग के अतिरिक्त अन्य वियोगियों की विरह-अवस्था का भी कलापूर्ण और मार्मिक वर्णन इस काल की कविता में मिलता है:—

आह कितने विकल जन-मन मिल चुके,
हिल चुके, कितने हृदय हैं खिल चुके !
तप चुके वे प्रिय-व्यथा की आँच में, दुःख उन अनुरागियों के मिल चुके ?
क्या हमारे ही लिये वे मौन हैं ? पथिक वे कोमल कुसुम हैं, कौन हैं ?

"निराला"

प्रिय के एकनिष्ठ प्रेम और प्रतिदान-निरपेक्ष अनन्यता की अवस्था प्रेम की उच्चतम अवस्था मानी जाती है। मीरा के 'पीउ मिलन की आस' में कागा को सम्बोधित करके की गयी प्रार्थना में जिस भावना का चरम उत्कर्ष दिखाई देता है वह इस काल के कवियों के लौकिक और भावुकताप्रधान प्रेम में भी लक्षित होता है। कवि वियोग की ज्वाला से कहता है:—

खूब जला दे; रह न जाय अस्तित्व और जब वे आवें,
चरणों पर दौड़ लिपट जाने वाली मेरी विभूति पावें।

"द्विज"

यद्यपि अलौकिक प्रेम की परम्परा हमारे काव्य में पुरानी है पर आधुनिक कविता में कवि की यह आध्यात्मिक प्रेम-भावना अन्य कोमल भावनाओं से अनुरंजित होकर बड़े ही मार्मिक रूप में सामने आयी है।

आध्यात्मिक प्रेम-भावना

अलौकिक प्रेम भी सामान्य रूप से दो प्रकार का होता है। एक का आलम्बन भक्तोचित साकार मूर्ति होती है और निराकार ब्रह्म दूसरे का। पहले प्रकार के आलम्बन के प्रति साधक का पूज्यभाव-गर्भित प्रेम, जिसे श्रद्धा-भक्ति कह सकते हैं, होता है। दूसरे प्रकार के आलम्बन के प्रति विशुद्ध प्रेमभाव होता है। दूसरे प्रकार का प्रेम जो उस आध्यात्मिक सत्ता के प्रति होता है जिसका कोई संश्लिष्ट बिम्ब स्पष्ट नहीं होता, स्वभावतः रहस्योन्मुख हो जाता है। इसी प्रकार का रहस्योन्मुख प्रेम जिसमें औत्सुक्य और जिज्ञासा के साथ-साथ गम्भीर प्रेम का दर्शन होता है, छायावादी काव्य में प्रधानरूप से दृष्टिगोचर होता है। दूसरे अध्याय में आध्यात्मिक क्षेत्र के विभिन्न दर्शनों की आधार-भूमियों का विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। यहाँ अलौकिक प्रेम की दोनों रीतियों के सामान्य स्वरूप पर ही विचार किया जायगा।

अपने प्रियतम—परोक्षसत्ता—का आभास कवि को सर्वत्र मिलता है:—

भरा नयनों ने मन में रूप, किसी छलिया का अमल अनूप,
जल-थल मारुत-व्योम में, जो छाया है सब ओर!

'प्रसाद'

करुणागार भगवान अपने प्रिय भक्त पर करुणा कर बारबार आकर प्रेमपूर्वक उसका कष्ट दूर कर देते हैं:—

भर देते हो,
बार-बार प्रिय करुणा की किरणों से
क्षुब्ध हृदय को पुलकित कर देते हो!
मेरे अन्तर में आते हो देव निरन्तर,

कर जाते हो व्यथा-भार लघु
बार-बार कर-कंज बढ़ाकर।
"निराला"

कभी-कभी कवि को अपने अव्यक्त प्रियतम के स्वरूप-दर्शन की कोई विशेष आकांक्षा नहीं रहती। "हे सागर संगम अरुण नील" से प्रारम्भ कविता में प्रसाद जी कहते है कि नदियाँ पर्वत से निकलती हैं, सागर से उनका पूर्व-परिचय नहीं रहता, पर वे अपने उस प्रिय से मिलने के लिये उत्सुक होकर निरन्तर चलती जाती हैं और अन्त में उनका मिलन होता है। इसीसे मिलती-जुलती भावना इन पंक्तियों में है:—

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ, इसमें क्या है धरा सुनो!
मानस-जलधि रहे चिर चुम्बित, मेरे क्षितिज उदार बनो!
"प्रसाद"

रामकुमार वर्मा कहते हैं कि मैं अपने प्रिय के नूपुरों का हास हूँ। प्रिय के चरणों के समीप बने रहने की आकांक्षा इन पंक्तियों में है:—

"मैं तुम्हारे नुपुरों का हास!
लघु स्वरों में बन्द हो पाऊँ चरण में बास।

प्रिय वियुक्त हो गया है, प्रेमी की व्याकुल प्रार्थनाओं पर भी वह न आया; इन भावों को काव्योचित ढंग से बड़े मार्मिक रूप में कवि ने पल्लवित किया है:—

मैं ससीम असीम सुख से सींच कर संसार सारा,
सांस की विरुदावली से गा रहा हूँ यश तुम्हारा!
पर तुम्हें अब कौन स्वर स्वरकार, मेरे पास लाये!
भूल कर भी तुम न आये।
'रामकुमार वर्मा'

कवि को यह विश्वास है कि अन्ततः एक दिन प्रिय के अञ्चल में, उसकी गोद में, सारे दुःखों का नाश हो जायेगा:—

एक दिन थम जायगा रोदन
तुम्हारे प्रेम-अंचल में!
"निराला"

प्रेम की उस उच्चदशा का, जब प्रेमी और प्रियतम में भेद-भाव नहीं रह जाता और वे एकाकार हो जाते हैं, मार्मिक वर्णन इस काल की कविता में अधिक मिलता है। प्रिय तो प्रेमी के हृदय में ही अवस्थित है, फिर परिचय कैसा? :—

विषय-वस्तु (३)

तत्वचिन्तन

दर्शन वाले अध्याय में उन सभी विचारधाराओं और चिन्तनस्रोतों के सम्बन्ध में विचार किया जा चुका है जिनका प्रभाव छायावाद-युग की कविता पर पड़ा है। यहाँ उन प्रभावों के सम्बन्ध में विचार किया जायगा। छायावाद-युग सांस्कृतिक पुनरुत्थान और पुनर्मूल्यांकन का युग है, अतः उसमें भारतीय चिन्तन-धारा के अवरुद्ध स्रोतों का फिर से प्रखर प्रवाह दिखलाई पड़ता है। इतना ही नहीं, इस युग में पाश्चात्य और भारतीय तत्वचिन्तन का सामंजस्य भी करने का प्रयत्न किया गया जिसकी अभिव्यक्ति इस युग की कविता में पर्याप्त मात्रा में हुई है। आध्यात्मिक प्रेम और प्राकृतिक दर्शन (Natural philosophy) की अभिव्यक्ति की चर्चा पहले की जा चुकी है। तत्वचिन्तन की यह प्रवृत्ति और भी कई रूपों में अभिव्यक्त हुई है जिसका संकेत दर्शनवाले अध्याय में किया जा चुका है। पुनरुत्थान-युग (द्विवेदी-युग) का लक्ष्य हिन्दू जाति का जागरण और भारतीय संस्कृति का पुनरुत्थान था किन्तु छायावादी कवियों का लक्ष्य बदल गया। वे पौराणिक आचार-विचारों का अतिक्रमण कर नये प्रकाश की खोज करने लगे जो आधिभौतिक और आधिदैविक से अधिक आध्यात्मिक था। अतः उनकी कविता में युग की आशा-निराशा, तात्विक प्रश्नों के समाधान, सत्य की खोज और अध्यात्म तथा विज्ञान के सामञ्जस्य की प्रवृत्ति जगह-जगह दिखलाई पड़ती है। मूलतः छायावाद-युग की कविता चिन्तनप्रधान है, यद्यपि बाह्यतः उसमें हार्दिकता और भावुकता का योग अधिक दिखलाई पड़ता है। मध्यकालीन हिन्दी कविता में भी चिन्तन की प्रधानता थी किन्तु वह साधना-मूलक और आन्तरिक संकल्पात्मक अनुभूति से युक्त होने के कारण छायावादी कविता से अधिक जीवन्त और लोक-संपृक्त थी। इसके विपरीत छायावादी कविता तत्वचिन्तन और भावुकता से पूर्ण होती हुई भी विकल्पात्मक वृत्ति पर आधारित थी। अतः उसके प्रति न तो कवियों की ही दृढ़ आस्था थी और न जन-समाज की ही। फिर भी इस युग की कविता की विशेषता यह है कि इसने भारतीय सांस्कृतिक चेतना के नैरंतर्य को अक्षुण्ण रखा; अपने तत्वचिन्तन द्वारा उसकी

परम्परा को आगे बढ़ाया और नये नये मार्गों की खोज की ओर अग्रसर हुई। उदाहरण के लिये सर्ववाद के सिद्धान्त को ले सकते हैं। कहा जा चुका है कि वैदिक काल से लेकर भक्तिकाल तक के भारतीय साहित्य में सर्ववादी दर्शन व्याप्त दिखलाई पड़ता है। छायावादी कवियों ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर और अँग्रेजी के कवियों के प्रभाव से पाश्चात्य सर्ववाद (Pantheism) और प्राकृतिक दर्शन (Natural Philosophy) का भारतीय सर्वात्मवाद और अभिव्यक्तिवाद से सामञ्जस्य किया और इस प्रकार भारतीय तत्वचिन्तन की उस परम्परा को जो सांस्कृतिक अन्तरावलम्बन के आधार पर विकसित हुई थी, आगे बढ़ाया और समाज को जड़ता की स्थिति से ऊपर उठा कर चेतन और उद्बुद्ध करने का प्रयत्न किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि सामाजिक आवश्यकताओं के कारण ही ऐसा हुआ। ह्रासोन्मुख सामन्तवाद की सर्वग्रासी जड़ता और रूढ़ आचार-विचारों को तोड़ने के लिये यह पूँजीवाद का सांस्कृतिक अभियान था।

चूँकि यह उथल-पुथल और संक्रान्ति का काल था अतः इसमें चिन्तनधारा की कोई ऐसी एकरूपता नहीं दिखलाई पड़ती जिसका व्यापक समष्टिगत प्रभाव दिखलाई पड़ता। इसका कारण यह है कि कवियों ने अपनी वैयक्तिक प्रतिभा और सांस्कृतिक परिवेश के अनुसार भिन्न-भिन्न चिन्तनस्रोतो से प्रभाव ग्रहण किया और उनकी रचनात्मक प्रतिक्रिया भी भिन्न-भिन्न हुई। इसलिये इस युग के सभी कवि एक ही विचारधारा के पोषक नहीं हैं। उदाहरण के लिये सुमित्रानन्दन पन्त पर पाश्चात्य पूँजीवादी प्राकृतिकदर्शन और भारतीय सर्ववाद का सम्मिलित प्रभाव है, जिसे उन्होंने विभिन्न रूपों में अपनी कविता में अभिव्यक्त किया है। जयशंकर प्रसाद में शैवागम के अद्वैतवादी प्रत्यभिज्ञा दर्शन (आनन्दवाद) और सूफीमत के प्रतिबिम्बवाद तथा आध्यात्मिक प्रेम का समन्वय दिखलाई पड़ता है। इसके विपरीत निराला पर रामकृष्ण परमहंस और स्वामी रामतीर्थ के भक्तिमूलक-अद्वैतवाद तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विश्वमानवतावाद का प्रभाव अधिक है और इसी कारण उनकी कविता में सामाजिक और लोक-संग्रही प्रवृत्तियां की अधिकता दिखलाई पड़ती है। महादेवी वर्मा पर बौद्धदर्शन के दुःखवाद, सूफीमत के त्याग-तपस्या-मूलक प्रेम-दर्शन और उपनिषदों के सर्ववाद का समन्वित प्रभाव दिखलाई पड़ता है। किन्तु इस भिन्नता के साथ ही साथ सब में चिन्तन की कुछ एकरूपता भी दिखलाई पड़ती है। ये सभी कवि आदर्शवादी थे और सब में असंगतिपूर्ण वर्तमान और जड़तापूर्ण स्थूल से ऊपर उठकर आशापूर्ण भविष्य और चेतन सूक्ष्म की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। धीरे-धीरे विश्वदेववाद, सर्वात्मवाद, अद्वैतवाद, प्रतिबिम्बवाद और दुःखवाद की चिन्ताधारायें अधिक

वास्तविक भूमि पर उतरकर भौतिकवाद, नवमानवतावाद और जनवाद के रूप में परिणत होती गईं। पुनरुत्थान युग के कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त भी धीरे-धीरे पौराणिक परिपाटी के भीतर से ही छायावाद की चेतना को अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न करने लगे। यह विशिष्ट व्यक्तिवाद का युग था, अतः ये कवि भी विश्व-भावना तथा लोकमंगल-भावना को अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का अंग बनाकर ही अपने काव्य का रूपनिर्माण कर सके। सामूहिक व्यक्तित्व तथा वर्गहीन सामाजिकता की कल्पना वे नहीं कर सकते थे। पूँजीवाद के मध्यवर्गीय सौन्दर्यबोध से उन्हें प्रकाश मिला। अतः उनका जीवनदर्शन व्यक्तिवादी था यद्यपि उसमें मानवतावाद और अध्यात्मवाद के लोकसग्रही दर्शनों का भी पुट मिला हुआ था।

इस प्रकार इस युग के तत्वचिन्तन को दो मोटे विभागों में बाँटा जा सकता है:—१—आध्यात्मिक आदर्शवाद और २—मानवतावादी आदर्शवाद। आध्यात्मिक आदर्शवाद की अभिव्यक्ति आध्यात्मिक प्रेम, प्रकृति-प्रेम, अद्वैत भावना, आनन्दवाद आदि के रूप में हुई और मानवतावादी आदर्शवाद की अभिव्यक्ति दुःखवाद, करुणधारा, विश्वमानवतावाद, अध्यात्म और भौतिकता के समन्वय और जनवाद के रूप में। आध्यात्मिक प्रेम और प्रकृति-दर्शन के सम्बन्ध में पहले विचार किया जा चुका है। यहाँ चिन्तन की निम्नलिखित धाराओं की काव्यात्मक अभिव्यक्ति पर विचार किया जायगा :—

१—अद्वैत-दर्शन
२—दुःखवाद और करुणधारा
३—आनन्दवाद
४—अध्यात्म और भौतिकता का समन्वय
५—विश्वमानवतावाद

इन विचारधाराओं का तात्विक निरूपण दर्शन वाले अध्याय में किया जा चुका है। यहाँ यही दिखलाना अभिप्रेत है कि छायावादी कविता में उनकी अभिव्यक्ति किस प्रकार हुई है।

अद्वैत-दर्शन

गौड़पादाचार्य, शंकराचार्य तथा उनके अनुयायियों ने ब्रह्म को सत्य और नित्य तथा जीव की उससे अभिन्नता सिद्ध की और जगत को असत् और भ्रम बताया। उनके अनुसार यह भावमय जगत दुःख का समुद्र है, अतः उन्होंने शुद्धज्ञान द्वारा 'अहं ब्रह्मास्मि' की अनुभूति को जीव और ब्रह्म की एकता का साधन माना। छायावादी कविता में यह विचारधारा सबसे अधिक निराला में दिखलाई पड़ती है जिसकी अभिव्यक्ति उन्होंने प्रतीक और अन्योक्ति पद्धति द्वारा बार बार की है :—

पास ही रे हीरे की खान,
खोजता और कहाँ नादान !
कहीं भी नहीं सत्य का रूप
अखिल जग एक अन्धतम कूप
उर्मि-घूर्णित रे मृत्यु महान। [गीतिका]

इस कविता में ब्रह्म को आत्मा से अभिन्न और जगत को असत्य और दुखमय बताया गया है। निराला अद्वैतवाद को भारतीय जागरण के अस्त्र के रूप में उपस्थित करते हुये कहते हैं:—

जागो फिर एक बार
× × ×
पर, क्या है,
सब माया है—माया है,
मुक्त हो सदा ही तुम,
बाधा-विहीन-बन्ध छन्द ज्यों,
डूबे आनन्द में सच्चिदानन्दरूप।
महामन्त्र ऋषियों का
अणुओं-परमाणुओं में फूँका हुआ—
'तुम हो महान, तुम सदा हो महान,
है नश्वर यह दीन भाव,
कायरता, कामपरता,
ब्रह्म हो तुम,
पदरज भर भी है नहीं पूरा यह विश्वभार।' [परिमल]

इस प्रकार अद्वैत-दर्शन द्वारा कवि ने व्यक्ति की चेतना की स्वतंत्रता की घोषणा की है। महादेवी वर्मा भी इस जगत को माया रूपी दर्पण के रूप में स्वीकार करती हैं, जिसका प्रतिबिम्ब सत्य नहीं, भ्रम होता है और बिना उस माया के तिरोभाव के सत्य का ज्ञान नहीं हो सकता:—

टूट गया वह दर्पण निर्मम !
उसमें हंस दी मेरी छाया
मुझ में रो दी ममता माया
अश्रु हास ने विश्व सजाया,
रहे खेलते आँख मिचौनी
प्रिय जिसके परदे में 'मैं' 'तुम'।

इसमें जगत के दुखों का मूल कारण माया को माना गया है जिसके कारण मोह-ममता, दुख-सुख की उत्पत्ति होती है। यह माया का दर्पण ही ब्रह्म और जीव के बीच परदा डालता है। शांकर अद्वैत की यह विचारधारा अपने शुद्ध रूप में छायावादी कविता में अधिक नहीं है क्योंकि वह अत्यधिक बौद्धिक और शुष्क ज्ञान पर आधारित है। उपनिषदों के अद्वैतवाद के अन्य अनेक विकसित रूप जैसे विशिष्टाद्वैत, द्वैत और षड्दर्शनों में से योग दर्शन की काव्यात्मक अभिव्यक्ति भी छायावादी काव्य में स्फुट रूप में दिखलाई पड़ती है। ब्रह्म और जीव की अभिन्नता तो सभी आत्मवादी दर्शन स्वीकार करते हैं पर उनके साधना-मार्गों में अन्तर है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार जीव ब्रह्म का अंश है और उससे वियुक्त होकर भटकता हुआ अन्त में उसी में मिल जाने का अभिलाषी है। योग-मार्ग में भी आष्टांगिक योग द्वारा ब्रह्म से, जो अपने भीतर ही है, मिलने की साधना की जाती है। कुछ दर्शनों में परम सत्ता को शक्ति अथवा शिव कहा गया और उन्हीं की उपासना द्वारा कर्म-बन्धनों से मुक्ति पाने की साधना की गयी। निराला पर इन सभी विचारधाराओं का किसी न किसी रूप में प्रभाव पड़ा, अतः वे कहीं परमसत्ता को आदिशक्ति का रूप मानकर प्रार्थना करते हैं, कहीं जीव को ब्रह्म का अंश और कृति मानकर ब्रह्म को कारण-रूप और पूर्ण मानते हैं; और कहीं योग-साधना का भी प्रतिपादन करते हैं। बंगीय संस्कृति से प्रभावित होने के कारण उन पर शक्ति-साधना का बहुत अधिक प्रभाव है जिसे कहीं दुर्गा, कहीं सरस्वती, कहीं भारत माँ, कहीं प्रकृति-शक्ति आदि के रूप में माना है। 'राम की शक्ति पूजा' इस तरह की सर्वश्रेष्ठ कविता है जिसमें उन्होंने शक्ति का मूर्त रूप चित्रित किया है:—

> देखा राम ने सामने श्री दुर्गा भास्वर
> वाम पद असुर स्कन्ध पर रहा दक्षिण हरि पर
> ज्योतिर्मय रूप, हस्तदश विविध अस्त्र-सज्जित
> मन्दस्मित मुख लख हुई विश्व की श्री लज्जित!

इस तरह निराला ने रूढ़िवादी शाक्तमत की दुर्गा-पूजा का समर्थन नहीं किया है बल्कि बंगाल के रामकृष्ण परमहंस, विपिनचन्द्रपाल, अरविन्द आदि चिन्तकों की तरह जीवनी शक्ति के प्रति आस्था प्रकट की है। शक्ति की भक्ति के कारण उन्हें शक्ति का वरदान भी मिला है; जीवन में भी और काव्य में भी:—

प्रात तव द्वार पर
आया जननि नैश अन्ध पथ पार कर !
लगे जो उपल पद उत्पल हुए ज्ञात,
कण्टक चुभे जागरण बने अवदात,
स्मृति में रहा पार करता हुआ रात,
अवसन्न भी मैं प्रसन्न हूँ प्राप्त वर !

सरस्वती के रूप में शक्ति—

कल्पना के कानन की रानी !
आओ, आओ मृदुपद मेरे मानस की कुसुमित वाणी !

अथवा

भावना रँग दी तुमने प्राण,
छन्द-बन्दों में नव आह्वान !

[गीतिका]

योग-दर्शन—

शक्ति के उपासक का योग-मार्ग की ओर बढ़ जाना कठिन नहीं है, अतः योग की शब्दावली और विचारधारा का प्रयोग निराला जी ने किया है :—

चक्र के सूक्ष्म छिद्र के पार
वेधना तुझे मीन, शर मार !

× × ×

मिलेगी कृष्णा-सिद्धि महान् !
खोजता कहाँ उसे नादान ?
तुझी में सकल सृष्टि की शान !

[गीतिका]

विशिष्टाद्वैत—

तुम तुंग हिमालय शृंग और
मैं चंचल गति सुर सरिता
तुम विमल हृदय उच्छ्वास और
मैं कान्त कामिनी-कविता !

[—परिमल]

यह भक्तिपरक रचना रैदास की इस वाणी के मेल में रखी जा सकती है—"प्रभु जी तुम चन्दन हम पानी !" महादेवी ने भी आराध्य को सदैव

प्रियतम ही नहीं, कभी-कभी पूज्य और स्वामी मानकर दास्य भाव की भी अभिव्यक्ति की है :—

क्या पूजा क्या अर्चन रे!
उस असीम का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे!
× × × ×
प्रिय प्रिय जपते अधर, ताल देता पलकों का नर्तन रे!
[—आधुनिक कवि]

इसमें निर्गुण भक्ति का सुन्दर उदाहरण दिखलाई पड़ता है। महादेवी ससीम होती हुई भी आत्मा की ब्रह्म से अभिन्नता मानने के कारण अपने को अनन्त-असीम मानती हैं, इस तरह उन्होंने द्वैतवाद को स्वीकार किया है और कहती हैं कि मैं ही ब्रह्म भी हूँ और उसका अंश जीव भी :—

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ!
× × ×
कूल भी हूँ कूल हीन प्रवाहिनी भी हूँ!
[आधुनिक कवि]

पुनर्जन्म और कर्मफल—

भारतीय संस्कृति की यह विशेषता है कि उसमें सभी दर्शनों ने—चाहे वे आत्मवादी हों या अनात्मवादी, पुनर्जन्म और कर्मफल को स्वीकार किया है। ये सिद्धान्त सामन्ती बन्धनों की दार्शनिक अभिव्यक्ति हैं, अतः छायावादी कविता पर उनका अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। फिर भी कहीं-कहीं उनकी अभिव्यक्ति हुई है। महादेवी जी मानती हैं कि जीव जन्म से पवित्र होते हुए भी कर्मों के कारण कलुषित हो जाता है, फिर मरता और फिर जन्म ग्रहण कर कर्म-क्रीड़ा में रत होता रहता है!

ओ चंचल जीवन-बाल
मृत्यु जननी ने अंक लगाया!
× × ×
नूतन प्रभात में अक्षय गति का वर दे,
तन सजल घटा सा तड़ित-छटा सा उर दे,
हँस तुझे खेलने जग में फिर पहुँचाया!

जगत की अनित्यता—

कर्मफल और पुनर्जन्म की तरह ही करीब-करीब सभी दर्शनों ने जगत की क्षणिकता और दुखमयता को स्वीकार किया है और जगत से ऊपर उठकर

नित्य सत्य की खोज करने का प्रयत्न किया है। वस्तुतः भारतीय दर्शन के मूल में ही जगत की अनित्यता और दुख की भावना है। अद्वैतवाद तो जगत को भ्रम ही मानता है। बौद्ध और जैनधर्म भी उसे क्षणिक और परिवर्तनशील मानते हैं। छायावादी कवियों ने अतिशय संवेदनशील होने तथा भारतीय दर्शनों के अध्ययन के कारण इन भावनाओं की अभिव्यक्ति की है। पंत ने नित्य सत्य की खोज में जगत की अनित्यता का दर्शन किया है और उसके दुखमय तथा परिवर्तनशील स्वरूप को देखकर व्याकुल हुए हैं :—

आज बचपन का कोमल गात, जरा का पीला पात !
चार दिन सुखद चाँदनी रात और फिर अन्धकार अज्ञात !

× × × ×

खोलता इधर जन्म लोचन
मूँदती उधर मृत्यु क्षण क्षण

[अनित्य जगत-आधुनिक कवि]

जगत की परिवर्तनशीलता को देखकर उनके मन में यह सहज प्रश्न उठा है कि यह जगत ऐसा क्यों है। उनका हृदय निराशा और क्षोभ से चंचल हो उठा है और अन्त में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि परिवर्तन ही सत्य है :—

अहे निष्ठुर परिवर्तन !
तुम्हारा ही ताण्डव नर्तन
विश्व का करुण विवर्तन !

× × ×

एक सौ वर्ष नगर उपवन
एक सौ वर्ष विजन वन,
यही तो है असार संसार !
सृजन सिंचन संहार

और अन्त में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं :—

नित्य का यह अनित्य नर्तन
विवर्तन जग जग व्यावर्तन,
अचिर में चिर का अन्वेषण
विश्व का तत्वपूर्ण दर्शन।

अनन्त वेदना और करुणा—

दुखपूर्ण जगत की इस अनित्यता और क्षणिकता को देखकर दार्शनिक की विवेक बुद्धि जाग्रत होती है और कवि की संवेदनशीलता। किन्तु सत्य को और

समस्याओं के समाधान को जानने की जिज्ञासा दोनों में समान रूप से होती है इसीलिये कभी कवि दार्शनिक दिखलाई पड़ता है और कभी दार्शनिक कवि। छायावादी कवियों में सभी ने जगत की अनित्यता को देखकर परम सत्य की खोज करने की कोशिश की है और विभिन्न रूपों में अपनी मानसिक अनुभूतियों का काव्यात्मक चित्रण किया है। पंत उस परम सत्ता का रूप इस रूपक में चित्रित करते हैं :—

अहे महाम्बुधि ! लहरों से शत लोक, चराचर
क्रीड़ा करते सतत तुम्हारे स्फीत वक्ष पर;
तुंग तरङ्गों से शत-युग शत-शत कल्पान्तर
उगल महोदर में विलीन करते तुम सत्वर;
शत-सहस्र रवि-शशि असंख्य ग्रह, उपग्रह, उडगण,
जलते, बुझते हैं स्फुलिंग से तुममें तत्क्षण;
अचिर विश्व में अखिल दिशावधि, कर्म, वचन, मन,
तुम्हीं चिरन्तन अहे विवर्तनहीन विवर्तन।

किन्तु उस परम सत्ता का ज्ञान हो जाने से ही जगत के दुखों से मुक्ति नहीं मिल सकती। इस मुक्ति के लिये भिन्न-भिन्न दर्शनों ने भिन्न-भिन्न साधना-पथों की खोज की है। अद्वैत और बौद्ध मतों ने जगत को दुखमय स्वीकार किया है और ज्ञान अथवा निर्वाण द्वारा मुक्ति को साध्य माना है। अद्वैत के अनुसार जगत के भ्रम और दुखमयता का ज्ञान ही परम तत्व का ज्ञान है। बौद्धमत के अनुसार भी अष्टांगमार्ग पर चलकर निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं और इसके लिए प्रधान साधन है अनन्त करुणा अथवा अनन्त संवेदना। अद्वैत का ब्रह्म या आत्मन ही बौद्ध दर्शन में करुणा बन गया है। व्यावहारिक जीवन में भी जीवन की विषमता और असारता की अनुभूति से करुणा की भावना उत्पन्न होती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्यक्तिगत अभावों और असफलताओं के कारण उत्पन्न वेदना की अभिव्यक्ति काव्य में उदात्तीकरण (Sublimation) के रूप में हुआ करती है। कवि के व्यक्तिगत जीवन की निराशा और वेदना उसे विश्व-व्यापी और अनन्त प्रतीत होती है; वह नियतिवादी, दुखवादी अथवा आदर्शवादी हो जाता है। तुलसी, मीरा, निराला और महादेवी में व्यक्तिगत विषाद का काव्यात्मक उदात्तीकरण बहुत अच्छी तरह से देखा जा सकता है। स्पष्ट ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण की अपरिपक्वता के कारण ही दुखवाद की उत्पत्ति होती है। व्यक्तिगत और सामाजिक वेदना के कारण और समाधान को जब कवि सामाजिक सम्बन्धों में नहीं ढूँढ़ पाता तो वह परोक्ष जैसे शक्तियों, नियति, ब्रह्म आदि की तरफ

झुकता है; किन्तु साथ ही उससे मानवतावादी विचारधारा, करुणा, भक्ति आदि का भी जन्म होता है। आध्यात्मिक प्रेम में भी विरह जनित वेदना ही अधिक दिखलाई पड़ती है क्योंकि साधक के ससीम और साध्य के असीम होने से मिलन सहज नहीं होता। इस प्रकार काव्य पर वेदना की छाया विविध दिशाओं से विविध रूपों में पड़ी है। पंत तो कवि के लिए वियोगी और दुखी होन आवश्यक मानते हैं :—

वियोगी होगा पहला कवि
आह से उपजा होगा गान,
निकलकर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान।

किन्तु कवि का यह अनुमान सर्वथा सत्य नहीं है। प्रारम्भिक कवि का दुख वियोग-जन्य नहीं, सृष्टि की असारता और परिवर्तनशीलता के दर्शन के कारण था। स्वयं पंत की 'परिवर्तन' शीर्षक कविता में व्यक्त क्षोभ, निराशा और विषाद की भावनायें जगत की अनित्यता के कारण ही उत्पन्न हुई हैं। अन्यत्र वे कहते हैं:—

वेदना ही के सुरीले हाथ से
है बना यह विश्व, इसका परमपद
वेदना का ही मनोहर रूप है।

निराला इस जगत को दुखमय देखकर परम प्रकाश की खोज करते हुए कहते हैं:—

मैं रहूँगा न गृह के भीतर,
जीवन में रे मृत्यु के विवर!
यह गुहा, गर्त प्राचीन, रुद्ध
नवदिक्-प्रसार, वह किरण शुद्ध
है कहाँ यहाँ मधु गन्ध लुब्ध
वह वायु विमल आलिंगनकर!

महादेवी में तो यह दुख की भावना विविधरूपों में व्यक्त हुई है। वे कभी जगत के दुखमय रूप का वर्णन करती हैं, कभी दुख को ही साधन मान कर सूफियों की तरह आराध्य से मिलन का प्रयत्न करती हैं और कभी दुख-सुख के समन्वय के सिद्धान्त में विश्वास प्रगट करती हैं। वे आराध्य के साधन दुख को ही आराध्य मान कर कहती हैं :—

तुम दुख बन इसपथ से आना!
शूलों में नित मृदु पाटल सा
खिलने देना मेरा जीवन,
क्या हार बनेगा वह जिसने
सीखा न हृदय को बिंधवाना!

वे दुख से घबराती नहीं, एकाकी ही उस अपरिचित पथ पर चलना पसन्द करती हैं :—

पंथ होने दो अपरिचित, प्राण रहने दो अकेला!

× × ×

दुखव्रती निर्माण-उन्मद
यह अमरता नपाते पद
बाँध देंगे अंक-संसृति से तिमिर में स्वर्ण वेला।

× × ×

हास का मधुदूत भेजो
रोष की भ्रूभंगिमा पतझार को चाहे सहेजो,
ले मिलेगा उर अचंचल
वेदना-जल स्वप्न-शतदल,
जान लो वह मिलन-एकाकी विरह में है दुकेला।

महादेवी जी दुख और सुख को एक ही सत्य के दो पहलुओं के रूप में देखती हैं क्योंकि वे एक ही निमता की कृतियाँ हैं। इसीलिये यह जगत दुख-सुख का समन्वय है :—

सब आँखों के आँसू उजले सबके सपनों में सत्य पला।

जिसने उसको ज्वाला सौंपी
उसने इसमें मकरन्द भरा,
आलोक लुटाता वह घुलघुल
देता झर यह सौरभ बिखरा,

दोनों संगी, पथ एक, किन्तु कब दीप खिला, कब फूल जला?

दुख के कारण ही विश्व में करुणा और सहानुभूति की भावना उत्पन्न होती है। तभी तो मीरा कह सकीं 'घायल की गति घायल जाने और न जाने कोय'। महादेवी भी इसीलिये सभी दुखियों के दुख में आँसू बहाना चाहती हैं :—

प्रिय जिसने दुख पाला हो
जिन प्राणों से लिपटी हो पीड़ा सुरभित चन्दन सी
तूफानों की छाया हो जिसको प्रिय-आलिंगन सी
जिसको जीवन की हारें हों जय के अभिनन्दन सी
वर दो, मेरा यह आँसू
उसके उर की माला हो।

और प्रसाद भी अपने जीवन-गीत द्वारा जगत को करुणा का सन्देश सुनाना चाहते हैं क्योंकि उनके अनुसार सुख-दुख का यह क्रम निरन्तर चलता ही रहेगा :—

लालसा निराशा में ढलमल,
वेदना और सुख में विह्वल,
यह क्या है रे मानव जीवन
कितना है रहा निखर ?

[लहर]

पंत भी प्रसाद के स्वर में स्वर मिलाकर कहते हैं :—

जग पीड़ित है अति दुख से,
जग पीड़ित रे अति सुख से,
मानव जग में बँट जावें
दुख सुख से औ सुख दुख से !

[गुंजन]

यह करुणा की भावना ही सामाजिक क्षेत्र में मानवतावादी विचारों को जन्म देती है, शोषित पीड़ित मानवता के प्रति करुणा और ममता की भावनाओं की अभिव्यक्ति छायावादी कविता में भी कम नहीं हुई है। निराला और पन्त सामाजिक क्षेत्र में भी बहुत ही संवेदनशील हैं। 'विधवा' 'भिक्षुक' 'वह तोड़ती पत्थर' आदि कविताओं में निराला की मानवतावादी भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति हुई है :—

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा सी
वह दीपशिखा सी शान्त भाव में लीन
वह क्रूरकाल-ताण्डव की स्मृति-रेखा सी
वह टूटे तरु की छुटी लता सी दीन
दलित भारत की ही विधवा है। [विधवा—निराला]

पंत जी के अनुसार सामाजिक दुख को दूर करने का मार्ग व्यक्ति के व्यक्तित्व

को तपःपूत बनाना ही है, इसीसे जीवन को सुन्दर और सुखमय बनाया जा सकता है। इसलिये वे वेदना को साधन मानकर तप-त्याग की महत्ता सिद्ध करते हैं :—

तप रे मधुर-मधुर मन !
विश्व-वेदनौ में तप प्रतिपल,
जग-जीवन की ज्वाला में गल,
बन अकलुष उज्ज्वल औ कोमल !
× × ×
अपने सजल स्वर्ण से पावन
रच जीवन की मूर्त्ति पूर्णतम
स्थापित कर जग में अपनापन !

[आधुनिक कवि]

आनन्दवाद

संसार की अनित्यता और दुखों से मुक्ति पाने के लिए अद्वैतवाद की एक दूसरी शाखा शैवागम के प्रत्य-भिज्ञादर्शन ने आनन्दमूलक साधना का मार्ग निकाला था। उसके अनुसार प्रत्येक अणु-परमाणु में शिव और शक्ति दो तत्व निहित रहते हैं। शिव ज्ञान के और शक्ति क्रिया के प्रतीक के रूप में हैं। ये दोनों शक्तियाँ जब असमन्वित होती हैं तो मनुष्य को दुख का आभास होता है। वस्तुतः दुख अनित्य और भ्रम है। व्यक्ति को अपने शिवत्व का ज्ञान हो जाने और ज्ञान, इच्छा तथा क्रिया का समन्वय कर लेने के बाद प्रतिकूल वेदना अर्थात दुख का बोध नहीं होता। इस तरह यह दर्शन रागमूलक आनन्द (त्यागमूलक आनन्द नहीं) को ही लक्ष्य मानता है। प्रसाद जी ने इस दर्शन को सचेत रूप से अपने काव्य का उपादान बनाया है। वस्तुतः समूचे प्रसाद-साहित्य की रीढ़ यह आनन्दवादी दर्शन ही है। सुख और दुख के समन्वय की बात तो अन्य कवियों ने भी की है जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है, किन्तु प्रसाद ने दुख-सुख के समन्वय का नहीं, दुख के उन्मूलन और आनन्द की प्रतिष्ठा को ही लक्ष्य माना है। कामायनी महाकाव्य में यही दर्शन काव्य के रूप में उपस्थित किया गया है। इस दर्शन के अनुसार शिव-शक्ति जड़-चेतन जगत में समान रूप से व्याप्त हैं:—

नीचे जल था ऊपर हिम था
एक तरल था एक सघन
एक तत्व की ही प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन। [कामायनी]

मनुष्य शिव के संकल्पात्मक ज्ञान (श्रद्धा या विश्वास) द्वारा ही प्रतिकूल वेदनाओं का तिरोभाव कर सकता है, अन्यथा उसी का सुख ऐश्वर्य उसे खाने लगता है। देव-सृष्टि के विनाश का यही कारण था :—

वे सब डूबे डूबा उनका विभव बन गया पारावार,
उमड़ रहा है देव-सुखों पर दुःख-जलधि आनन्द अपार !

[कामायनी]

आनन्दवाद संन्यासमूलक तप और त्याग का समर्थन नहीं करता। वह जीवन को विकासशील और भोगमय मानता है :—

तप नहीं, केवल जीवन सत्य
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद,
तरल अकांक्षा से है भरा
सो रहा आशा का आह्लाद।

वह सृष्टि को परिवर्तनशील और जीवन के लिये कर्म और भोग को आवश्यक मानता है।

नित्य नूतनता का आनन्द किये है परिवर्तन में टेक
× × × ×
कर्म का भोग, भोग का कर्म, यही जड़ का चेतन आनन्द

सृष्टि के विस्तार के लिये व्यष्टि में दो शक्तियों के साथ ही साथ समाज में भी स्त्रीशक्ति और पुरुषशक्ति का योग आवश्यक है। इन शक्तियों के समन्वय से ही मानवता की विजय हो सकती है—

शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त विकल बिखरे हैं हो निरुपाय;
समन्वय उनका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाय।

समन्वय के लिये मानव की रागात्मक प्रवृत्तियों को छोड़ा नहीं जा सकता। अतः शारीरिक भोग के मार्ग से ही आध्यात्मिक आनन्द या शिवत्व की प्राप्ति हो सकती है, किन्तु मनुष्य की संकल्पात्मक अनुभूति (Intutive Knowledge) सदैव उसे सत्पथ पर प्रेरित करती रहती है और अन्त में उसे समन्वय का मंत्र बताती है। कामायनी की श्रद्धा ही वह संकल्पात्मक अनुभूति है जो मनु (मानव मन) को विकल्पात्मक आवर्तों के बीच से समय-समय पर बाहर निकाला करती है: —

नारी तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास-रजत-नग-पदतल में,
पीयूष-स्रोत सी बहा करो जीवन के सुन्दर समतल में।

कर्ममय जीवन का एकांगी विकास होना भी मानव के लिये घातक है चाहे

वह आध्यात्मिक विकास हो या भौतिक। मनु ने शुरू में इड़ा (बुद्धि) के साथ मिलकर चरम भौतिक विकास किया और आस्था (श्रद्धा) को महत्व नहीं दिया। परिणाम हुआ संघर्ष और आधिदैविक विपत्ति। ऐसे समय में फिर श्रद्धा का मनु के हृदय में उदय हुआः—

तुमुल कोलाहल-कलह में मैं हृदय की बात रे मन !
विकल होकर नित्य चंचल
खोजती जब नींद के पल
चेतना थक सी रही तब मैं मलय की बात रे मन !

बुद्धि जहाँ हार मान जाती है वहीं सहज ज्ञान या आत्मप्रकाश (Intutive Knowledge) का उदय होता है जो मनुष्य को आशा और आनन्द प्रदान करता है।

कामायनी के 'दर्शन' सर्ग में कवि ने महाचिति को मूर्त्त शिव के रूप में नृत्य करते हुये दिखलाया है। उसके अनुसार यह जगत शिव का मूर्त्त रूप है, अतः आनन्दमय है :—

चिति का स्वरूप यह नित्य जगत वह रूप बदलता है शत-शत,
कण विरह मिलनमय नृत्य-निरत, उल्लासपूर्ण आनन्द सतत।
[कामायनी]

'रहस्य' सर्ग में ज्ञान, इच्छा और क्रिया के असामंजस्य का प्रतीकात्मक वर्णन किया गया है :—

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
एक दूसरे से न मिल सके यह विडम्बना है जीवन की।

इस सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान, इच्छा और क्रिया में संतुलन और सामञ्जस्य हुये बिना जीवन की सच्ची आवश्यकतायें नहीं पूरी हो सकतीं। किसी एक की कमी से जीवन में विषमतायें उत्पन्न हो जायेंगी और आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। इसलिये 'आनन्द' सर्ग में कवि आनन्दलोक (कैलाश) का दर्शन कराता है। इस लोक में ले जाने वाली शक्ति श्रद्धा है। उस आनन्दलोक का स्वरूप कवि ने इस प्रकार चित्रित किया गया है:—

समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती आनन्द अखण्ड घना था।

पहले कहा जा चुका है कि व्यक्तिवादी आदर्शवाद इस युग में अध्यात्मवाद, मानवतावाद, विश्व-मानवतावाद, मानववाद आदि अनेक रूपों में व्यक्त हुआ।

विश्वमानवतावाद और समन्वयवाद

इसका कारण पूँजीवादी लोकतंत्र का स्वतंत्रता, समता और बन्धुत्व का सिद्धान्त था। इसके अनुसार मनुष्य ने सामाजिक बन्धनों से मुक्ति पाने के विविध मार्गों की खोज की। धीरे-धीरे पूँजीवाद की असंगतियों से भी मुक्ति पाने का मार्ग खोजा जाने लगा और जनवाद समष्टिवाद, साम्यवाद आदि भावनाओं का प्रचार। हुआ छायावादी कविता में १९३० के बाद इन भावनाओं की अधिकाधिक अभिव्यक्ति होने लगी। इसके पहले कवि अधिक अन्तर्मुखी होने के कारण बुद्धिवादी कम और भावुक अधिक थे। पन्त ने इस सम्बन्ध में लिखा है, "तब मैं प्राकृतिक दर्शन (naturalistic philosophy) से अधिक प्रभावित था और मानव जाति के ऐतिहासिक संघर्ष के सत्य से अपरिचित था। दर्शन मनुष्य के ऐतिहासिक संघर्ष का इतिहास है, विज्ञान सामूहिक संघर्ष का··· जीवन की इस ऐतिहासिक व्याख्या के अनुसार हम संसार में लोकोत्तर मानवता का निर्माण करने के अधिकारी हैं।"। प्रकृति के नियमों की अटलता स्वीकार कर लेने पर मनुष्य का नियतिवादी, अध्यात्मवादी और आदर्शवादी हो जाना स्वाभाविक ही है। किन्तु बढ़ते हुये सामाजिक संघर्ष मनुष्य जाति को स्थिर बैठा नहीं रहने दे सकते। इसलिये मनुष्य जाति के अग्रचेता चिन्तक कवि बुद्धि के सहारे संसार को समझने की चेष्टा करते और सामाजिक संघर्षों के मूलकारण वर्गसंघर्ष को मिटाने का प्रयत्न करते हैं। जबतक वर्गसंघर्ष का रूप अधिक तीव्र नहीं हुआ रहता, समाज के सभी वर्गों के उदय सर्वोदय , विश्वमानवतावाद आदि आदर्शों की स्थापना होती है और जब वह अधिक तीव्र हो जाता है तो बहुजन समाज की विजय और वर्गहीन समाज की स्थापना की कामना की जाती है। छायावादी कविता में ये दोनों ही प्रकार की प्रवृत्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं। अद्वैतवादी विचारधारा की अभिव्यक्ति इस युग की कविता में इसीलिये हुई कि उसमें पूँजीवादी स्वातंत्र्य और समानतामूलक भावनाओं के लिये बहुत अधिक अवकाश था। कामायनी का समन्वय सिद्धान्त, रामकृष्ण परमहंस का सर्व-धर्म-समन्वयवाद, रवीन्द्रनाथ ठाकुर का विश्वमानवतावाद, महात्मा गांधी का सर्वोदय और अहिंसावाद भी उसी पूँजीवादी विचारधारा की सांस्कृतिक और राजनीतिक अभिव्यक्ति हैं। दार्शनिक और आध्यात्मिक आदर्शवाद की चर्चा तो ऊपर हो चुकी है, यहाँ मानवतावादी आदर्शवाद और मानववाद (जनवाद, साम्यवाद आदि) की विचारधारा से सम्बद्ध कविताओं पर विचार किया जायगा।

मनुष्य संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। उसने जीवनीशक्ति के साथ इच्छाशक्ति का योग करके बुद्धि के चरम विकास द्वारा प्रकृति पर विजय प्राप्त की है और आगे भी करता जायगा। इसी नियम के अनुसार वह समाज का संगठन करता, उसके नियम बनाता और बदली हुई परिस्थितियों में पुराने नियमों को तोड़कर फिर नये सामाजिक नियमों की स्थापना करता है। इस प्रकार वह आत्मिक और वैयक्तिक स्वच्छन्दता के साथ भौतिक और सामाजिक नियमन, मर्यादा और नियन्त्रण का समन्वय करता है। मानवता के विकास के लिये यह समन्वय नितान्त आवश्यक है। इसी समन्वय के कारण सामूहिक अथवा मानवीय व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा होती है। मनुष्य की इस महानता का कारण पूँजीवादी दार्शनिक यह मानते हैं कि व्यक्ति जन्म से पवित्र होता है पर समाज की विकृतियाँ उसे विकृत कर देती हैं। पूँजीवाद इसी दृष्टि से सामाजिक परिवर्तन के लिए आन्दोलन करता है। —अस्तु;

मानव की इसी महानता को ध्यान में रखकर पंत ने अपने अन्तर्मुखी घेरे से निकलकर देखा कि सौन्दर्य मानवेतर प्रकृति ही में नहीं, मानव में भी है:—

सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर,
मानव तुम सबसे सुन्दरतम!

['मानव'—आधुनिक कवि]

यह सौन्दर्य शारीरिक नहीं, आत्मिक है क्योंकि मनुष्य की मनुष्यता पशुओं से भिन्न करती है। उस मनुष्यता के शाश्वत गुण हैं सत्य, प्रेम, क्षमा, करुणा, अहिंसा, अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह आदि। मानवतावादी कवि मनुष्य के इन्हीं सुप्त गुणों को जाग्रत करना चाहता है:—

मानव का मानव पर प्रत्यय
परिचय मानवता का विकास,
विज्ञान-ज्ञान का अन्वेषण
सब एक, एक सबमें प्रकाश!
प्रभु का अनन्त वरदान तुम्हें
उपभोग करो प्रतिक्षण नव-नव,
क्या कमी तुम्हें है त्रिभुवन में
यदि बने रह सको तुम मानव?

['मानव'—आधुनिक कवि]

इस प्रकार मनुष्य को प्रकृति से ऊँचा सिद्ध किया गया और प्रकृति को साध्य नहीं, साधन माना गया। पंत ने यह भी देखा कि पशु जगत में कहीं-कहीं

जो सामूहिकता दिखलाई पड़ती है, मनुष्य में आज भी उसकी कमी है। इसलिये चींटी के सामूहिक श्रम का उदाहरण देते हुये वे कहते हैं:—

बाह्य नहीं आन्तरिक साम्य
जीवों से मानव का प्रकाम्य,
मानव को आदर्श चाहिये
संस्कृति, आत्मोत्कर्ष चाहिये।
× × ×
जीवित चींटी जीवन-वाहक
मानव जीवन का वर नायक
वह स्वतंत्र वह आत्म विधायक
× × ×
पूर्ण-तन्त्र मानव, वह ईश्वर
मानव का विधि उसके भीतर।

['चींटी'—युगवाणी]

इस प्रकार पंत अध्यात्म और प्रकृति के क्षेत्र से हटकर मानव-क्षेत्र में प्रवेश करते और मनुष्य के ऊपर किसी दूसरी शक्ति की सत्ता को स्वीकार करते हैं। वे मानवता के विकास के लिये वर्गीय संस्कृति के पराभव को आवश्यक मानते हैं. तभी वर्गहीन जनसंस्कृति की स्थापना हो सकेगी:—

गत संस्कृतियों का आदर्शों का था नियत पराभव,
वर्ग-व्यक्ति की आत्मा पर थे सौधधाम जिनके स्थित,
तोड़ युगों के स्वर्णपाश अब मुक्त हो रहा मानव,
जन-मानवता की भव-संस्कृति आज हो रही निर्मित!

['महात्माजी के प्रति'—आधुनिक कवि]

निराला भी मानवता के कल्याण की प्रार्थना करते हुये कहते हैं:—

सार्थक करो प्राण!
स्पर्द्धान्ध जन—गात्र
जर्जर अहोरात्र
शेष जीवन मात्र
कुड्मल गताघ्राण
जननि दुख अवनि को
दुरित से दो त्राण!

[गीतिका]

और प्राचीन संस्कृति के अग्राह्य तत्वों को मिटा देने की कामना करते हुये कहते हैं:—

जला दे जीर्ण-शीर्ण प्राचीन,
क्या करूंगा तन जीवनहीन !

[गीतिका]

मानव-समानता की घोषणा उन्होंने इन शब्दों में की है:—

तोल तू उच्च नीच समतोल
एक तरु के से सुमन अमोल
सफल लहरों में एक उठान !

× × ×

सकल मार्गों से चलकर एक
लक्ष्य पर पहुँचें लोग अनेक
सफल शुभ फलप्रद एक विधान !
बाँध माँ तन्त्री के से गान ! [गीतिका]

मनुष्य अपनी बुद्धि के सहारे अनादि काल से अब तक भौतिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों में बहुत अधिक उन्नति कर चुका है किन्तु आज उसका ज्ञान ही उसे अभिशाप बन गया है। आज वह देवत्व से पशुत्व की ओर बढ़ रहा है। मानवतावादी कवि भगवतीचरण वर्मा को यह स्थिति असह्य है। अपनी पुस्तक 'मानव' की भूमिका में वे कहते हैं "हरेक पशु अपने लिये जीता है और वह केवल अपने लिये जीता है, दूसरों की उसे जरा भी चिन्ता नहीं। हम पशुता से ऊपर उठे हुये मनुष्य हैं, हमें दूसरों से सम्बद्ध जीना है। सीमित और संकुचित अहं पशुता के निकट और मानवता से दूर है। हममें कोमल और कल्याणकारी प्रवृत्तियाँ मौजूद हैं; हम उन्हें विकसित कर सकते हैं, क्योंकि दूसरों के सुख में सुख पाने की एक अन्तःप्रेरणा हर मनुष्य में है।" इस दृष्टि से देखने पर पूँजीवादी युग में मनुष्यता का उन्नयन नहीं, अधःपतन हो हुआ है। अतः वर्मा जी कहते हैं:—

हम लेने को देवत्व बढ़े, पशुता का हमें प्रसाद मिला।
पर की तड़पन में आँसू में हमको अपना आह्लाद मिला।

× × × ×

अपने बोझे से दबे हुये मानव को कहाँ विराम यहाँ,
सुख-दुख की संकरी सीमामें अस्तित्व बनाना काम यहाँ !

['मानव'—भगवतीचरण वर्मा]

कभी-कभी मानव का यह पतन देखकर कवि को निराशा होती है :—

मैं देख रहा दानवता के दुस्साहस के विकराल कृत्य,

× × × ×

मैं देख रहा यह मानवता कितनी निर्बल कितनी अनित्य !

['मानव'—भगवतीचरण वर्मा]

किन्तु यह निराशा स्थायी नहीं है। कवि नरेन्द्र मानवता के विकास के लिए नवीन परिवर्तन लाना चाहते हैं और अपने ही नियमों द्वारा बन्दी मानव को उसकी शक्ति की याद दिलाते हुये कहते हैं :—

जागो पहचानो अपने को
मानव हो समझो निज गौरव,
अन्तस्तल की आँखें खोलो,
देखो निज अतुलित बल-वैभव !

अहंकार औ स्वाधिकार दो पृथक-पृथक पथ हैं बन्दी।
आओ हथकड़ियाँ तड़का दूँ, जागो रे नतशिर बन्दी !

मानवता की दुर्दशा देखकर इस युग के अधिकांश कवियों ने आँसू बहाये किन्तु उस दुर्दशा के मूल कारण आर्थिक वैषम्य की तरफ अधिक लोगों का ध्यान नहीं गया। फिर भी जिस तरह राजनीति में गांधीवाद के उदय के साथ समाज के दलित-उपेक्षित लोगों की तरफ ध्यान दिया जा रहा था उसी तरह काव्य में भी उपेक्षिता-दलित जन काव्य के आलम्ब बने और कभी करुणा, कभी उत्साह और कभी रति भावनाओं का अधिकाधिक चित्रण होने लगा। निराला ने सामाजिक वैषम्य से उत्पन्न परिस्थिति का चित्रण अनेक कविताओं में किया है जिसमें 'विधवा', 'भिखारी', 'वह तोड़ती पत्थर' आदि प्रसिद्ध हैं।

'दान' शीर्षक कविता में वे कहते हैं :—

एक ओर पथ के कृष्णकार्य
कंकालशेष नर मृत्युप्राय
बैठा सशरीर दैन्य दुर्बल !

× × ×

मेरे पड़ोस के वे सज्जन
करते प्रतिदिन सरिता-मज्जन
झोली से पुए निकाल लिये
बढ़ते कपियों के हाथ दिये !

देखा भी नहीं उधर फिर कर
जिस ओर रहा वह भिक्षु इतर,
चिल्लाया किया, दूर दानव !'
बोला मैं, 'धन्य श्रेष्ठ मानव !'

[अनामिका—निराला]

इसी तरह नरेन्द्र, दिनकर, भगवतीचरण वर्मा, 'नवीन' आदि अन्य कवियों ने भी सामान्य मानव के प्रति विशेष सहानुभूति दिखलाई। भिखारी को जूठे पत्ते चाटते देखकर कवि 'नवीन' की करुणा क्रोध में बदल जाती है; वे विप्लव की कामना करने लगते हैं :—

क्या देखे हैं तुमने नर को नर के आगे हाथ पसारे ?
क्या देखा है तुमने उसकी आँखों के खारे फव्वारे ?
देखे हैं, फिर भी कहते हो कि तुम नहीं हो विप्लवकारी,
तब तो तुम पत्थर हो या हो महाभयंकर अत्याचारी।

विषय-वस्तु (४)

यथार्थ की ओर

कहा जा चुका है कि छायावाद-युग के पूर्वार्द्ध की कविता में आदर्शवाद की प्रधानता है ; उसमें कवि का दृष्टिकोण आध्यात्मिक और मानवतावादी है। १९३० के बाद की कविता में यद्यपि महादेवी, प्रसाद, रामकुमार वर्मा आदि कवि अपने पुराने रास्ते पर ही चलते रहे, पर पन्त, निराला, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान, नवीन, दिनकर, नरेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, बच्चन, नेपाली, अंचल आदि कवियों ने कविता की भावभूमि को बदलने का प्रयत्न भी किया। साथ ही उनका दृष्टिकोण भी बदलने लगा। इस समय तक राजनीतिक आन्दोलन और आर्थिक संघर्ष इतने उग्र हो गये थे कि कवि सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं से अपने को अलग नहीं रख सकते थे। यथार्थ का दबाव इतना तीव्र हो गया था कि देश के प्रत्येक वर्ग की जनता के जीवन पर उसका प्रभाव पड़ रहा था। कवि भी संवेदनशील होने के कारण उन समस्याओं का समाधान अपने ढंग से खोजने लगे। मानवतावादी आदर्शवाद और भौतिकता तथा आध्यात्मिकता के समन्वय में पन्त जी को एक समाधान मिला पर वे स्वयं इससे सन्तुष्ट नहीं हुए। दलित-दुखी मानव का परित्राण तत्व-चिन्तन और समन्वय-सिद्धान्त के उपदेश से नहीं हो सकता। ऐसी परिस्थिति में, जब सामाजिक समस्याएँ अविलम्ब अपना समाधान माँगती हों, बौद्धिक सहानुभूति भी बेकार होती है। उस समय तो संघर्ष, विद्रोह और क्रान्ति के अतिरिक्त समाज के सामूहिक हित का और कोई रास्ता नहीं रह जाता। ऐसे समय में सामाजिक विषमताओं और बन्धनों से मुक्ति पाने के लिए मध्यवर्ग या तो अहंवादी होकर अपनी हीनता की भावना को तुष्ट करता है या निराश और दुखी होकर मृत्यु की कामना करता, नियति को कोसता और हाला-प्याला-मधुशाला की शरण लेता है। सामाजिक संघर्ष को दबाने के लिए पूँजीवाद भी नियतिवाद और ऐन्द्रिक भोगवाद का सहारा लेता है। इसी कारण इस युग में, जब कि पूँजीवाद ह्रासशील हो रहा था, ऐन्द्रिकता और काम-प्रवृत्ति की ओर मध्यवर्गीय युवक तेजी से बढ़ने लगे जिनके प्रतिनिधि कवि बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र और अंचल थे। इस तरह

१९३० से १९३९ की कविता में प्रधानतया इन विषयों को लेकर कवितायें लिखी गयीं :—

१—आध्यात्मिक प्रेम (रहस्यवाद) ।

२—मानवतावादी आदर्श ।

३—सामाजिकता और राष्ट्रीयता ।

४—वर्ग-संघर्ष की भावना ।

५—अहं और निराशा की भावना ।

६—ऐन्द्रिकता और मधुचर्या ।

इनमें आध्यात्मिक प्रेम और मानवतावादी आदर्शों की चर्चा पहले हो चुकी है। शेष प्रवृत्तियों का सम्बन्ध यथार्थ जीवन से है; यद्यपि उनमें सामाजिक यथार्थ का सच्चा रूप कम और उसका भ्रम अधिक दिखलाई पड़ता है। मानवतावाद भी सामाजिक असंगतियों से ही उत्पन्न होता है पर वैज्ञानिक दृष्टि की कमी होने से वह सामंजस्य और सुधार पर अधिक ध्यान देता है; समस्या के मूल कारणों और उनके निराकरण पर कम। इसलिए मानवतावाद को यथार्थोन्मुख आदर्शवाद कहा जा सकता है। राजनीतिक और सामाजिक विषयों पर लिखी गयी कविताओं में भी कवियों की दृष्टि वैज्ञानिक कम, भावुकतापूर्ण अधिक थी। अहंवाद, निराशावाद और भोगवाद की कविताओं में यथार्थ की ओर बढ़ाने की इतनी ही बात दिखलाई पड़ी कि उनमें कवियों का आध्यात्मिक स्वप्न टूट गया और वे अपने व्यक्तिगत जीवन की बातों की सीधे शब्दों में चर्चा करने लगे। अतः ये कवितायें यथार्थ जीवन से सम्बद्ध होते हुए भी असामाजिक और प्रतिक्रियावादी अधिक थीं। पर इस युग की सभी प्रेम-कवितायें ऐसी ही नहीं थीं। कुछ में मध्यवर्ग के पारिवाकि जीवन की सची रागात्मक अनुभूतियों की बहुत ही मार्मिक व्यंजना हुई है। सुभद्राकुमारी चौहान, बच्चन और नरेन्द्र की बहुत सी प्रेम विषयक कवितायें इसके प्रमाणस्वरूप उपस्थित की जा सकती हैं।

राष्ट्रीयता की भावना

छायावाद-युग में. राजनीतिक आन्दोलन जितना तीव्र हुआ और लोकतंत्र की भावना का जितना विकास हुआ उसके अनुपात में राष्ट्रीय भावना की काव्यात्मक अभिव्यक्ति नहीं हुई। इसका कारण विद्रोहयुग की कविता नामक अध्याय में बताया जा चुका है। फिर भी इस युग में राष्ट्रीय और राजनीतिक कविताओं का अभाव नहीं है, बल्कि मात्रा में वे पिछले युगों से अधिक ही होंगी। किन्तु जो कुछ भी राष्ट्रीयतावादी कवितायें लिखी गयीं उनमें तेज, उत्साह, बौद्धिकता और क्रियाशीलता की भावना पहले से बहुत अधिक थी।

सत्याग्रह आन्दोलन और कांग्रेस के देशव्यापी संगठन के कारण देश की जनता में आत्मिक और नैतिक बल आ गया था जिससे राजनीतिक हलचलों का प्रतिबिम्ब काव्य में भी पड़ने लगा। इस काल की कविता ने निश्चित रूप से देश की राजनीतिक चेतना और उत्साह को जाग्रत करने में बहुत अधिक योग दिया। संक्रान्ति-युग की राष्ट्रीयता में हिन्दू राष्ट्रीयता की भावना अधिक थी और कवियों में अंग्रेजों के प्रति विश्वास बना हुआ था। पुनरुत्थान-युग में बौद्धिक सहानुभूति की काव्यात्मक अभिव्यक्ति अधिक हुई, परन्तु छायावाद-युग के कवियों में से कुछ ने स्वतंत्रता-संग्राम में भाग लिया, सैनिकों को उत्साहित किया और स्वतंत्रता संग्राम के लिए अपनी वाणी द्वारा वातावरण उत्पन्न करने की भी चेष्टा की। इस तरह राष्ट्रीयता की भावना इस युग में तीन रूपों में अभिव्यक्त हुई:—

१—देश-प्रेम २—स्वतंत्रता के युद्ध के लिए उत्साह ३—राज-नीतिक क्रान्ति या बगावत बना।

पिछले युगों की तरह इस युग में भी 'भारत माता' की कल्पना को मूर्त रूप देकर उसकी विजय की कामना की गयी:—

भारति, जय, विजय करे!
कनक - शस्य - कमलधरे!
लंका पदतल - शतदल,
गर्जि-तोर्मि सागर - जल
धोता शुचि चरण युगल,
स्तव कर बहु-अर्थ-भरे!
[गीतिका—निराला]

प्रसाद ने भी अपने देश का गुणगान करते हुये उसे विश्व का सर्वश्रेष्ठ देश बताया:—

अरुण यह मधुमय देश हमारा!
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा!
सरस तामरस-गर्भ-विभा पर, नाच रही तरुशिखा मनोहर,
छिटका जीवन-हरियाली पर मंगल-कुंकुम तारा!
[प्रसाद]

बाद में चल कर पंत ने भारतमाता को दरिद्र ग्रामवासिनी स्त्री के रूप में चित्रित किया। उन्होंने राष्ट्रगीत की भी रचना की:—

जय भारत हे, भारत हे !
स्वर्ग स्तम्भवत गौरव मस्तक
उन्नत हिमवत हे !

['राष्ट्रगान'—ग्राम्या]

इस युग के कवियों ने देश की जनता, नदी, पर्वत, भूमि आदि के प्रति अपना रागात्मक सम्बन्ध प्रकट करते हुए कवितायें लिखीं। 'हिमालय' शीर्षक कविता में दिनकर देश की दशा का वर्णन करते हुये कहते हैं:—

मेरे नगपति, मेरे विशाल !
सुखसिन्धु, पञ्चनद, ब्रह्मपुत्र,
गंगा-यमुना की अमियधार,
जिस पुण्यभूमि की ओर बही
तेरी विगलित करुणा उदार,
उस पुण्यभूमि पर आज तपी—
रे आन पड़ा संकट कराल,
व्याकुल तेरे सुत तड़प रहे
डँस रहे चतुर्दिक विविध व्याल !

[हुंकार—दिनकर]

देश-भक्ति के अतिरिक्त स्वातन्त्र्य-युद्ध में भाग लेने वाले सैनिकों के त्याग और तपस्या की भी कवियों ने प्रशंसा की और इस तरह जनता में राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न की। माखनलाल चतुर्वेदी और सुभद्राकुमारी चौहान ने इस तरह की अनेक कवितायें लिखीं। पुष्प की अभिलाषा का वर्णन करते हुये माखनलालजी कहते हैं:—

'मुझे तोड़ लेना वनमाली
उस पथ पर देना तुम फेंक,
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने
जिस पथ जावें वीर अनेक ! [त्रिधारा]

और सुभद्राकुमारी चौहान सत्याग्रह तथा अहिंसा का पथ अपनाकर स्वतंत्रता प्राप्त करने की कामना करती हैं:—

विजयिनी माँ के वीर सुपुत्र
पाप से असहयोग लें ठान !
गुँजा डालें स्वराज्य की तान,
और सब हो जावें बलिदान !

ऐतिहासिक वीरों के स्वतंत्रता प्रेम की रोमांचक कहानी की याद दिला कर भी स्वतंत्रता की भावना जाग्रत की गई। सुभद्राकुमारी चौहान और दिनकर ने इस प्रकार की कवितायें लिखीं। श्रीमती चौहान की 'झाँसी की रानी' शीर्षक कविता न केवल देश भर में प्रसिद्ध हुई बल्कि स्वतंत्रता-संग्राम का प्रयाण गीत भी बनी:—

बुन्देले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी !
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसीवाली रानी थी !

दिनकर ने 'रेणुका' और 'हुंकार' में अपने राष्ट्र-गीतों द्वारा राष्ट्रीय भावना की भावुकतापूर्ण अभिव्यक्ति की और अधिकतर ऐतिहासिक वीरों और घटनाओं का सहारा लिया। हिमालय शीर्षक कविता में वे अतीत की याद करते हुये कहते हैं:—

तू पूछ अवध से राम कहाँ,
बृन्दा बोलो घनश्याम कहाँ ?
ओ मगध कहाँ मेरे अशोक,
वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ ?

राष्ट्रीयता की भावना जब उग्र रूप धारण करती है तो वह विपथगा क्रान्ति के रूप में दिखलाई पड़ती है जिसमें बुद्धिपूर्वक सोची हुई किसी योजना का अभाव दिखलाई पड़ता है। बँगला के कवि नजरुल इस्लाम ने अपनी पुस्तक 'अग्नि-वीणा' में इस तरह की कवितायें प्रकाशित कराकर बहुत यश प्राप्त किया। इसका प्रभाव हिन्दी कवियों पर भी पड़ा। इस तरह की कविताओं में अत्यधिक क्षोभ और वर्त्तमान से घोर असन्तोष की भावना अत्यन्त ओजपूर्ण शब्दों में व्यक्त की गई और इस तरह देश को सशस्त्र क्रान्ति की ओर बढ़ने के लिये ललकारा गया। उनमें इस बात का संकेत नहीं किया गया कि ऐसी क्रांति के बाद किस तरह की राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्था कायम की जायगी। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने क्रान्ति की ज्वाला धधका कर सब कुछ स्वाहा कर देने की बात कही:—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये !
एक हिलोर इधर से आये, एक हिलोर उधर से आये !
प्राणों के लाले पड़ जायें त्राहि-त्राहि रव नभ में छाये,
नाश और सत्यानाशों का धुआँधार जग में छा जाये !

दिनकर 'दिगम्बरि' शीर्षक कविता में कहते हैं :—

नये युग की भवानी, आ गई बेला प्रलय की,
दिगम्बरि बोल, अम्बर में किरण का तार बोला !

× × ×

सजीं चिनगारियाँ, निर्भय प्रभञ्जन मग्न आया,
कयामत की घड़ी आई, प्रलय का लग्न आया !

[हुंकार]

नरेन्द्र और हरिकृष्ण 'प्रेमी' भी वर्तमान दासता से मुक्ति के लिये प्रलय की ही कामना करते हैं:—

नाचो रुद्र नृत्य प्रलयंकर,
नाचो ताण्डव नृत्य भयंकर !
देव तुम्हारे क्रोधानल से
फूट पड़े जगती में ज्वाल !
उमड़ पड़ें निर्दय लपटों से
शत-शत शर से दुर्दम व्याल !

[नरेन्द्र—प्रभातफेरी]

× × ×

मैं आग लगा दूँ नभ में मैं नोचूँ नभ के तारे,
मैं सागर को पी जाऊँ मैं शैल उखाड़ूँ सारे !
पृथ्वी पर प्रलय मचाने बढ़ जाऊँ बिना विचारे ।

[अग्निगान—हरिकृष्ण 'प्रेमी']

इस प्रकार इन कवियों में भावुकता भले ही अधिक हो, प्रभविष्णुता उतन अधिक नहीं थी क्योंकि तत्कालीन राजनीतिक आन्दोलनों के साथ इस अराजकतावादी प्रवृत्ति का मेल नहीं बैठता था ।

वर्ग-वैषम्य और वर्ग-संघर्ष

इस युग में धीरे-धीरे यह बात स्पष्ट होने लगी कि विदेशी शासन को हटा देने से ही हमारी समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता क्योंकि स्वराज्य मिल जाने के बाद भी जब तक आर्थिक सम्बन्धों में आमूल परिवर्तन नहीं होगा, देश की सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ पूर्ववत बनी रहेगी ! अतः कोरे अराजकतावादी प्रलय के आह्वानों से अलग, निर्माण की सजग चेतना से उद्‌बुद्ध होकर काव्य-रचना होने लगी । यद्यपि इस तरह की कविता में विदेशी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह तथा सामाजिक रूढ़ियों और असंगतियों

को ध्वस्त कर देने की भावना भी थी परन्तु उसमें भविष्य के समाज का एक चित्र भी दिखलाई पड़ा। इस समय तक वर्गसंघर्ष तीव्र हो उठा था; पूँजीवाद तथा सर्वहारावर्ग में जगह जगह संघर्ष होने लगे थे। उधर मार्क्सवादी दर्शन का प्रचार भी तेजी से होने लगा था। अतः वर्गसंघर्ष की भावना कविता में भी जोर पकड़ने लगी। इस प्रकार की कविता एक नियोजित लक्ष्य लेकर सामने आई और उसको प्रगतिवाद का नाम दिया गया। १६३५ के बाद इस तरह की कवितायें लिखी जाने लगीं क्योंकि छायावादी कवियों का पुराना दृष्टिकोण बहुत कुछ बदल गया। सामाजिक वैषम्य और बहुजन समाज की हीन दशा का संवेदनशील कवियों पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उनकी कल्पना के रंगीन पंख जल गये और उन्हें विवश होकर ठोस धरती पर उतरना पड़ा।* इस प्रकार कवि आदर्शवाद से हटकर सामाजिक यथार्थ की ओर बढ़े। वे वर्तमान जगत की अशान्ति और असन्तोष के मूल में आर्थिक वैषम्य देखते हैं क्योंकि सम्पत्ति के उत्पादन और वितरण का अधिकार आज पूँजीपति-वर्ग के थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में है और जो सम्पत्ति का उत्पादन करते हैं वे दरिद्र, भोजन-वस्त्र के मुहताज हैं। अतः नई कविता इस शोषित-पीड़ित बहुजन समाज का पक्ष लेकर खड़ी है और सामाजिक आवश्यकताओं को वाणी में

---

* "कविता के स्वप्न-भवन को छोड़कर हम इस खुरदुरे पथ पर क्यों उतर आये, इस सम्बन्ध में दो शब्द लिखना आवश्यक हो जाता है। इस युग में जीवन की वास्तविकता ने जैसा उग्र आकार धारण कर लिया है उससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गये हैं। श्रद्धा-अवकाश में पलने वाली संस्कृति का वातावरण आन्दोलित हो उठा है और काव्य की स्वप्नजड़ित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्न रूप से सहम गई है। अतएव इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं पल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पोषण-सामग्री ग्रहण करने के लिये कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है और युग-जीवन ने उसके चिर संचित सुख-स्वप्नों को जो चुनौती दी है उसको उसे स्वीकार करना पड़ रहा है।" [रूपाभ—जुलाई १९३८]

"मेरा संसार बदल गया है, मेरा दृष्टिकोण बदल गया है, मैं बदल गया हूँ। कलवाली कल्पनायें, कलवाले सपने—ये सबके सब न जाने कहाँ गायब हो गये; वास्तविकता की कुरूपता से जकड़ा हुआ मैं आज के संघर्ष में अपनेपन को खो चुका हूँ; यही नहीं, यह संघर्ष ही अपनापन बन चुका है।"

[मैं और मेरा युग-भगवतीचरण वर्मा]

मूर्त करती है। पंतजी युग-वाणी को कविता में उतारने का प्रयत्न करते हैं क्योंकि वही विश्वमूर्ति और कल्याणी है। वे मानव का नई सामाजिक दृष्टि से आकलन करते हुये कहते हैं:—

जग-जीवन के तम में
दैन्य-अभाव-शयन में
परवश मानव !
बुन स्वप्नों के जाल
ढक दो विश्व पराभव
कुत्सित गर्हित घोर !

['मानव'-युगवाणी]

वे सामाजिक असंगतियों को दूर करने का एकमात्र रास्ता वर्गहीन समाज की स्थापना ही मानते हैं जिसमें संस्कृति अपने नवीन रूप में श्रम और समानता के आधार पर प्रतिष्ठित होगी:—

ज्ञानवृद्ध निष्क्रिय न जहाँ मानव मन,
मृत आदर्श न बन्धन, सक्रिय जीवन।
रूढ़ि-रीतियाँ जहाँ न हों आराधित,
श्रेणि-वर्ग में मानव नहीं विभाजित।
× × ×
ऐसा स्वर्ग धरा में हो समुपस्थित,
नव मानव संस्कृति-किरणों से ज्योतित।

[नवसंस्कृति-युगवाणी]

स्वभावतः उनकी दृष्टि सामाजिक परिस्थिति की तरफ जाती है और वे साम्राज्यवाद, समाजवाद, गांधीवाद, पूँजीपति वर्ग, मध्यमवर्ग, कृषक, श्रमजीवी नारी आदि का चित्रण करते हैं:—

वह पवित्र है, वह जगके कर्दम से पोषित,
वह निर्माता श्रेणि-वर्ग धन-बल से शोषित !

[श्रमिक-युगवाणी]

आगे चल कर वे ग्रामीण नर-नारी और रीति-रिवाजों का चित्रण करते हुए निम्नवर्ग के प्रति अपनी सहानुभूति और रागात्मकता का परिचय देते हैं:—

मिट्टी से भी मटमैले तन अधफटे कुचैले जीर्ण वसन !
ज्यों मिट्टी के हों बने हुए ये गँवई लड़के भू के धन !

[गाँव के लड़के—ग्राम्या]

पन्त के स्वर में स्वर मिलाते हुये नरेन्द्र और भगवतीचरण वर्मा तथा अन्य नये कवि भी इस वर्ग-विषमता का चित्रण करते हुए दिखलाई पड़ते हैं:—

कृश कंकाल !
नसों के नीले जाल,
अस्थि पंजर निष्प्राण,
शून्य श्वासों के भार !
यही हैं वे नादान,
भटकते भूले बाल !
दीन कंगाल !
नग्न कंकाल !

[प्रभातफेरी—नरेन्द्र]

सामाजिक और आर्थिक विषमता का बहुत ही संश्लिष्ट चित्रण भगवतीचरण वर्मा ने किया है। उन्होंने विषमता, राजा साहब का वायुयान, भैंसागाड़ी आदि कविताओं में सामाजिक विषमता का बड़ा ही सुन्दर चित्र खींचा है:—

बीबी बच्चों से छीन, बीन दाना-दाना अपने में भर !
भूखे तड़पें या मरें, भरों का तो भरना है उसको घर,
धन की दानवता से पीड़ित कुछ फटा हुआ कुछ कर्कश स्वर!
चरमर चरमर चूँ चरमार, जा रही चली भैंसागाड़ी !

[मानव—भगवतीचरण वर्मा]

दिनकर ने भी नग्न-भूखी जनता का अत्यन्त कारुणिक चित्र खींचा है:–

श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर, जाड़ों की रात बिताते हैं।
× × × ×
हटो व्योम के मेघ पंथ से, स्वर्ग लूटने हम आते हैं !
"दूध-दूध" ओ वत्स ! तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं !

[हुंकार]

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस युग के कवियों ने सामाजिक और राजनीतिक विषयों को लेकर बहुत ही प्रभावपूर्ण कवितायें लिखीं जिनमें उद्बोधन, उत्साह, करुणा, क्रोध, सहानुभूति, सहृदयता आदि कोमल-परुष भावनाओं को व्यापक अभिव्यक्ति मिली। इसका परिणाम यह हुआ कि कविता जीवन के अधिक निकट आई और सामाजिक परिवर्तन में वह उपयोगी अस्त्र के रूप में इस्तेमाल होने लगी।

छायावाद-युग में व्यक्तिवादी भावनाओं की व्यापक अभिव्यक्ति हुई पर उसके दूसरे चरण में व्यक्तिवाद ने अहंवाद (egoism) का रूप धारण कर लिया। अहंवाद पूंजीवाद की विकृतियों का ही परिणाम है। मध्यवर्ग के लोग सर्वहारा वर्ग में जाना नहीं चाहते, उनका लक्ष्य उन्नति करके पूंजीपति बनना रहता है। पर पूंजीवादी होड़ और संघर्ष में वे टिक नहीं पाते। बेकारी बढ़ती है और वे लाख हाथ-पैर मारते हैं पर डूबने से बच नहीं पाते। ऐसे समय में उनका स्वतंत्रता का भ्रम इस तरह टूटता है कि वे अपने को नियति का गुलाम समझने लगते हैं, और निराशा और मृत्युपूजा की भावना उन्हें बुरी तरह जकड़ लेती है। यदि ऐसा नहीं हुआ तो इसके विपरीत उनका भ्रम और भी शतगुण होकर अकाण्ड-ताण्डव करने लगता है। वे समाज-द्रोही, उच्छृङ्खल और आत्मकेन्द्रित हो जाते हैं। वे समाज को कोसने और अपने को सृष्टि का सबसे बड़ा व्यक्ति समझने लगते हैं। इस तरह 'अहम्' का कवच पहन कर वे अपने को सुरक्षित मानने लगते हैं। छायावाद-युग के अन्तिम वर्षों में आर्थिक प्रश्न बहुत उग्र हो गया, मध्यवर्ग का स्वप्न टूटने लगा, शिक्षा के साथ-साथ बेकारी भी बढ़ने लगी जिसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो मध्यवर्गीय लोग सर्वहारा वर्ग में शामिल होने लगे अथवा उसके प्रति शाब्दिक सहानुभूति प्रदर्शित करने लगे, दूसरी ओर ऐसे व्यक्तियों की संख्या भी बढ़ने लगी जो अहंवादी थे, जिनका 'मैं' सबसे ऊपर था। छायावादी कविता अब व्यक्तिवादी (Individualistic) न रह कर व्यक्तिगत (personal) होने लगी। इसके मूल में कवियों की अहंवादिता ही थी। कवि अपने को सबसे अलग, सबसे विचित्र और सबसे बुद्धिमान समझने लगे। इस कथन का सबसे बड़ा प्रमाण भगवतीचरण वर्मा की मानव की भूमिका है जिसमें उन्होंने अपने अहंवादी विचारों को बौद्धिक और वैज्ञानिक जामा पहनाने का असफल प्रयत्न किया है।* इस तरह ये कवि अपनी हीनता की

अहंवाद के विविध रूप

---

* "आज जब मैं सोचता हूँ कि किस प्रकार अपना मस्तक उँचा करके मैं भूख और बेकारी से लड़ा हूँ, किस प्रकार मैंने आत्मसम्मान और 'अपनेपन' की रक्षा की है तब मुझे कुछ शान्ति मिलती है। दुनिया में मैंने अभी तक निया वालों की नजर में खोया ही है, पाया कुछ नहीं। पर अपनी नजरों में मैंने एक महान अनुभव पाया है और मैं समझता हूँ कि मैं जीवन के सत्य के बहुत निकट पहुँच गया हूँ।.......... मैं अहम् का उपासक रहा हूँ.........

भावना को छिपाने के लिये उच्चता की भ्रमपूर्ण भावना (superiority complex) से पीड़ित होने लगे।

इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि जीवन-संघर्ष में पराजित कवि अपने अहंम् के घेरे के भीतर जम कर बैठ गया; वह अपने व्यक्तिगत सुख-दुख, आशा-निराशा का खुले शब्दों में चित्रण करने लगा क्योंकि अब उसे न समाज की चिन्ता थी न कोई लज्जा-भय। इस प्रकार उसके काव्य-विषय बने:-प्रेम की सफलता और असफलता, प्रेमिका का रूप चित्रण, आलिंगन चुम्बन, अभिसार, विरह की नाना दशायें ; जीवन की अन्य असफलतायें; निराशा की वेदना, मृत्यु की काली छाया, मृत्यु-पूजा, मृत्यु के बाद का वर्णन; शराब और साकी से दिलबहलाव आदि। इस प्रकार यह आत्मकथात्मक कविता ह्रासशील पूँजीवाद की कविता थी जो अपने प्रभाव में मादकता और अफीम जैसा नशा उत्पन्न कर के मध्यवर्ग को बढ़ते हुए संघर्ष से विरत करने लगी। अहंवाद के तीन रूप सामने आये :—

१—आत्मरति, आत्मप्रशंसा और झूठा आत्मविश्वास।

२—व्यक्तिगत निराशा, वेदना, प्रेम की असफलता की कहानी और मृत्यु की उपासना।

३—मधुचर्या, शारीरिक सौन्दर्य का अश्लील चित्रण, मानसिक व्यभिचार और क्षयी रोमान्स।

पूर्ववर्ती छायावादी कवि अपने व्यक्तित्व का उपासक था, अपने अहम् का नहीं। वह अपने प्रति जागरूक रहते हुए भी जगत से सम्बन्ध-त्याग नहीं करता था। अतः वह अहंवादी नहीं, व्यक्तिवादी था। पर ये कवि शील, शक्ति और सौन्दर्य से विरत हो कर उद्दाम वासना की लहरों में डूबते-उतराते दिखलाई पड़ने लगे।

[आत्मरति, आत्मप्रशंसा और झूठा आत्मविश्वास]

इन कवियों का सब से बड़ा प्रिय उनका 'स्व' था और उनकी प्रिया भी उनकी स्वार्थपूर्ति का साधनमात्र थी। अतः वे अपने और अपने प्रिय से ऊपर

अहम् नाम की चीज गुलामों में नहीं मिल सकती। वे अहम् की महत्ता को जानते ही नहीं।'..........'अहम् अस्तित्व है; जो यह कहता है कि उसने अहम् को मिटा दिया है या जो यह कहता है कि अहम् को मिटा देने में ही अपना कल्याण है वह या तो दुनिया को धोखा देता है या अपने को धोखा देता है।"

[मैं और मेरा युग—भगवतीचरण वर्मा]

नहीं उठ पाते थे। अतः अपने अशक्त और निष्क्रिय जीवन में ही उन्होंने काल्पनिक शक्ति का आरोप कर लिया :—

मैं सागर का गर्जन हूँ, तुम सरिता की रँगरेली !
मैं जीवन का विप्लव हूँ, तुम उसकी मौन पहेली !

[प्रेम संगीत-भगवतीचरण वर्मा]

उन्हें अपने गति के प्रति विश्वास है, जगत की प्रगति की उन्हें चिन्ता नहीं और उनके इस विश्वास में भी भ्रम के अतिरिक्त सत्य बहुत कम मात्रा में है :—

मैं बढ़ता जाता हूँ प्रतिपल, गति है नीचे, गति है ऊपर !
भ्रमती ही रहती है पृथ्वी भ्रमता ही रहता है अम्बर !
इस भ्रम में भ्रम कर ही भ्रम के जग में मैंने पाया तुम को
जग नश्वर है, तुम नश्वर हो, बस मैं हूँ केवल एक अमर !

[प्रेम-संगीत—वर्मा]

वे जगत को भ्रम में पड़ा समझते और अपने को सत्य मानते हैं ; अतः अपनी मस्ती और फक्कड़पन पर वे लज्जा नहीं, गौरव का अनुभव करते हैं :—

हम दीवानों की क्या हस्ती,
हैं आज यहाँ कल वहाँ चले !
मस्ती का आलम साथ चला
हम धूल उड़ाते जहाँ चले !

[प्रेम-संगीत—वर्मा]

कवि का यह भ्रम तब चरमसीमा पर पहुँच जाता है जब वह अपने जीवन की विघ्न-बाधाओं के अस्तित्व को भी अस्वीकार कर देता है यद्यपि उसका यथार्थ जीवन चारों तरफ से कंटकाकीर्ण है। वस्तुतः यह भ्रम कवि को कुछ देर तक शान्ति देने के लिए उपयोगी भी होता है। इसीलिए कवि उसका सहारा लेता है :—

विघ्न-बाधाएँ कहाँ संसार में मेरी तरी को,
व्योम से निस्सीम सागर बीच निर्भय छोड़ दी है !

× × ×

भूख ले भूली प्रलय की भँवर भी आये हजारों,
उमड़ सातों सिन्धु गरजें, आज नौका बढ़ रही है !

[चाँदी की तरी—नरेन्द्र]

[निराशा, नियति और मृत्यु-पूजा]

अहंवाद का दूसरा रूप वैयक्तिक जीवन की असफलताओं और अभावों से उत्पन्न गहरी निराशा, वेदना और मृत्यु-कामना की अभिव्यक्ति है। सामाजिक परिस्थितियाँ ऐसी हो गयी थीं जिनमें उमर खैयाम वाली मधुचर्या की प्रवृत्ति को फैलने का अवकाश था। यह प्रवृत्ति पहले असामाजिक एकाकीपन के रूप में दिखलाई पड़ती है। कवि अपने को जगत से दूर, एकाकी, अपनी ही उलझनों से लड़ता-झगड़ता मकड़ी के जाले में फंसी हुई मक्खी की तरह छट-पटाता हुआ दिखलाई पड़ता है। भगवतीचरण वर्मा ने कुछ पंक्तियों में इस प्रवृत्ति का पूरा परिचय दे दिया है :—

अपनेपन में लय होकर भी अपने से कितनी दूर अरे !

× × × ×

अपनी ही असफलताओं के बन्धन से हम मजबूर अरे !
अपनी दीवारों से दबकर हम हो जाते हैं चूर अरे !

बच्चन, नरेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा और अंचल में यह एकाकीपन, निराशा और वेदना बहुत अधिक दिखलाई पड़ती है। उनका जीवन समाज से संघर्ष करता हुआ दिखाई पड़ता है—

आज मुझसे दूर दुनियाँ !

× × ×

है चिता की राख कर में माँगती सिन्दूर दुनिया !

और उसे संसार में कहीं भी शान्ति प्राप्त करने का स्थान नहीं मिलता :—

अरे है वह शरणस्थल कहाँ ?
जीवन एक समर है सचमुच
पर इसके अतिरिक्त बहुत कुछ !

[आकुल अन्तर]

और स्वयं उसका जीवन उसके व्यक्तित्व को छलता हुआ मालूम पड़ता है:—

छल गया जीवन मुझे भी !
देखने में था अमृत वह
हाथ में आ मधु गया रह
और जिह्वा पर हलाहल, विश्व का वञ्चन मुझे भी।

[आकुल अन्तर]

इन बातों से कवि को चारों ओर निराशा ही निराशा दिखाई पड़ती है। भगवतीचरण वर्मा के लिए जीवन असह्य बोझ बन जाता है :—

मैं एकाकी—है मार्ग अगम, है अन्तहीन चलते जाना!

× × × ×

धुंधली बनकर इन आँखों ने केवल सूनापन पहचाना!
है इस जीवन का बोझ असह, मैं निर्बलता से चूर प्रिये!
उर शंकित है, पग डगमग है, तुम मुझसे कितनी दूर प्रिये!
एकाकीपन ही अपनापन, में अपने से मजबूर प्रिये!

[प्रेम संगीत]

ऐसी परिस्थिति में कवि का नियतिवादी हो जाना स्वाभाविक ही है। वह नियति से अपनी पराजय स्वीकार कर लेता है :—

हो नियति, इच्छा तुम्हारी पूर्ण, मैं चलता चलूँगा!
पथ सभी मिल एक होंगे तम-घिरे यम के नगर में!
हैं कुपथ पर पाँव मेरे आज दुनिया की नजर में!

[पथभ्रष्ट-मधुकलश]

अथवा

एक दिन मैंने लिया था काल से कुछ श्वास का ऋण,
आज भी उसको चुकाता, ले रहा वह क्रूर गिन-गिन!
ब्याज में मुझसे उगाहा है हृदय का गान उसने,
किन्तु होने में उऋण अब शेष केवल और दो दिन!
फिर पड़ूँगा तान चादर सर्वथा निश्चिन्त होकर,
भूल कर, जग ने किया किस-किस तरह अपमान मेरा!
पूछता जग क्यों निराशा से भरा है गान मेरा?

[मधुकलश]

भगवतीचरण वर्मा भी नियति के साथ संघर्ष करते हुये कहते हैं:—

अब असह अबल अभिलाषा का है सबल नियति से संघर्षण!

[प्रेमसंगीत]

नियति की यह भयंकर छाया सभी अहंवादी कवियों के सिर पर मंडराती हुई दिखलाई पड़ती है। फिर भी कुछ कवि उस छाया से बचने के लिये प्रेयसी और मधुशाला की शरण में जाते हैं। पर वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों

में प्रेम में भी उन्हें असफलता ही मिलती है, अतः वे रोते-तड़पते सूनेपन में अपने को खो देते हैं:—

हाँ प्रेम किया है प्रेम किया है मैंने !
वरदान समझ अभिशाप लिया है मैंने !
मैं दीवाना तो भूल चुका अपने को,
मैं ढूँढ़ रहा हूँ उस खोये सपने को !

नरेन्द्र असफल प्रेम का चित्रण करते हुये कहते हैं:—

आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ?
× × ×
सिन्धु तट पर भी नहीं वे मिल सकेंगे !

[पलाशवन]

किन्तु मधुशाला, मधुबाला और मधुकलश बच्चन को अधिक देर तक भ्रम-पूर्ण आनन्द नहीं दे पाते। जीवन-संघर्ष में पराजित होकर वह अपने आँसुओं को संभालने में असफल हो जाते हैं क्योंकि उनके आँसुओं को पोंछनेवाली उनकी प्रिया अब इस संसार में नहीं है:—

कैसे आँसू नयन संभालें ?
मेरी हर आशा पर पानी,
रोना दुर्बलता नादानी,
उमड़े दिल के आगे कैसे पलकें बाँध बना लें ?

[आकुल अंतर]

कवि स्वयं दुर्बल है अतः वह समझाने-बुझाने वालों को नहीं, दुर्बलताओं को दुलराने वालों को पास चाहता है:—

बीते दिन कब आने वाले !
× × ×
दूर हुए अब मेरी दुर्बलताओं को दुलराने वाले !

अपने दुख में दूसरों द्वारा प्रकट की हुई समवेदना भी उसे भारी मालूम होती है:—

किन्तु इस आभार का अब हो उठा है बोझ भारी,
क्या करूँ समवेदना लेकर तुम्हारी क्या करूँ !

[आकुल अन्तर]

वेदना का बोझ इतना भारी हो गया कि कवि जीवन से ही निराश हो चले। वे अपने को मुर्दा समझने लगे और चिता पर भस्म होने की कामना करने लगे। मृत्यु की छाया उन्हें चारों ओर दिखाई पड़ने लगीः—

आओ, सो जायें, मर जायें!
स्वप्नलोक से हम निर्वासित,
कब से गृह-सुख को लालायित,
आओ निद्रा-पथ से छिपकर
हम अपने घर जायें!

[निशा-निमंत्रण—बच्चन]

स्वप्न था मेरा भयंकर!
रात का सा था अँधेरा,
बादलों का था न डेरा,
किन्तु फिर भी चन्द्र तारों से हुआ था हीन अम्बर!
घाट से कुछ फ़ासले पर
सित कफ़न की ओढ़ चादर
एक मुर्दा जल रहा था बैठकर अपनी चिता पर!

[निशा-निमंत्रण]

निराशा और दुख के कारण इन कवियों का मन मरघट, चिता, मृत्यु आदि निर्वेदजनक दृश्यों में अधिक रमने लगाः—

मृत्यु ही है जीवन का शेष, यही आकांक्षा का निःशेष,
इसी को कहते हैं अवसान, यहीं रुकता है जीवन-यान!

[चिता—नरेन्द्र]

यहाँ निशा के अन्धकार में ही उलूक दल
भरता है चीत्कारयुक्त जीवन की हलचल!
यहाँ काल विकराल, गरल के स्रोत अनर्गल,
जीवन ही में मृत्यु प्रदर्शित करते प्रतिपल!

[मधुकण—भगवतीचरण वर्मा]

बन-बन कर मिटना ही होगा, जब कण-कण में परिवर्तन है,
संभव है यहाँ मिलन कैसे, जीवन तो आत्मविसर्जन है!
सत्वर समाधि की शय्या पर अपना चिरमिलन मना लूँगा!

[असमंजस—हिल्लोल—'सुमन']

जीवन के अभावों और कठिनाइयों से भागने का दूसरा तरीका कवियों को मधुचर्य्या में लिप्त हो जाने में दिखलाई पड़ा। भगवतीचरण वर्मा और बच्चन ने इस रास्ते को अपनाया। इन लोगों ने मधु, मधुशाला और मधुबाला को आलंबन बनाकर काव्य-रचना की और इस तरह वे अपने को भ्रम में डालकर नकली आनंद का अनुभव करते रहे। काल की दृष्टि से पद्मकांत मालवीय ने अपनी स्वतंत्र कविताओं में मधुशाला का वर्णन पहले किया। पर काव्य-सौष्ठव और प्रचार की दृष्टि से बच्चन का नाम पहले आता है। बच्चन ने मधु को संसार के क्लेशों से छुटकारा पाने का साधन बनाया। अपनी पुस्तकों—मधुशाला, मधुबाला, मधुकलश—में इन्होंने मधुचर्य्या की विभिन्न दृष्टियों से अभिव्यक्ति की है। उनकी इन कविताओं में सूफीमत में गृहीत आनन्द और आध्यात्मिक प्रेम के प्रतीक, 'शराब' 'प्याला' 'साक़ी' आदि को यथावत अपना लिया गया है। किन्तु आध्यत्मिक रंग बच्चन में कहीं भी नहीं है। वे स्पष्ट कहते हैं:—

मधुचर्य्या

जब उठा हो भार जीवन तब लगाया होठ प्याला,
पूछता है जग निराशा से भरा क्यों गान मेरा ?

बच्चन के अनुसार जीवन क्षणिक है, अतः उसका उपभोग मस्ती के साथ करना चाहिये क्योंकि 'उस पार' के जीवन का मनुष्य को कुछ भी पता नहीं है:—

इस पार प्रिये मधु है तुम हो, उस पार न जाने क्या होगा ?
× × ×
तुम देकर मदिरा के प्याले मेरा मन बहला देती हो,
उस पार मुझे बहलाने का उपचार न जाने क्या होगा ?

[मधुबाला]

बच्चन का जीवन-दर्शन भोगवादी जीवन-दर्शन है जिसके अनुसार 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्' ही जीवन का लक्ष्य है। प्याले के प्रतीक से जीवन की क्षणिकता और पाप-पुण्य की भावना की व्यर्थता का परिचय देते हुए वे कहते हैं:—

मिट्टी का तन मस्ती का मन, क्षण भर जीवन मेरा परिचय !
मैं देख चुका जा मसजिद में झुक-झुक मोमिन पढ़ते नमाज,
पर अपनी इस मधुशाला में पीता दीवानों का समाज !

वह पुण्य-कृत्य, यह पाप-कर्म, कह भी दूँ तो दूँ क्या सबूत ?
कब कंचन मसजिद पर बरसा, कब मधुशाले पर गिरी गाज ?
यह चिर अनादि से प्रश्न उठा, मैं आज करूँगा क्या निर्णय ?

[मधुबाला]

बच्चन के स्वर में स्वर मिलाते हुए भगवतीचरण वर्मा कहते हैं:—

यौवन की इस मधुशाला में है प्यासों का ही स्थान प्रिये !
फिर किसका भय, उन्मत्त बनो, है प्यास यहाँ वरदान प्रिये !

× × × ×

मधु छलक रहा था उर में, मैं था सुख का दीवाना,
अलसाई सी आँखों में, था झूल रहा मैखाना !

× × × ×

होठों पर नाच रहा था, मेरे वैभव का प्याला,
मैं बना हुआ था साकी, मैं ही था पीनेवाला !

[प्रेम-संगीत]

ऐन्द्रिकता और अश्लीलता

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, ह्रासोन्मुख पूंजीवाद के कारण ही मध्यवर्ग के लोग ऐन्द्रिक और जुगुप्साजनक साहित्य के निर्माण और आस्वादन में प्रवृत्त होते हैं। अतः इस युग में ऐन्द्रिक प्रेम के जो असामाजिक और जुगुप्साजनक चित्र उपस्थित किये गये हैं उनका कारण भी यही है। छायावाद के प्रारम्भिक काल में अतीन्द्रिय और अशरीरी प्रेम की जो अधिकता हो गई थी उसकी प्रतिक्रिया के रूप में रीतिकालीन स्थूल वासना की जैसे फिर आवृत्ति होने लगी। अधिकांश नये कवियों ने प्रेम को उच्छृंखलता की सीमा तक पहुँचा दिया। कवि अपनी प्रेयसी के प्रेमालाप, आलिंगन, चुम्बन, अभिसार आदि का सीधा वर्णन करने लगे। इसका यह अर्थ नहीं कि इस युग में आन्तरिक सौन्दर्य तथा पारिवारिक प्रेम का वर्णन हुआ ही नहीं। उन्हीं कवियों ने इस तरह की कवितायें भी लिखीं। किन्तु छायावाद के आदर्शवादी आचारों से विद्रोह करके उन्होंने अपनी स्वच्छन्द भावनाओं को खुल-खेलने का अवसर दिया। भगवती चरण वर्मा अपनी प्रेयसी को खुलकर प्रेम करने के लिये प्रोत्साहित करते हुए कहते हैं:—

थोड़ा साहस, इतना कह दो
तुम प्रेम लोक की रानी हो !

× × ×

होठों पर हो मुस्कान तनिक
नयनों में कुछ-कुछ पानी हो,
फिर धीरे से इतना कह दो
तुम मेरी ही दीवानी हो ;

× × ×

यह तन्मयता की वेला है,
यह है सँयोग ! की रात प्रिये
अधरों से कह लें आज अधर
जी भर कर अपनी बात प्रिये !

[प्रेम-संगीत]

चुम्बन-आलिंगन का वर्णन सब से अधिक नरेन्द्र ने किया है जो उनकी मानसिक रति की प्रवृत्ति का परिचायक है :—

भर दी रोली से माँग प्रथम चुम्बन में !
बीती बातों में रात, हुआ फिर प्रात प्रथम चुम्बन में ।

[प्रथम चुम्बन-प्रभातफेरी]

मुरझाये प्यासे अधरों पर धीरे से धर सुकुमार अधर,
फिर इन पीताभ कपोलों पर रख मृदुल गुलाबी कोमल कर,
बहला मधु मिला चुकी हो तुम ।

['तुम'—प्रभातफेरी]

प्रिये अभी मधुराधर चुम्बन गात-गात गूंथें आलिंगन,
सुने अभी अभिलाषी अन्तर मृदुल उरोजों का मृदु कम्पन ।

['आज लजाओ मत सुकुमारी'—प्रभातफेरी]

नायक-नायिका की मिलन-रात्रि का चित्रण करते हुये नरेन्द्र रीतिकालीन कवियों को भी मात करते दिखलाई पड़ते हैं :—

आज न सोने दूँगी बालम !
आज विश्व से छीन तुम्हें प्रिय निज वक्षस्थल में भर लूँगी,
मृदुल गोल गोरी बाहों में कंपित अंगों में कस लूँगी !

[प्रभातफेरी]

अंचल और बच्चन में भी रतिसम्बन्धी तृष्णा, लालसा और प्यास उच्छृंखलता की सीमा तक पहुँचती हुई दिखलाई पड़ती है । नारी के प्रति इन लोग

का दृष्टिकोण पूँजीवादी दृष्टिकोण है जो उसको विलास की सामग्री मात्र समझता है। अञ्चल ने रति का सीधा वर्णन किया है :-

एक पल के ही दरस में जग उठी तृष्णा अधर में,
जल रहा परितप्त अंगों में पिपासाकुल पुजारी।
[अन्तर्गीत—मधूलिका]

कवि अपनी उद्दाम पिपासा को छिपा नहीं पाता :—

कौन जलाता रन्ध्र-रन्ध्र में उच्छ्वल रति-गति रस की?
अभी नहीं संतोष अभी तो अमित पिपासा बाकी।
[अंचल]

यहाँ तक कि कवि वासनाकुल होकर किसी भी नारी के साथ बलात्कार करने के लिए तैयार बैठा दिखलाई पड़ता है :—

आज सोहाग हरूँ मैं किसका, लूटूँ किसका यौवन?
किस परदेशी को बन्दी कर सफल करूँ यह वेदन?
[अंचल]

बच्चन ने भी इस पथ पर अंचल और नरेन्द्र का बहुत दूर तक साथ दिया है यद्यपि उनमें निराशा की प्रवृत्ति की अधिकता के कारण यह प्रवृत्ति दब सी गई है। मिलन की घड़ी का चित्रण वे इन शब्दों में करते हैं :—

आज अधर से अधर मिले हैं,
आज बाँह से बाँह मिली,
आज हृदय से हृदय मिले हैं,
मन से मन की चाह मिली,
चाँद सितारे मिलकर गाओ!
[आकुल अंतर]

प्यार के सम्बन्ध में उनकी धारणा है कि जब तक शारीरिक मिलन नहीं होता उसे प्यार नहीं कह सकते। यहाँ तक कि शारीरिक मिलन की दशा में ही वे मृत्यु तक की कामना करते हैं:—

तब तक समझूँ कैसे प्यार,
अधरों से जब तक न कराये
प्यारी उस मधुरस का पान?

× × ×

बाँहों में जब तक न सुलाये
प्यारी, अन्तर्हित हो रात,
चाँद गया, कब सूरज आया,
इनके जड़ क्रम से अज्ञात,
सेज चिता की साज सँवार,
तब तक समझूँ कैसे प्यार?

[आकुल अन्तर]

भगवतीचरण वर्मा भी प्रेम के क्षेत्र में अपने को तल्लीन करके सांसारिक बन्धनों से छुटकारा पाना चाहते हैं और प्रेयसी से कहते हैं कि तुम मुझे वहाँ भगा ले चलो जहाँ हम लोक-लाज छोड़कर प्रणय-क्रीड़ा कर सकें:—

ले चलो कर चुका हूँ मैं
अब चलने की तैयारी,
मैं आज मिटा आया हूँ
सुध-बुध की सीमा सारी!

× × ×

लाज की सीमा प्रिये तुम तोड़ दो!
आज मिल लो, मान करना छोड़ दो!
यह हृदय की भेंट है स्वीकार हो,
आज यौवन का सुमुखि अभिसार हो!
डूब जायें देवि हम तुम एक एक हो,
आज मनसिज का प्रथम अभिषेक हो!

[प्रेम-संगीत]

अभिसार का वर्णन करते हुये कवि कहता है:—

तुम आदि प्रकृति, मैं आदि पुरुष, निशि-वेला, शून्य अथाह प्रिये,
तुम रति-रत, मैं मनसिज सकाम, यह अन्धकार है चाह प्रिये !
हम-तुम मिल करके चलो सृजें सुख का अपना संसार यहाँ,
क्रीड़ा के शत-शत रंगों में हो अपना ही अभिसार यहाँ !

इस प्रकार इस युग के परवर्ती कवियों ने जीवन को गंभीरता की दृष्टि से नहीं देखा। उनमें तत्व-चिन्तन का अभाव और ऊपरी समस्याओं के प्रति भावुकतापूर्ण आसक्ति दिखलाई पड़ती है। वे या तो सीधे-सीधे मृत्यु की कामना करते हैं या दूसरे छोर पर पहुँच कर उच्छृंखलतापूर्ण मधुचर्य्या में लीन हो जाते हैं।

पिछले पृष्ठों में छायावाद के प्रमुख काव्य-विषयों के सम्बन्ध में संक्षिप्त विवेचन किया गया है। किन्तु इस युग की कविता में केवल इतने ही विषय नहीं मिलते। वस्तुतः यहाँ विषयों का केवल स्थूल विभाजन ही किया गया है। अन्य प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति भी विभिन्न विषयों के माध्यम से इस युग में हुई जिनकी चर्चा स्थानाभाव से नहीं की गई है। उदाहरण के लिये अतीत के प्रति रागात्मक सम्बन्ध को लिया जा सकता है। यद्यपि छायावादी कवियों ने धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह किया किन्तु अपनी प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा के ग्राह्य तत्वों के प्रति उनके हृदय में बहुत सम्मान का भाव था। अतीतकाल के बीच इनकी भावुक कल्पना के रमणीय विधान के लिये पूरा अवकाश मिला। वर्तमान जीवन के विकट संघर्षों से ऊब जाने पर इन्होंने अतीत की शीतल छाया में भी विश्राम किया क्योंकि प्रकृति और अध्यात्म के क्षेत्रों की तरह अतीत का क्षेत्र भी रहस्य-भावना और कल्पना के प्रसार के लिये बहुत ही उपयोगी सिद्ध होता है। यूरोप के रोमांटिक साहित्यिकों ने इसीलिये इतिहास की ओर अधिक दृष्टि डाली थी। प्रतिनिधि आधुनिक कवियों में निराला और प्रसाद की वृत्ति अतीत काल में सबसे अधिक रमी है। उनकी 'प्रलय की छाया' 'शेरसिंह का शस्त्रसमर्पण' 'महाराजशिवाजी का पत्र' 'पंचवटी-प्रसंग' आदि कवितायें बड़ी प्रभावोत्पादक और गम्भीर हैं। कामायनी में इन्होंने मानव जाति के आदि काल से लेकर आज तक के विकास का मनोवैज्ञानिक और सूक्ष्म चित्रण किया है। अतीत काल से परिस्थिति लाकर वर्तमान युग की असंगतियों की आलोचना निरापद रूप से की जा सकती थी और अतीत के ऐश्वर्यमय और गौरवपूर्ण काल का स्मरण दिलाकर वर्तमान युग के लोगों में

अतीत में पलायन

नये उत्साह और बल का संचार किया जा सकता था। इसीलिये मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' 'पञ्चवटी' 'यशोधरा' 'द्वापर' आदि ऐतिहासिक-पौराणिक प्रबन्ध और प्रबन्ध-मुक्तक काव्यों की रचना की। गुरुभक्त सिंह ने 'नूरजहाँ' और निराला ने 'तुलसीदास' पर प्रबन्धकाव्य लिखे। स्फुट कविताओं में भी ऐतिहासिक वीरों और स्थानों की याद दिलाई गई और इस प्रकार राष्ट्रीयता और भारतीय संस्कृति की चेतना को जाग्रत करने की कोशिश की गई। ऐतिहासिक आख्यानों के अतिरिक्त 'स्वप्न' 'मिलन' 'पथिक' जैसे काल्पनिक प्रबन्धकाव्य लिखकर छायावादी कविता की श्रीवृद्धि की गई। इन प्रवृत्तियों के अतिरिक्त रीतिकालीन और पुनरुत्थान युगीन काव्यधारा भी क्षीण रूप में प्रवाहित होती रही जिसकी चर्चा करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

तृतीय खण्ड

रचना-प्रक्रिया और कला-सौष्ठव

१—रचना-प्रक्रिया
२—काव्य के रूप
३—अभिव्यक्ति—लक्ष्य और साधन
४—अलंकार-विधान
५—शैलीगत विशेषतायें
६—चित्रण-कला
७—भाषा और शब्दचयन
८—शब्द-शक्तियाँ
९—छन्द और लयतत्व

रचना-प्रक्रिया

छायावाद-युग की कविता में अभिव्यक्त भावनाओं और दृष्टिकोण के सम्बन्ध में विचार किया जा चुका है। यहाँ उसकी अभिव्यक्ति और प्रभविष्णुता के सम्बन्ध में विचार किया जायगा। पहले कहा जा चुका है कि छायावाद-युग की कविता पूँजीवाद की स्वतन्त्रता और विद्रोह की भावना के कारण उत्पन्न हुई। यह भावना विषय-वस्तु और दृष्टिकोण में ही नहीं, रचना-प्रक्रिया में भी दिखलाई पड़ी। जीवन के अन्य क्षेत्रों की तरह काव्य की शैली तथा रचना-कौशल के क्षेत्र में भी यह परिवर्तन की प्रवृत्ति एक आन्दोलन के रूप में दिखलाई पड़ने लगी। भक्तिकाल और रीतिकाल की काव्य-शैली में परिवर्तन का कार्य संक्रान्ति-युग में ही प्रारम्भ हो गया था जिसकी परिणति इस युग में आकर हुई। संक्रान्ति-युग में कविता की भाषा अधिकतर ब्रजभाषा ही रही किन्तु छन्द-विधान और अभिव्यक्ति में नवीनता की ओर कवियों का ध्यान गया। पुनरुत्थान-युग में रीतिकालीन काव्य-शैली को बिलकुल छोड़ दिया गया और भाषा के परिष्कार और संस्कृत के वर्ण-वृत्तों को अपनाने की प्रवृत्ति अधिक दिखलाई पड़ी। किन्तु दूसरी ओर कविता का स्वरूप अत्यधिक गद्यवत, नीरस और वर्णनात्मक हो गया जिसके मूल में रीतिकालीन काव्य के विरुद्ध कवियों की प्रतिक्रिया की भावना थी। छायावाद-युग के कवियों को पुनरुत्थान-युग की काव्य-शैली सन्तुष्ट नहीं कर सकी क्योंकि वह अपनी प्रतिक्रिया में इतना आगे बढ़ गई थी कि उसने रीतिकालीन कविता की सरस अभिव्यञ्जना, कल्पना, काव्य-सौन्दर्य आदि गुणों का सर्वथा तिरस्कार कर दिया पर उनकी जगह नई सरस अभिव्यञ्जना शैली का मार्ग प्रशस्त नहीं कर सकी। फलस्वरूप खड़ी बोली की उस काव्य-शैली से न तो सामन्ती प्रवृत्ति के लोगों को ही सन्तोष हो सका और न उर्दू, बंगला और अंगरेजी की कविता में रस लेने वाले ही उसे पसन्द कर सके। छायावादी कवियों ने इस कमी की ओर ध्यान दिया। पुनरुत्थान-युग की काव्य-शैली भी, काव्य-वस्तु की तरह ही, ब्रिटिश पूँजीवादी साम्राज्यवाद और भारतीय सामन्तवाद के समझौते का परिणाम थी। इसीसे उसमें पुनरावर्तन की प्रवृत्ति अधिक थी। भाषा का संस्कृत-गर्भित

हो जाना, संस्कृत के वर्ण-वृत्तों और अन्त्यानुप्रासहीन छन्दों का प्रयोग, आख्यान की शैली, भाषा और छन्द सम्बन्धी मर्यादा की प्रवृत्ति, कल्पना का सीमित उपयोग आदि बातें उसी समझौते की शैलीगत अभिव्यक्ति हैं। छायावाद-युग में जब वह समझौता टूट गया और पूँजीवाद का प्रभाव अधिक बढ़ने लगा तो पुनरुत्थान-युग की काव्य-शैली को छोड़कर नवीन स्वच्छन्द शैली के विविध मार्गों का अवलम्बन किया जाने लगा।

पहले कहा जा चुका है कि छायावादी कवि अकेला एक योद्धा के रूप में सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक बन्धनों तथा रूढ़ियों से मुक्ति पाने के लिए जूझता हुआ दिखलाई पड़ता है। उसकी यह मुक्ति-कामना विषय-वस्तु और रचना-प्रक्रिया दोनों में दिखलाई पड़ती है। जिस तरह वह विद्रोही बन कर सामन्ती सामाजिक सम्बन्धों की उपेक्षा करता हुआ प्रेम, प्रकृति, तत्व-चिन्तन तथा ऐन्द्रिक विषयों से काव्य की नवीन सामग्री ग्रहण करता है उसी तरह सामन्ती भाषा-शैली, छन्द-अलंकार आदि की परम्परा-भुक्त लीक को छोड़कर शैली सम्बन्धी विविध प्रयोग भी करने लगता है। इन प्रयोगों को पुराने खेवे के आलोचकों ने, जिनमें सामन्ती प्रवृत्तियाँ अवशिष्ट थीं, सन्देह की दृष्टि से देखा। इसीलिए छायावादी कवियों की विविध रूपों में हँसी उड़ाई गई और छायावाद के समर्थकों की विद्रोहात्मक उक्तियों का विरोध किया गया। समर्थ आलोचक श्री रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उससे उनकी सामन्ती और समझौतावादी प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। * शुक्लजी छायावाद को शैली मात्र मानते हैं। उनके अनुसार

* "इस दृष्टि से छायावाद का रूप-रंग खड़ा करने वाले कवियों के सम्बन्ध में अँगरेजी या बंगला की समीक्षाओं से उठाई हुई इस प्रकार की पदावली का कोई अर्थ नहीं कि इन कवियों के मन में एक आँधी उठ रही थी जिसमें आन्दोलित होते हुए वे उड़े जा रहे थे, एक नूतन वेदना की छटपटाहट थी जिसमें सुख की मीठी अनुभूति भी लुकी हुई थी, रूढ़ियों के भार से दबी हुई युग की आत्मा अपनी अभिव्यक्ति के लिए हाथ-पैर मार रही थी। न कोई आँधी थी न तूफान, न कोई नई कसक थी न वेदना. न प्राप्त युग की नाना परिस्थितियों का हृदय पर कोई नया आघात था, न उसका आहत नाद। इन बातों का कुछ अर्थ तब हो सकता था जब काव्य का प्रवाह ऐसी भूमियों की ओर मुड़ता जिन पर ध्यान न दिया गया रहा होता। छायावाद के पहले नये-नये मार्मिक विषयों की ओर हिन्दी कविता प्रवृत्त होती आ रही थी। कसर थी तो आवश्यक और व्यञ्जक शैली

वह नवीन सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों के कारण क्रान्तिकारी रूप लेकर नहीं उत्पन्न हुआ था, बल्कि केवल शैली की नवीन प्रणाली को लक्ष्य मानकर सामने आया था। इस दृष्टिकोण का कारण उनका यह सिद्धान्त था कि काव्य में विषय-वस्तु और रूप-विधान दो भिन्न चीजें हैं। किन्तु सत्य इसके बिलकुल उलटा है। विषय-वस्तु और रूप-विधान दोनों ही अन्योन्याश्रित हैं; विषय-वस्तु के परिवर्तन के साथ रूप-विधान में भी परिवर्तन होना अनिवार्य है।

शैली

काव्य की शैली कवि के दृष्टिकोण से ही उत्पन्न होती है। वस्तुतः वह कवि के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करती है। कवि की अनुभूतियाँ जिस प्रकार की होती हैं, उसकी शैली भी उन्हीं के अनुरूप होती है। इन अनुभूतियों से ही कवि के मानस का निर्माण होता है और भाषा, छन्द, अभिव्यञ्जनाशैली सभी उसी मानस की सचेत चेष्टा के परिणाम हैं। किन्हीं भी दो व्यक्तियों का मानसिक गठन बिलकुल एक प्रकार का नहीं होता, इसीलिये किन्हीं दो कवियों की शैली भी बिलकुल एक जैसी नहीं होती। शैली बाह्य वस्त्रालंकार की तरह ऊपरी सजावट की वस्तु नहीं है। वह उस आन्तरिक कान्ति या सौन्दर्य की तरह है जो शरीर से सहज भाव से मोती के आब की तरह प्रकाशित होता रहता है। आलोचना के क्षेत्र में केवल सुविधा के लिए काव्य का, विषयवस्तु और शैली, इन दो भागों में विभाजन कर लिया जाता है। शैली हमेशा स्वाभाविक होती हैं। जहाँ वह कृत्रिम होती है, जैसी रीतिकालीन कविता की शैली थी, वहाँ काव्य का भावपक्ष शून्य अथवा क्षीण रहता है। इस तरह यह स्पष्ट है कि काव्य की शैली कवि के व्यक्तित्व और व्यक्तिगत दृष्टिकोण तथा अनुभूतियों की ही सहज अभिव्यक्ति है। काव्य भाषा में निर्मित होता है और भाषा स्वयं व्यक्तियों की व्यक्तिगत अनुभूतियों की देन है। स्वयं भाषा भी उन अनुभूतियों के रूप को बदलती रहती है। भाषा के बिना व्यक्ति की अनुभूतियाँ नहीं हो सकतीं और न अनुभूतियों के बिना भाषा ही हो सकती है। भाषा और शब्दों का ज्ञान कैसे होता है और व्यक्ति उन्हें कैसे बदलता है, यहाँ इस सम्बन्ध में भी कुछ विचार कर लेना चाहिये क्योंकि शैली की अभिव्यक्ति भाषा और उसके विविध अवयवों के माध्यम से ही होती है।

की, कल्पना और संवेदना के अधिक योग की। तात्पर्य यह कि छायावाद जिस आकांक्षा का परिणाम था उसका लक्ष्य केवल अभिव्यञ्जना की रोचक प्रणाली का विकास था।"

[रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृष्ठ—७८४]

भाषा वह संकेत है जिसमें समाज के लोग आपस में अपनी अनुभूतियां को व्यक्त करते हैं। भाषा के निर्माण, ज्ञान, प्रसार और विकास में मनुष्य के मस्तिष्क की सभी शक्तियाँ काम करती हैं। चूँकि विभिन्न व्यक्तियों की इन्द्रियों की शक्ति भिन्न-भिन्न होती है, अतः उनके मस्तिष्क पर वस्तुओं का जो प्रत्यक्षीकरण होता है वह भी भिन्न होता है। इस प्रकार शारीरिक और मानसिक गठन की भिन्नता के कारण बाह्य वस्तुओं की अनुभूति भी, जो बिम्ब, कल्पना, स्मृति, भावना, आदि के रूप में अभिव्यक्त होती है, भिन्न ही रहती है। किन्तु व्यक्ति समाज में रह कर सभ्यता और संस्कृति का विकास करता है, जहाँ अनुभूतियों को दूसरों के सामने प्रेषित किये बिना काम नहीं चल सकता; अतः व्यक्तियों की मानसिक और स्नायविक विचित्रता के कारण उत्पन्न वैयक्तिक अनुभूतियों को सामाजिक स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है। चूँकि अनुभूतियाँ भाषा में होती हैं अतः भाषा की वैयक्तिक विचित्रता भी सामाजिक स्वीकृति की अपेक्षा रखती है। इस प्रकार पारस्परिक सहयोग से भाषा का विकास होता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ सामान्य भाषा को देता है और समाज से अपने को सम्बद्ध रखने के लिए सामूहिक भावनाओं और सामान्य भाषा से बहुत कुछ ग्रहण कर उसे अपना बना लेता है। इस तरह अनुभूतियों को दूसरों तक पहुंचाने के लिए ही भाषा का विकास होता है।

प्रेषणीयता

अतः यह स्पष्ट है कि काव्य की भाषा-शैली का उसमें अभिव्यक्त अनुभूतियों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। विकृत मस्तिष्क वाले व्यक्तिकी अनुभूतियाँ अस्पष्ट, असम्बद्ध और विचित्र होती हैं, अतः उसकी भाषा भी वैसी ही होती है। जिस कवि की अनुभूति सीधी और सच्ची होगी अर्थात जिसका प्रत्यक्षीकरण जितना ही स्पष्ट होगा, मूर्तिविधायिनी और ग्राहिका कल्पना जितनी तीव्र होगी, स्मृति जितनी शक्तिशालिनी होगी और भावनायें जितनी वेगयुक्त होंगी, उसकी भाषा-शैली भी उतनी ही सीधी, स्पष्ट, प्रभावपूर्ण, प्रवाहयुक्त और शक्तिशालिनी होगी क्योंकि वाणी (भाषा) और अर्थ (अनुभूति) जल और लहर की तरह एक दूसरे से अभिन्न हैं।* कवि की अनुभूतियाँ सामजिक स्वीकृति प्राप्त करना

* गिरा अर्थ जलबीचि सम, कहियत भिन्न, न भिन्न। —तुलसी
वागार्थाविव सम्पृक्तौ, वागार्थ प्रतिपत्तये।
—कालिदास

रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।
—पंडितराज जगन्नाथ

चाहती हैं और इसीलिए वह उन्हें भाषा में अभिव्यक्त भी करता है। पर वह अपनी अनुभूतियों की विशेषता भी नहीं खोना चाहता। अतः कवि की सहजात प्रवृत्तियां (Instincts) जिनसे अनुभूति बनती है और सांस्कृतिक परिवेश (Cultural environment) में विरोध होता रहता है। ऐसी स्थिति में उस पर तीन तरह की प्रतिक्रिया है:—१—वह दोनों के बीच सामंजस्य उत्पन्न करता है अर्थात अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों पर सामाजिक परिवेश का नियंत्रण एक सीमा तक स्वीकार करता है; पर सामाजिक परिवेश में भी परिवर्तन-परिवर्द्धन करता है। ऐसी हालत में उसकी भाषा-शैली पूर्ववर्ती काव्य-परम्परा के मेल में होते हुए भी कुछ नवीनता लिए होती है। तुलसी और मैथिलीशरण गुप्त की शैली में यही बात दिखलाई पड़ती है। २—जब सांस्कृतिक परिवेश व्यक्ति को बन्धनों में जकड़ लेता है तो उससे मुक्ति पाने के लिये कवि उससे विद्रोह करके अपनी सहजात वृत्तियों और भावनाओं को मौलिक रूप से व्यक्त करता है। ऐसी हालत में वह पूर्ववर्ती काव्य-परम्परा को छोड़ देता अथवा उसके कुछ ही तत्वों को ग्रहण करता है। ऐसे कवि की भाषा-शैली पूर्ववर्ती कविता की भाषा-शैली से भिन्न और सर्वथा नवीन होती है। कबीर, मीरा, सूर और छायावादी कवियों की भाषा-शैली को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। ३—जब कवि विद्रोह करने में असमर्थ होता है तो वह या तो अपने सांस्कृतिक परिवेश का ही एक अंग बनकर परम्परा-भुक्त अनुभूतियों की वेदी पर अपनी सहजात वृत्ति और अनुभूति का ही बलिदान कर देता है या अपने को, उस परिवेश से बिलकुल अलग कर देने के प्रयत्न में, समाज से ही अलग करके वैयक्तिक विचित्रताओं और अहं के घेरे में बन्द कर लेता है। पहले प्रकार के कवि रीतिवादी (Classicalist) और दूसरे प्रकार के रूपवादी (Formalist) हो जाते हैं। दोनों ही असामाजिक, प्रतिक्रियावादी और हीन-क्षीण अनुभूतियों वाले होते हैं। रीतिकाल की कविता और आज की प्रयोगवादी कविता इसका उदाहरण है। सामंजस्यवादी और विद्रोही कवियों में अनुभूति और शैली का सामंजस्य और नवीनता दिखलाई पड़ती है किन्तु रीतिवादी और रूपवादी कविता में रूप-विधान (शैली) की ही प्रधानता रहती है; अनुभूति का होना या न होना वहाँ अधिक महत्व नहीं रखता। ऐसी कविता में वाणी और अर्थ असंपृक्त रहते हैं; वह वाग्विलास अधिक होती है, कविता कम।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कविता की शैली या टेकनीक कवि के व्यक्तित्व की ही अभिव्यक्ति है। शैली की सफलता इस बात में निहित है कि कवि अपनी अनुभूतियों के अनुरूप परम्परागत भाषा, छन्द, शब्द, अलंकार

आदि का रूप बदल दे अर्थात् भाषा उसकी वशवर्तिनी हो। सफल कवि नई भाषा का निर्माण करता, नये शब्द गढ़ता और पुराने शब्दों को नया अर्थ प्रदान करता है और उनके आपसी सम्बन्धों को बदलकर उन्हें अपनी अनुभूतियों का वाहन बनाता है। कवि अपनी अनुभूतियों को भाषा में कैसे व्यक्त करता है, इस सम्बन्ध में भी विचार कर लेना आवश्यक है।

शैली का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

कविता अपने विशेष रूप (Form) के कारण हमेशा वैयक्तिक होती है क्योंकि वह अनुभूतियों और भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है जो वैयक्तिक होती हैं। फिर भी कविता और उसकी भाषा सामाजिक वस्तुएँ ही हैं क्योंकि कवि स्वयं समाज का सदस्य, एक व्यक्ति होता है। व्यक्ति अपने परिवेश से, जिसमें समाज भी है, सक्रिय सहयोग या असहयोग करता है। परिवेश के साथ उसके सम्बन्ध से ही उसकी जीवन-विधि निर्मित होती है। प्रकाश-अन्धकार, सर्दी-गर्मी, हवा, भोजन-जल, सांस्कृतिक आवश्यकतायें सब के लिये व्यक्ति को अपने परिवेश पर निर्भर रहना पड़ता है। जैसा पहले कहा जा चुका है, व्यक्ति अपने परिवेश पर निर्भर रहते हुए भी उससे संघर्ष करता रहता है और एक सीमा तक अपना स्वतंत्र अस्तित्व भी बनाये रहता है। परिवेश या प्रकृति के साथ संघर्ष न करने से व्यक्ति या जाति का शीघ्र ही लोप हो जाता है। फिर भी व्यक्ति के सभी क्रिया-कलाप प्रकृति की सहज प्रक्रिया के ही अंग हैं, चाहे वह उसके साथ सहयोग करे या संघर्ष करे। मनुष्य जब बच्चा रहता है तो परिवार या समाज पर निर्भर रहता है, जो उसकी आवश्यकताओं को पूरा करता और उसके कार्यों पर अंकुश रखता है। बच्चा उस नियंत्रण का विरोध करता रहता है, फिर भी वह समाज की भाषा, रीति-रिवाज तथा ज्ञान-विज्ञान को ग्रहण करता अर्थात उस सांस्कृतिक परिवेश को बहुत कुछ स्वीकार कर लेता है। इस तरह व्यक्ति समाज में रहता, उसके साथ संघर्ष करता, उससे बहुत कुछ लेता और उसे भी बहुत कुछ देता है। बड़ा होने पर व्यक्ति अपने परिवेश में होने वाले क्रिया-कलापों में सक्रिय भाग लेने लगता है। अपने चारों तरफ के व्यक्तियों और वस्तुओं से उसे काम पड़ता है, वह देश और काल के विस्तार में अपने कार्यों का भी विस्तार करता जाता है। परिवेश के साथ वह, निरन्तर आदान-प्रदान करता चलता है; परिवेश कुछ व्यक्ति के लिए करता है और व्यक्ति भी कुछ परिवेश के लिए करता है। परिवेश की शक्तियाँ व्यक्ति पर आघात करती हैं, जिससे व्यक्ति की क्रियायें, अनुभूतियाँ, ज्ञान आदि बदल जाते हैं, किन्तु इस संघर्ष के दौरान में परिवेश भी बदल जाता है। वह परिवर्तित

परिवेश फिर व्यक्ति की क्रियाओं में परिवर्तन लाता है। यह क्रम प्रतिक्षण चलता रहता है। उदाहरण के लिए चाणक्य की कथा को देखिये। उसके पैर में कुश गड़ गया, (परिवेश ने व्यक्ति पर आघात किया) तो वह क्रुद्ध होकर कुशों की जड़ में मट्ठा देने लगा; (व्यक्ति ने परिवेश को बदला); उसे ऐसा करते शटकार ने देखा और उसे निमंत्रित किया। उसने निमंत्रण स्वीकार कर लिया (परिवेश ने व्यक्ति की क्रिया को बदला); चाणक्य ने महानन्द का नाश किया (व्यक्ति ने परिवेश को बदला)......और व्यक्ति की कहानी में अन्त तक यही बात दिखलाई पड़ती है।

ऐसा करने के लिए व्यक्ति विवश है क्योंकि उसके शरीर और मन का गठन ही इसी तरह से हुआ है। व्यक्ति के शरीर में ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ होती हैं। किसी वस्तु का प्रत्यक्षीकरण व्यक्ति के मस्तिष्क पर ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से होता है। आँख को ही लें; पहले किसी वस्तु—मान लीजिये एक कुर्सी—को आँख देखती है; किरणों द्वारा कुर्सी का प्रतिबिम्ब आँख के पीछे के स्नायविक केन्द्र पर पड़ता; वह केन्द्र चाक्षुष स्नायुओं (Optical nerves) को उत्तेजित कर के मस्तिष्क तक उस बिम्ब को पहुँचाता है। इसी को प्रत्यक्षीकरण या संज्ञा कहते हैं। मस्तिष्क तुरन्त कर्मेन्द्रियों के स्नायुओं (Motor nerves) को उत्तेजित करता है जो शरीर की मांसपेशियों में सक्रियता उत्पन्न करते हैं। उन मांसपेशियों के कारण अंगों में सक्रियता उत्पन्न होतीं और व्यक्ति उस कुर्सी पर जाकर बैठता या उसे उठाता है। इस प्रक्रिया को नीचे के चित्र से समझा जा सकता है:—
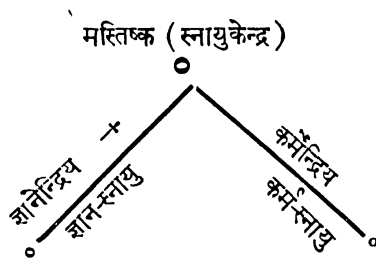
इस प्रकार वस्तु का प्रत्यक्षीकरण या बिम्ब-ग्रहण होता है परन्तु मस्तिष्क पर तुरन्त इसकी प्रतिक्रिया भी किसी न किसी रूप में अवश्य होती है। ज्ञान (Cognition) के बाद होने वाली इस प्रतिक्रिया को ही प्रभाव Affe

ction) कहते हैं। इस प्रभाव में इच्छा, भावना आदि (अनुकूल या प्रतिकूल वेदनायें) सभी सम्मिलित हैं। व्यक्ति इस प्रभाव के अनुरूप तुरन्त कुछ प्रयत्न करता है जिसे क्रिया (Conation) कहते हैं। बचपन से ही जितनी भी वस्तुओं का व्यक्ति के मस्तिष्क पर इन्द्रियों के माध्यम से जो भी बिम्ब पड़ता और उसकी जो प्रतिक्रिया और क्रिया होती है, वह सब अनुभूतियाँ हैं। व्यक्ति का मस्तिष्क उन सबका संचय (Conservation) करता जाता है। जब किसी वस्तु का प्रत्यक्षीकरण होता है, तो मस्तिष्क उसकी व्याख्या करता और अपने संचित बिम्बों और प्रभावों से उसकी तुलना करता है। यदि उस वस्तु का उसे पहले प्रत्यक्षीकरण हुआ रहता है, तो वह उसे स्मरण कर लेता है। इस स्मृति-शक्ति (Memory) का कार्य बाद में बिना वस्तु के प्रत्यक्षीकरण के भी होने लगता है। अगर उस वस्तु का प्रत्यक्षीकरण पहले नहीं हुआ रहता तो व्यक्ति पूर्ववर्ती अन्य प्रत्यक्षों (Percepts) से उसकी तुलना करता और अनुबन्ध (Association) जोड़ता है। मस्तिष्क की यह विशेषता है कि व्यक्ति को जिस वस्तु के बिम्ब या प्रभाव की जब आवश्यकता पड़ती है वह उसे अपने संचित ज्ञानकोष से तुरन्त निकाल कर उसके सामने मानस-प्रत्यक्ष कर देता है।

परिवेश की ही कोई न कोई शक्ति व्यक्ति के इन्द्रियों का स्पर्श करके स्नायुओं को उत्तेजित करती है। प्रकाश की किरणें चाक्षुष स्नायुओं को, हवा में तैर कर आने वाली गंध और उसे कम्पित करके आती हुई ध्वनि, घ्राणेन्द्रिय और श्रवणेन्द्रिय के स्नायुओं को उत्तेजित करके वस्तु का बिम्ब मस्तिष्क तक पहुँचाती हैं। उनके बिम्बों को क्रमशः रूप, गन्ध, ध्वनि कहते हैं। कभी-कभी एक ही साथ कई तरह के बिम्ब और प्रभाव मन पर आते हैं, अतः क्रियाओं में व्यक्ति को चुनाव करना पड़ता है। किसी बाग में यदि फूल खिले हों, कोयल बोल रही हो, गन्ध उड़ रही हो, फल लगे हों, हरी घास गलीचे की तरह फैली हो, तो उस समय व्यक्ति के मस्तिष्क में सबका एक ही साथ बिम्ब नहीं बनता है। वह किसी एक या दो इन्द्रियों की ही इच्छा पूरी करने का प्रयत्न करता है। एक ही समय वह सब इन्द्रियों से काम नहीं ले सकता। इसे चुनाव (Selectivity) कहते हैं। चुनाव द्वारा मिलते-जुलते बिम्बों का ही प्रभाव क्रियाशीलता उत्पन्न करता है; और बाग, फूल की गन्ध, का प्रत्यक्षीकरण एक साथ हो सकता है। उसी तरह स्मृति की दशा में भी व्यक्ति चुनाव द्वारा सम्बन्धित बिम्बों को ही ग्रहण करता है। कल्पना भी सम्बन्ध के आधार पर ही अपना कार्य करती है। 'सोने का पहाड़' एक काल्पनिक वस्तु

है जिसमें सोना और पहाड़, इन दो बिम्बों को एक में मिला दिया गया है। व्यक्ति का कोई काम अपने आप (Spontanious) नहीं होता, कोई न कोई उत्तेजक बात (Stimulus) जरूर उसके कर्मेन्द्रियों के स्नायुओं को उत्तेजित करके उस व्यक्ति को क्रियाशील बनाती है ।

इस विश्लेषण का काव्य की रचना-प्रक्रिया से बहुत ही घनिष्ट सम्बन्ध है। पहले कहा जा चुका है कि शैली व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है और शारीरिक-मानसिक गठन तथा परिवेश की देश-काल सम्बन्धी भिन्नता के कारण सब का प्रत्यक्षीकरण या बिम्ब-ग्रहण एक सा नहीं होता और न सब पर एक जैसा प्रभाव ही पड़ता है। अतः सब की क्रियाएँ और अनुभूतियाँ एक ही प्रकार के परिवेश में भी भिन्न होती हैं। यही कारण है कि सभी व्यक्ति कलाकार नहीं होते और न सभी कलाकार सभी कलायें ही जानते हैं। इसका कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति मस्तिष्क के बिम्बों के प्रभाव के बाद भिन्न प्रकार का प्रयत्न करता है। बहुत से लोग सुन्दर फूल को देख कर उसे तोड़ लेने का प्रयत्न करते हैं पर बहुत से ऐसे भी होते हैं जो मन ही मन या भाषा में अपनी कर्मेन्द्रिय की माँग को पूरा करते हैं अर्थात उसकी अभिव्यक्ति किसी न किसी कला के रूप में करते हैं जिसे उत्कृष्ट भाषा (Hightened language , का संस्कार होता है वह गद्यकाव्य या पद्यकाव्य में अपने प्रभाव या अनुभूति को अभिव्यक्त करता है। अनुभूतियों की भिन्नता के कारण ही कला के विविध स्वरूपों और एक ही स्वरूप (Pattern) की विविध शैलियों में अन्तर दिखलाई पड़ता है।

कविता में मानवीय भावनाओं को उत्कृष्ट भाषा में लय और छन्द के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। जिस तरह अन्य व्यक्तियों में भावनाएँ उत्पन्न होती हैं उसी तरह कवि के मन में भी मानसिक बिम्बों की शृङ्खला के रूप में भावनाओं की उत्पत्ति होती है। ज्ञानेन्द्रियो और उनके स्नायुओं के द्वारा वस्तुओं के बिम्ब कवि के मस्तिष्क में पहुँचते हैं। मस्तिष्क उनमें चुनाव, परिवर्तन और परिवर्द्धन करता है। यहीं इच्छा भावना, कल्पना, आदि की उत्पत्ति हो जाती है। कवि इनकी अभिव्यक्ति कायिक रूप में नहीं, वाचिक रूप में करता है। अन्य कलाकार इनकी अभिव्यक्ति रंग और तूलिका, ध्वनि, प्रस्तरखण्ड और काष्ठ आदि साधनों के उपयोग द्वारा करते हैं। कवि की भावाभिव्यक्ति का माध्यम शब्द है। शब्दों में ही वह अपने मानसिक बिम्बों, भावनाओं और कल्पनाओं को मूर्त रूप देता है। इस तरह कविता बाह्य वस्तुओं या मानसिक भावनाओं का शब्दचित्र है। उद्दीपनों द्वारा इन्द्रियों की उत्तेजना (Sensation , के

फलस्वरूप उत्पन्न बिम्बों, भावनाओं, धारणाओं और कल्पनाओं की शाब्दिक अभिव्यक्ति करने में कवि नवीन निर्माण का प्रयत्न करता है। जिस तरह खान से निकले हुए कच्चे हीरे को खराद पर चढ़ा कर उसका रूप निखार दिया जाता है उसी तरह मानसिक चित्रों और भावनाओं को कवि शब्दों और छन्दों में बाँध कर, उनमें से आवश्यक तत्वों को ग्रहण कर और अनावश्यक तत्वों को छोड़कर, अथवा कल्पना के सहारे उनमें नये चित्रों और नई भावनाओं को जोड़कर उन्हें सर्वथा नवीन रूप दे देता है। इस तरह रासायनिक परिवर्तन की भाँति कविता भी बिलकुल नई वस्तु बन जाती हैं। भारतीय साहित्य-शास्त्र में इसी को रस की प्रक्रिया कहा जाता है। वर्ड्सवर्थ ने इसके सम्बन्ध में कहा था कि "कवि की दैवी शक्ति और दृष्टि छन्द द्वारा पूर्णता की अपेक्षा रखती हैं, अर्थात कवि की भावनाएँ, जो रहस्यमय होती हैं, छन्दों में बँधकर स्पष्ट और पूर्ण हो जाती हैं।"*

भावना और कल्पना

कवि अन्य लोगों से इस अर्थ में भिन्न होता है कि उसकी भावनाएँ और कल्पनाएँ अधिक तीव्र, शक्तिपूर्ण और क्रियाशील होती हैं, वह मानव-हृदय के सूक्ष्म-व्यापारों, मानसिक क्रियाओं, सामाजिक सम्बन्धों आदि का ज्ञान रखता है और अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा परिवेश को परिवर्तित करने का भी प्रयत्न करता रहता है। वह मानव-आत्मा का शिल्पी (इन्जीनियर) होता है, इसलिये उसकी अभिव्यक्ति अन्य जनों की अभिव्यक्ति से भिन्न होती है। वह अपनी अभिव्यक्ति में नवीन निर्माण करता है। उसके निर्माण का सबसे महत्वपूर्ण साधन उसकी कल्पना-शक्ति है। कल्पना की सहायता से ही वह अपने हृदय की भावनाओं को शब्द और छन्द के माध्यम से दूसरों तक सफलतापूर्वक पहुँचा देता है। यहाँ बिम्ब, भावना और कल्पना का भेद समझ लेना आवश्यक है। भावनाएँ मानसिक बिम्बों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती हैं। अतः कवि जब पाठकों के हृदय में कोई भावना उत्पन्न करना चाहता है तो बिम्बों के प्रत्यक्षीकरण द्वारा ही करता है। उदाहरण के लिए यदि कोई मुझसे कहे कि किसी पेड़ या बादल या गुलाब के फूल का चित्र मैं अपने मन में उतारूँ, तो अनायास ही ये वस्तुएँ मनमें स्मृति-शक्ति द्वारा बिम्बित हो जाती हैं। किन्तु यदि कोई कहे कि मैं घृणा या प्रसन्नता का चित्र मनमें उतारूँ तो ऐसा मैं प्रयत्न

---

*"The vision and the faculty divine
Though wanting the accomplishment of verse".
--wordsworth

करने के बाद भी नहीं कर सकूँगा। कारण यह है कि भावनाओं का अपना चित्र नहीं होता, वे कुछ खास प्रकार के चित्रों से सम्बद्ध होती हैं। ये चित्र जब संश्लिष्ट होकर आते हैं तभी भावना की उत्पत्ति होती है। भारतीय रस-शास्त्र के अनुसार कुछ विशेष भावनाएँ (स्थायी भाव) मनमें सुषुप्त पड़ी रहती हैं और बाह्य या आन्तरिक उद्दीपनों द्वारा वे जाग्रत होकर संचारी भावों और अनुभावों के योग से रस का रूप धारण करती हैं। कुछ लोग यह मानते हैं कि किसी उद्दीपन के बिना ही कवि की भावनाएँ अनायास कविता के रूप में व्यक्त हो जाती हैं। वर्ड्सवर्थ इसे भावनाओं का अनायास-प्रवाह कहता था* क्योंकि उसका अनुभव यह था कि कवि उत्तेजना की स्थिति में कविता नहीं लिख सकता, इसलिये वह बाद में शान्त चित्त होकर अतीत की भावनाओं और उच्छ्वासों को काव्यरूप में परिवर्तित करता है। जो भी हो, इतना तो निर्विवाद है कि काव्य-रचना की प्रक्रिया के दो प्रधान अंग हैं—प्रभाव, जिसमें बिम्ब भावना, कल्पना आदि सब हैं, और अभिव्यक्ति, जिसमें भाषा, छन्द, लय, गति, शब्द-चयन आदि सम्मिलित हैं। कल्पना-शक्ति, प्रभाव और अभिव्यक्ति दोनों ही क्षेत्रों में काम करती है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, मस्तिष्क में इन्द्रियों द्वारा बिम्बों की जो शृंखला आती रहती है, मस्तिष्क उसे सञ्चित करता रहता है और स्मृति और भावयित्री कल्पना के सहारे पूर्व-संचित बिम्बों से उसकी तुलना करता और उसमें से चुनाव और विविध चित्रों का मिश्रण करके, धारणा (Attitude) और भावना (emotion) को जन्म देता है जिनकी अभिव्यक्ति शारीरिक, मानसिक या वाचिक होती है। कलात्मक अभिव्यक्ति भी वैज्ञानिक आविष्कार और निर्माण की तरह होती है; अतः वैज्ञानिक की कल्पना की तरह कलाकार की कल्पना भी कारयित्री होती है। इसी के सहारे कवि भाव के अनुरूप शब्द, छन्द, लय आदि को अनायास प्राप्त कर लेता है। वह मानसिक चित्रों को शब्दों में उतारता, विविध प्रकार के रूपों का मिश्रण करके नये-नये चित्र उपस्थित करता और छन्द-लय आदि में भी निरन्तर परिवर्तन करता रहता है। कहने का तात्पर्य यह कि कल्पना कवि की सबसे बड़ी शक्ति है और यही उसे अन्य लोगों से भिन्न करती है। वह अन्य मानसिक क्रियाओं जैसे ज्ञान, स्मृति, भावना, धारणा, इच्छा-शक्ति सबसे भिन्न और सर्वोपरि

---

* All good poetry is spontanious overflow of powerful feelings.

—wordsworth–Preface of lyrical Ballads

है; * उसमें ये सभी शक्तियाँ मिल कर काम करती हैं। सौन्दर्य से जीवन और जगत का मूल्य बढ़ता है और कल्पना सौन्दर्य का निर्माण करती है। इस प्रकार कल्पना वस्तु-सत्य का संश्लेषण, मानवीकरण और प्रकाशन करती हुई व्यक्ति के मन का उसके परिवेश के साथ सम्बन्ध स्थापित करती रहती है।

छायावादी कविता में कल्पना का योग सब से अधिक है, अतः कल्पना के विविध रूपों के सम्बन्ध में विशेष रूप से विचार कर लेना आवश्यक है। कवि का सब से उपयोगी साधन या अस्त्र कल्पना है। भावना (Emotion) या संवेदना (feeling) कल्पना को नव निर्माण के लिए उत्तेजित करती है। अतः कवि कल्पना की सहायता से काव्य के रूप (Pattern) और उसके कथानक या विषय-वस्तु की योजना, छन्द और लय का चुनाव, शब्द-चयन, चित्र-संघटन आदि करता है। कल्पना के सहारे ही वह काव्य में प्रभावान्विति उत्पन्न करता तथा कलात्मक आनन्द या स्वान्तः सुख (Aesthetic Pleasure) का अनुभव करता है। उसी शक्ति द्वारा ग्रहीता या रसज्ञ भी काव्य का आनन्द लेता है। जिस तरह कोई व्यक्ति अतीत के सुखमय क्षणों की याद कर के या भावी सुखों की कल्पना करके आनन्दित होता है उसी तरह ग्रहीता भी काव्य के दृश्यों, चित्रों या भावों को कल्पना द्वारा मानस-प्रत्यक्ष कर के आनन्दित होता है, मानों वे सचमुच ही उसके सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं। कवि की कल्पना जब

---

* The energy of the mind or of the soul, for it welds all psychical activities, which is the agent of our world-winnings and pro-creator of our growing life, we term imagination. It is distinguished from perception by its relative freedom from the dictation of sense. It is distinguished from memory by its power to acquire; memory only retains, it is distinguished from emotion in being a force rather than a motive, from understanding in being an assimilator rather than the mere weigher of what is set before it, from the will, because the will is but the wielder of reins; the will is but the charioteer, the imagination is the Pharaoh in command."—Poetry and the Individual—Hartley B. Alexander.

बुद्धि और भावना द्वारा समान रूप से नियंत्रित होती है तभी उसकी रचना द्वारा प्रभाव उत्पन्न होता है। ऐसा न होने पर उस में अनौचित्य, अयथार्थता अथवा अस्वाभाविकता का दोष आ जाता है। कल्पना की अतिशयता अबौद्धिकता और असामाजिकता को जन्म देती है। अतिशय कल्पनाप्रिय व्यक्ति सामाजिक यथार्थ से पलायन करता है अथवा यथार्थ से पलायन करने वाला व्यक्ति कला के क्षेत्र में कल्पनावादी हो जाता है। कल्पनावादी कालरिज, जो अफीमची था, इसका उदाहरण है। छायावादी कवियों में सबसे अधिक कल्पनावादी पन्त हैं जो स्वयं कहते हैं कि वे जनभीरु हैं।* उनकी बाद की कविताओं में जहाँ कल्पना बुद्धि द्वारा नियंत्रित है, अधिक गम्भीरता आ गयी है। बुद्धि और भावना दोनों के समयोग से कल्पना सौन्दर्य और मंगल का विधान करती है। जहाँ उसे केवल बुद्धि का बल मिलता है, वह अलंकारवादी, चित्रवादी, प्रयोगवादी, अति-यथार्थवादी, अभिव्यंजना-वादी और बुद्धिवादी काव्य को जन्म देती है और जहाँ केवल भावना का योग रहता है वहाँ वह पलायनवादी और छिछले अबौद्धिक और अवैज्ञानिक साहित्य का निर्माण करती है। संवेदना और भावना कवि-कर्म के लिए कच्चे माल की तरह हैं जिनसे कवि बुद्धि-संगत कल्पना द्वारा समाज के उपयोग के लिए तैयार माल (कविता) उपस्थित करता है। छायावादी कवियों में संवेदना और भावना की अधिकता और कल्पना की अतिशयता है, पर उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक और यथार्थवादी न होने से उनकी कल्पना को बुद्धि का योग अधिक नहीं मिल सका है। और जहाँ बुद्धि का योग मिला है, वहाँ वह इतना अधिक हो गया है कि भावना ही कमजोर पड़ गयी है। इस प्रकार छायावादी कविता में असन्तुलन और एकांगिता है अर्थात कहीं वह अतिशय भावुकतापूर्ण है और कहीं अतिशय बौद्धिक। पन्त का 'पल्लव' पहले प्रकार का और 'युगवाणी' दूसरे प्रकार का काव्य है।

कल्पना का उपयोग काव्य-रचना में रूप-संघटन के अतिरिक्त ऐसी बातों के लिए भी होता है जिनसे कवि के व्यक्तित्व और उसकी शैली का निर्माण होता है। कल्पना वस्तु के मानस-चित्रों और तज्जन्य अनुभूतियों का चुनाव, मिश्रण, तुलना और सम्बन्ध-स्थापन करती और उसके लिए भाषा भी खोजती अथवा निर्मित करती है। यही प्रक्रिया रस-विधान, अलंकार-विधान, शब्द-चयन, अभिव्यंजना आदि

कल्पना और तादात्म्य-बोध

---

* 'प्रकृति के साहचर्य ने जहाँ एक ओर मुझे सौन्दर्य, स्वप्न और कल्पना-जीवी बनाया, वहाँ दूसरी ओर जनभीरु भी बना दिया। यही कारण है कि

विविध कवि-कर्मों में दिखलाई पड़ती है। कल्पना द्वारा ही कवि बाह्य जगत की वस्तुओं के साथ तादात्म्य स्थापित करता, उनमें अपने अहं को आरोपित करता है। अतिशय कल्पनाजीवी व्यक्ति बाह्य वस्तुओं में भी चेतना का आरोप कर के उन्हें अपने ही व्यक्तित्व का अंग मान लेता या अपने अहं का तिरोभाव करके बाह्य वस्तुओं के रूप में ही अपने को मानने लगता है।* रोमांटिक और छायावादी कवि बहुधा ऐसा करते हैं। बच्चे कल्पना से ही निर्जीव वस्तुओं में चेतना का आरोप करते हैं, उनके लिए खिलौने की चिड़िया सजीव चिड़िया होती है और लाठी ही उनका घोड़ा होती है। तादात्म्य-भावना और मानवीकरण की प्रवृत्ति समानुभूति के कारण उत्पन्न होती है जो कल्पना की ही देन है। कीट्स ने लिखा है कि 'जब मैं अपनी खिड़की पर किसी गौरैये को देखता हूँ तो मुझे ऐसा लगता है कि मैं भी गौरैया हूँ।" सर्वात्मवादी सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक कारण भी यह कल्पना ही है जिसमें कवि या दार्शनिक प्रत्येक वस्तु में एक ही चेतना को देखता है। कल्पना का दूसरा उपयोग यह है कि वह कवि के लिए बाह्य वस्तुओं को पारदर्शी बना देती है, उसके लिए उनकी स्थूलता का परदा हट जाता है और कवि वस्तु के अन्तरतम तक पहुँच कर उसके भीतरी तत्वों को देखने और उद्घाटित करने लगता है। वस्तु का स्थूल रूप उसकी दृष्टि से तिरोहित हो जाता है, केवल भावरूप रह जाता है। इस तरह कवि वस्तु की प्रतिकृति या अनुकृति

जनसमूह से अब भी मैं दूर भागता हूँ, और मेरे आलोचकों का यह कहना कुछ अंशों तक ठीक ही है कि मेरी कल्पना लोगों के सामने आने में लजाती है।"

—पन्त—आधुनिक कवि की भूमिका—पृष्ठ २

* "Man's intercourse with the world is necessarily formative. His experience of things outside his conciousness is in the manner of a chemistry, wherein some energy of his nature is mated with the energy brought in on his nerves from externals, the two combining into something, which exists only in, or perhaps we should say, closely around man's conciousness. Thus what man knows of the world is what has been formed by the mixture of his own-nature with the streaming in of the external world."

—L. Abercrombie—study of Tomas Hardy.

ही नहीं उपस्थित करता, बहुधा उसे बदल कर बिलकुल नई वस्तु भी उपस्थित करता है। छायावादी कविता में यह प्रवृत्ति भी बहुत दिखलाई पड़ती है। पन्त जी की 'स्याही की बूँद' 'घंटा' आदि कविताओं में कल्पना की यह करामात स्पष्ट दिखलाई पड़ती है।

कवि अपने मानस-प्रत्यक्षों और भावनाओं-संवेदनाओं को दूसरों के सामने शब्दों के माध्यम से उपस्थित करता है अर्थात शब्द प्रतीक या संकेत हैं जिनसे श्रोता या पाठक वाच्यार्थ को समझता है। इन प्रतीकों का विधाता वक्ता या कवि होता है जो मानस-चित्रों और अनुभूतियों का प्रतिनिधित्व करने वाले शब्दों का प्रयोग करता है। अतः किसी प्रकार की भी उक्ति शब्द-चित्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। शब्द सिक्कों की तरह हैं जिन्हें कवि अपने मन में वस्तु-चित्रों के मूल्य की समता में ढालता और समाज में उसे चलाता है। कल्पना-शक्ति से कवि चित्रों का चयन और मिश्रण करता और उनके लिए उपयुक्त शब्द-चित्रों या प्रतीकों को दिमाग के कारखाने में अर्थ-साम्य, ध्वनि-साम्य, या रूप-साम्य के आधार पर ढालता रहता है। कवि की कल्पना-शक्ति जितनी ही तीव्र होती है उतने ही अधिक शब्द उसके अनुगामी होते हैं। ऐसे कवि के सम्मुख चित्रों और भावों के प्रतीक अनेकानेक शब्द सहसा उपस्थित हो जाते हैं और तब उसे उनमें से उपयुक्त शब्द का चुनाव करना पड़ता है। उन चित्रों की शृंखला में रूप-ध्वनि-गुण के साम्य से अनेक ऐसे शब्द आते हैं जिनको कवि उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकारों के रूप में व्यवहृत करता है। इस तरह अलंकार-गुण आदि भी कल्पना के व्यापार-क्षेत्र के भीतर आ जाते हैं। इन सब में कवि की कल्पना बच्चों की कल्पना की तरह विश्वास आरोपित करने (Make believe) का कार्य करती है। सारा जगत कवि के लिये जैसे खिलौनों का बक्स बन जाता है और वह इच्छानुसार चुनाव करके उनका शब्द-चित्र उपस्थित करता है। इसी कारण अतिशय कल्पनावादी कवि शब्दों के साथ खेल करते हुये दिखलाई पड़ते हैं। वे अलंकारवादी, रूपवादी, वक्रोक्तिवादी या चित्रवादी के रूप में कल्पना-शक्ति का उपयोग करते हैं।

कल्पना और शब्द

किन्तु जो कवि सामञ्जस्यवादी होते हैं वे कल्पना का उपयोग अनुभूतियों और उनके लिये उपयुक्त शब्दों के चुनाव में ही करते हैं। इसलिये उनकी कविता में भावुकतापूर्ण विस्तार नहीं, संश्लिष्ट सानुरूपता (Precision) दिखलाई पड़ती है। उनमें अनुबन्ध की प्रवृत्ति तो होती है किन्तु भावना और

स्वप्न और कविता

बुद्धि के सामञ्जस्य के कारण स्वतंत्र अनुबन्ध (Free association) नहीं होता। यदि बौद्धिकता की दृष्टि से देखा जाय तो आधुनिक कविता अबौद्धिक ही अधिक है क्योंकि उसमें कल्पना का योग अधिक है। उसकी तुलना स्वप्न से की जा सकती है। स्वप्न में भी जो चित्र मस्तिष्क में आते हैं वे बौद्धिक नियमों से शासित नहीं होते, उनमें प्रयासजन्य संकल्प-विकल्प अथवा भाव-प्रभाव नहीं दिखलाई पड़ते। स्वप्न का अनुबन्ध बहुधा स्वतंत्र होता है। आधुनिकतम कविता (प्रयोगवाद) में स्वप्न के स्वतंत्र अनुबन्ध-सिद्धान्त को विशेष रूप से स्वीकार किया गया है क्योंकि उसमें भी स्वप्न की तरह अबौद्धिक कल्पना की अधिकता होती है। जिस तरह स्वप्न में सदैव स्वप्नद्रष्टा का व्यक्तित्व ही प्रधान रहता है उसी तरह आधुनिक व्यक्तिवादी कविता में कवि का व्यक्तिगत जीवन सदैव उभर कर आता है। छायावादी कविता में अबौद्धिकता तो स्वप्न की तरह ही है किन्तु उसके चित्रों का अनुबन्ध स्वप्न अथवा प्रयोगवादी कविता की तरह स्वतंत्र नहीं है। उसकी भावनायें और संवेदनायें सामाजिक अहं द्वारा नियंत्रित और उसके अनुबन्ध व्यक्तिगत होते हुए भी सामाजिक हैं। कल्पना की अतिशयता के कारण ही छायावादी कविता सामाजिक होते हुये भी असामाजिक है, जगत से सम्बद्ध होते हुये भी उसकी एक अलग ही दुनिया है और छायावादी कवि यथार्थद्रष्टा होते हुए भी स्वप्नद्रष्टा हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अनुभूति, बुद्धि और कल्पना के योग से ही काव्य में सौन्दर्य और औचित्य का सम्यक विधान हो सकता है। कल्पना का कार्य विरोधी तत्वों या गुणों का सामञ्जस्य और संतुलन उपस्थित करना है। वह पुरानी और परिचित वस्तुओं के प्रति नवीन और जीवन्त रागात्मकता उत्पन्न करती, अत्यधिक भावुकता और अत्यधिक मर्यादा का समन्वय करती तथा नित्य जाग्रत विकल्पबुद्धि को तीव्र और गम्भीर संवेदनाओं से संयुक्त करती है। वह अनेकानेक विचारों, भावों, चित्रों और संवेदनाओं में से चुनाव करके उन्हें ऐसे ढंग से उपस्थित करती है कि उनका रूप परिवर्तित हो जाता है और वे मिलकर एक स्वतंत्र विचार या भाव के रूप में समन्वित प्रभाव डालती हैं। कल्पना की यही सबसे बड़ी देन है। छायावादी कविता में कल्पना का उपयोग इस रूप में बहुत अधिक नहीं हुआ है। उसमें या तो भावुकतापूर्ण कल्पना की अतिशयता है जिससे कविता का समन्वित प्रभाव नहीं पड़ता अथवा वह अत्यधिक विचार-भार से बोझिल और दूरारूढ़ कल्पनाओं से आक्रान्त हो गई है जिसके कारण भी उसमें प्रेषणीयता की कमी दिखलाई पड़ती है। बाद की छायावादी कविता में सामञ्जस्यपूर्ण कल्पना का दर्शन अपेक्षाकृत अधिक होता है।

इस विश्लेषण का उद्देश्य यही स्पष्ट करना था कि कवि अपनी भावनाओं, धारणाओं और मानसिक चित्रों की अभिव्यक्ति काव्य में किस प्रकार करता है। हमने देखा कि कवि किस प्रकार अपनी सहजात वृत्तियों का अपने बाह्य परिवेश के साथ सम्पर्क स्थापित करता और अपनी अनुभूतियों को तदनुरूप शैली में व्यक्त करता है। कल्पना इस कार्य में विविध रूपों में सहायता करती है। इस प्रकार प्रत्येक कवि और प्रत्येक युग की काव्य-शैली में भिन्नता होती है। भाव, भाषा, छन्द, लय, शब्द-चयन आदि में तथा अनुभूतियों के चुनाव और मिश्रण में कल्पना के योग के अनुपात से विभिन्न कवियों और विभिन्न युगों की कविता में समानता और असमानता दोनों ही दिखलाई पड़ती है। इसीको काव्य-परम्परा का ग्रहण अथवा त्याग भी कहा जाता है। व्यक्तियों के शरीर और परिवेश सम्बन्धी भिन्नता के कारण एक ही युग के विभिन्न कवियों की शैली में तो भिन्नता दिखलाई ही पड़ती है, सांस्कृतिक परिवेश सम्बन्धी परिवर्तनों के कारण विभिन्न युगों की काव्य-शैली में भी अन्तर पड़ जाया करता है। उपर्युक्त विश्लेषण के प्रकाश में अगले पृष्ठों में हम छायावाद-युग की काव्य-शैली के विविध तत्वों के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

काव्य के रूप

मनुष्य जाति के विकास के साथ ही कविता का विकास भी हुआ। प्रारम्भिक मानव-समाज में पहले साहित्य के इसी अंग का प्रारम्भ हुआ। उस समय ज्ञान-विज्ञान की सभी बातों की सामाजिक अभिव्यक्ति का साधन भी कविता ही थी। इसीलिये संसार के सभी देशों के प्राचीन साहित्य में इतिहास, धर्म, दर्शन, ज्योतिष, जादू-टोना, अर्थशास्त्र, काव्यशास्त्र, चिकित्साशास्त्र आदि की रचना छन्दोबद्ध रूप में ही हुई। यूनान, स्कैन्डेनेविया, रोम, भारत, चीन, जापान, मिश्र, ईरान आदि देशों का प्राचीन साहित्य इसका प्रमाण है। इसका कारण यह है कि कविता जीवन के अन्य क्षेत्रों से अलग रहकर अपने विशुद्ध रूप में न कभी रही है, न रह सकती है। वस्तुतः कविता साधारण भाषा का ही उत्कृष्ट या विशिष्ट (Heightened) रूप है। यह विशिष्टता कविता के छन्द, तुक, लय, गति, यति, मात्रा, अलंकार आदि रूप-विधान सम्बन्धी आवश्यकताओं के कारण उत्पन्न होती है। ये आवश्यकतायें काव्य-भाषा को साधारण भाषा से भिन्न कर देती हैं जिससे उसमें जादू का सा रहस्यपूर्ण असर आ जाता है। इसी कारण प्राचीन साहित्यों में ज्ञान-विज्ञान की बातें भी काव्य के रूप-विधान द्वारा ही व्यक्त की गईं, ताकि समाज पर उनका सीधा असर हो और वे समाज की स्मृति में बहुत दिनों तक सुरक्षित रह सकें। श्रम-विभाजन के आधार पर समाज का ज्यों-ज्यों विकास होने लगा, त्यों-त्यों शास्त्र और काव्य अलग-अलग रूपों में व्यक्त किये जाने लगे और वर्गों और वर्णों के विकास के साथ समाज के व्यक्ति अलग-अलग विषयों में विशेषज्ञ होने लगे, जिससे ज्ञान-विज्ञान के भीतर की भिन्न-भिन्न शाखाओं का विकास होने लगा। उसी तरह काव्य अथवा साहित्य के भीतर भी नाटक, कविता, आख्यायिका, काव्यशास्त्र आदि रूपों का विकास हुआ। यही नहीं, इनमें से भी प्रत्येक के भीतर अनेक शाखा-उपशाखायें निकल पड़ीं। इससे यह स्पष्ट है कि जब समाज के आर्थिक आधार में परिवर्तन होता है तो उसका सांस्कृतिक परिवेश भी बदलता है और ज्ञान-विज्ञान तथा साहित्य के विविध रूपों में भी परिवर्तन और विकास होता है।

भारतवर्ष में सामन्त युग में, जब समाज पर सामन्ती नियंत्रण अधिक था

और वर्गों का विभाजन अधिक नहीं हुआ था, साहित्य के रूपों में विविधता आज जैसी नहीं थी। काव्य शब्द ही साहित्य का द्योतक था और गद्य अथवा पद्य दोनों ही में काव्य-रचना होती रही। ह्रासशील सामन्ती सामाज में काव्य के रूपों का विकास और वृद्धि रुक गई। हिन्दी साहित्य में १८ वीं शताब्दी तक केवल पद्य-साहित्य की रचना होती रही और उसमें भी रीतिकाल में अधिंक-तर रीतिबद्ध काव्य की ही रचना हुई। ब्रिटिश राज्य कायम होने के बाद ब्रिटिश पूँजीवादी संस्कृति के सम्पर्क और भारतीय पूँजीवाद के विकास के कारण हिन्दी में भी नाटक, उपन्यास, निबन्ध, कहानी, आलोचना आदि गद्य-साहित्य के विविध रूपों का विकास हुआ। उसी तरह कविता भी केवल प्रबन्ध या मुक्तक रूप में नहीं रह सकी। संक्रान्ति-युग में यद्यपि गीत और प्रगीत मुक्तक का प्रारम्भ हो गया, किन्तु प्रबन्ध-काव्य की तरफ कवियों का ध्यान नहीं गया। बीसवीं शताब्दी में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने मुक्तक काव्य के साथ-साथ प्रबन्धकाव्य लिखने के लिये भी कवियों को प्रोत्साहित किया। इस युग में अंग्रेजी के ढंग के प्रगीत मुक्तक लिखने की प्रवृत्ति अधिक बढ़ी और गीत-काव्यों का भी समुचित विकास हुआ। इस प्रकार छायावाद-युग तक पहुँचते-पहुँचते हिन्दी कविता में अनेक रूपों का विकास हो गया।

इस युग में निम्नलिखित काव्य-रूपों की प्रधानता है:—प्रबन्ध काव्य, प्रगीत मुक्तक (ode ,, मुक्तक, मुक्तक-प्रबन्ध, गीति-काव्य, गीति-प्रबन्ध, गीति-नाट्य (Opera) प्रलम्ब मुक्तक (Long verse)। इन सब में भी प्रगीत मुक्तक और गीत-काव्य का ही प्रचलन सबसे अधिक हुआ। वस्तुतः छायावाद-युग प्रगीतों का युग है। प्रथम महायुद्ध के घोर अंधकार के बाद जो रक्तरंजित धूमिल प्रभात हुआ, उसमें विश्व अत्यन्त विशृंखलित और खंडित दिखलाई पड़ा। संसार के सभी देशों में कवियों को उस विषमता और विशृंखलता के बीच कोई अखंडता नहीं दिखलाई पड़ी। अतः तत्कालीन परिस्थिति-जन्य असन्तोष और रोष-क्षोभ की व्यञ्जना छोटे-छोटे प्रगीत मुक्तकों के रूप में ही हो सकती थी। निराशा, उल्लास, शोक आदि अत्यन्त तीव्र मनोवेगों की अभिव्यक्ति के लिये प्रगीत मुक्तकों का रूप ही सबसे उपयुक्त होता है। छाया-वादी कवियों की भी यही स्थिति थी। किन्तु यह युग ऐसे काव्य की माँग कर रहा था जो विषमता और विशृंखलता के बीच शृंखला और एकत्व लाने का मार्ग प्रशस्त करता। ऐसा काव्य महाकाव्य ही हो सकता था। वस्तुतः महाकाव्य के द्वारा ही जीवन का समग्र और अखण्ड चित्र उपस्थित किया जा सकता है। खण्ड काव्यों द्वारा सामाजिक जीवन का चित्र तो उपस्थित होता है किन्तु वह

खण्डचित्र ही होता है। अतः छायावादी कवियों ने प्रगीत मुक्तक के साथ-साथ खण्डकाव्य और महाकाव्य की भी रचना की; यद्यपि उनकी संख्या अधिक नहीं है।

खण्डकाव्य और महाकाव्य

पुनरुत्थान-युग में प्रबन्ध काव्यों की जितनी रचना हुई उतनी छायावाद युग में इसलिये नहीं हुई कि छायावादी कवि व्यक्तिवादी अधिक थे और प्रबन्ध-काव्यों में सामाजिक और आदर्शवादी दृष्टिकोण ही उपस्थित किया जा सकता था। अतः महायुद्ध के बाद व्यक्तिवाद का ज्यों-ज्यों प्राधान्य होता गया, प्रबन्धकाव्यों की रचना कम होती गई। पुनरुत्थान-युग में श्रीधर पाठक और महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अंग्रेजी और संस्कृत प्रबन्धकाव्यों का अनुवाद करके कवियों को इस ओर बढ़ने के लिये रास्ता दिखलाया था। तदुपरान्त मैथिलीशरण गुप्त ने 'रंग में भंग,' 'जयद्रथवध,' आदि, जयशंकरप्रसाद ने 'प्रेमपथिक,' 'महाराणा का महत्व,' सियारामशरण गुप्त ने 'मौर्य-विजय', हरिऔध ने 'प्रिय-प्रवास', रामनरेश त्रिपाठी ने 'पथिक' और रामचरित उपाध्याय ने 'रामचरित चिन्तामणि' नामक प्रबन्धकाव्यों की रचना की। छायावाद-युग में मैथिलीशरण गुप्त, सियुराम-शरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, अनूपशर्मा आदि कवि तो प्रबन्धकाव्य की रचना करते रहे किन्तु विशुद्ध छायावादी कवियों में प्रसाद और निराला को छोड़कर और किसी कवि ने प्रबन्धकाव्य की ओर ध्यान नहीं दिया। स्वयं प्रसाद जी ने पहले 'प्रेमपथिक' और 'महाराणा का महत्व' जैसे आदर्शवादी प्रबन्धकाव्यों की रचना की थी। किन्तु इस युग में बहुत दिनों तक वे इस ओर नहीं झुके। जो प्रबन्धकाव्य इस युग में लिखे भी गये उनमें प्राचीन परिपाटी को छोड़कर बहुत कुछ स्वच्छन्द नियमों को अपनाया गया। रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक,' 'मिलन' और 'स्वप्न,' गुरुभक्त सिंह की 'नूरजहाँ', मैथिलीशरण का 'साकेत,' जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' इस प्रकार की स्वच्छन्द प्रवृत्ति प्रदर्शित करने वाले प्रमुख प्रबन्धकाव्य हैं। पुरोहित प्रताप नारायण का 'नलनरेश', अनूपशर्मा का 'सिद्धार्थ,' श्यामनारायण पाण्डेय का 'हल्दीघाटी' आदि ऐसे प्रबन्धकाव्य हैं, जिनमें प्राचीन परिपाटी को अपना कर चलने की कोशिश की गई है। उनमें उन प्रश्नों पर विचार और उनका उत्तर नहीं प्रस्तुत किया गया है जो तत्कालीन युग-जीवन को आन्दोलित कर रहे थे। साथ ही उनमें जीवन की अखण्डता और उच्चता के आदर्शों का चित्रण और आधुनिक जीवन के मेल में आनेवाले मार्मिक तथ्यों का उद्घाटन भी नहीं किया गया है। मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत' ही ऐसा महाकाव्य है जिसने 'प्रिय-प्रवास' के बाद व्यापक प्रभाव क्षेत्र तैयार किया।

इसमें कुछ ऐसी बातें थीं जिनका सम्बन्ध युग के प्रश्नों के साथ था। रामनरेश त्रिपाठी के खण्डकाव्यों की भी यही विशेषता थी। उनमें भी स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण और राष्ट्रीय भावना का सुन्दर सामञ्जस्य दिखलाई पड़ता है।

छायावादी प्रबन्धकाव्यों की प्रधान विशेषता यह है कि उनमें भारतीय साहित्यशास्त्र द्वारा निर्धारित प्रबन्धकाव्य सम्बन्धी नियमों की उपेक्षा की गई है। ख्यातवृत्त की जगह इस युग के कुछ कवियों ने कल्पित वृत्तों का भी उपयोग किया है और देवता, क्षत्रिय और ब्राह्मण नायकों की जगह साधारण मध्यवर्गीय व्यक्ति को भी नायक-नायिका की जगह प्रतिष्ठित किया है। माइकेल मधुसूदनदत्त ने 'मेघनाद-वध' द्वारा यह मार्ग प्रशस्त कर दिया था। अतः साहित्य और इतिहास के उपेक्षित व्यक्तियों और वर्गों की ओर भी इस युग के कवियों का ध्यान गया। इसी दृष्टि से मैथिलीशरण गुप्त ने 'पंचवटी', 'गुरुकुल', 'यशोधरा', 'साकेत', 'द्वापर' आदि प्रबन्धकाव्योंकी रचना की। इन प्रबन्धकाव्यों की दूसरी विशेषता यह है कि इनमें कवियों की व्यक्तिवादी प्रवृत्ति अधिक दिखलाई पड़ती है। वे सामन्ती समाज व्यवस्था तथा धार्मिक रूढ़ियों को मानने के लिए तैयार नहीं हैं। अतः उन्होंने अपने काव्यों में धर्मनिरपेक्षता (Secularism) और मानववाद (Humanism) की प्रवृत्ति अधिक दिखलाई है। उन्होंने देवी-देवताओं और अवतारों के बारे में मंगलाचरण नहीं लिखे। उन्होंने ईश्वर को मानव रूप में चित्रित किया अथवा मानव को ही ईश्वरत्व प्रदान किया है और क्षुद्र, पापी तथा अपराधी व्यक्तियों में भी मानवता के छिपे हुए गुणों को ढूँढ़ने का प्रयत्न किया है। व्यक्तिवादी होने के कारण कवियों की प्रवृत्ति आत्म-व्यंजक थी, इसलिये प्रबन्धकाव्यों में भी इन कवियों ने प्रगीतमुक्तकों की शैली अपनाई। 'साकेत' का नवम सर्ग तथा 'यशोधरा', 'कुणाल' आदि इसके उदाहरण हैं।

महाकाव्य की रचना का उद्देश्य प्रधानतया जातीय संस्कृति की धारावाहिक परम्परा अथवा उस धारा के उद्गम, मोड़ और संगम का चित्रण करना होता है। साथ ही उसमें किसी महान चरित्र के उत्कर्ष और जीवन की अखण्ड सत्ता का रहस्य भी उद्घाटित किया जाता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो महाकाव्य रामायण और महाभारत को छोड़ कर और कोई नहीं है। अन्य जितने भी महाकाव्य लिखे गये हैं उनके उद्गम उपर्युक्त दोनों ग्रन्थ ही हैं। किसी युग के समग्र और समन्वित स्वरूप का चित्र उपस्थित करने वाला काव्य ही महाकाव्य कहा जा सकता है। इस कसौटी पर छायावाद युग का केवल एक ही महाकाव्य (कामायनी) खरा उतरता है। 'साकेत' की रचना का उद्देश्य यह था कि अन्य

रामाख्यानक काव्यों के उपेक्षित प्रसंगों और पात्रों को चित्रित किया जाय। इसलिये 'साकेत' में कवि की वृत्ति तपस्वी भरत, विरहिणी उर्मिला, तापसी माण्डवी दुःखिनी कैकेयी और मौन सेवक लक्ष्मण, सभी के चरित्रों के उद्घाटन में रमी है। ऐसा करने से महाकाव्य की प्रभावान्विति में भले ही कमी आ गयी हो किन्तु उसमें मानवीयता का आदर्श अवश्य प्रतिष्ठित हो सका है। अधिक मानवीयता लाने के लोभ के कारण 'साकेत' के कुछ पात्रों के चरित्र में अति साधारणत्व दोष भी आ गया है। व्यापार-योजना में भी इस प्रवृत्ति के कारण बहुत अधिक बाधा पड़ी है। इसके विपरीत कामायनी महाकाव्य सभ्यता के आदिमयुग का काल्पनिक किन्तु पूर्ण चित्र उपस्थित करता है। उसमें साकेत की अपेक्षा अधिक आधुनिकता दिखलाई पड़ती है क्योंकि उसमें कवि ने नवीन वैज्ञानिक तथ्यों का भी यथेष्ट उपयोग किया है। वस्तुतः 'कामायनी' मानव-सभ्यता और मानव-जीवन के विकास की मनोवैज्ञानिक कहानी है। सभ्यता और संस्कृति के बाह्य आवरणों के भीतर से मनुष्य का जीवन जिस तरह प्रवाहित होता रहता है, इसका उद्घाटन इस काव्य में वैज्ञानिक दृष्टि से किया गया है। इसीलिये इसमें सर्गों के जो शीर्षक दिये गये हैं वे प्रायः मनोवृत्तियों के प्रतीक हैं। ये मनोविकार मनुष्य को किस प्रकार कर्म में प्रवृत्त अथवा उससे विरत करते हैं और अन्त में मनुष्य जीवन के परमतत्व की प्राप्ति किस प्रकार करता है, इसी मौलिक और गहन समस्या की काव्यात्मक अभिव्यक्ति 'कामायनी' में हुई है। कवि ने महान चिन्तक तथा जीवन-द्रष्टा के रूप में आनन्दवाद और समरसता को ही जगत और जीवन की उलझनों से मुक्ति पाने का मार्ग बताया है। इस प्रकार 'कामायनी' एक प्रतिनिधि छायावादी महाकाव्य है जिसमें मध्यवर्गीय व्यक्तिवादी और विद्रोही दृष्टिकोण को उपस्थित किया गया है। किन्तु महाकाव्य के अन्त में जो निराशा, निर्वेद और वैराग्यपूर्ण आनन्द का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है वह पूँजीवाद की ह्रासशील अवस्था में मध्यवर्ग के मानसिक भ्रम का द्योतक है। मनु उस पूँजीवादी निरंकुश प्रवृत्ति का प्रतीक है जो जीवन-संघर्ष में पराजित होकर रहस्य के क्षेत्र में पलायन करने के लिये मनुष्य को विवश करती है। बहुजन-समाज के हितों को दृष्टि में रखकर कार्य करने वाला व्यक्ति सामान्य जनता का विरोधी नहीं हो सकता और न वह कर्मक्षेत्र को छोड़ कर आध्यात्मिक क्षेत्र में ही पलायन करता है। मनु ने ऐसा ही किया और श्रद्धा ने उसे आनन्दलोक का दर्शन कराया जिसका अर्थ यह है कि कवि सिद्धान्त रूप से इच्छा-ज्ञान-क्रिया के समन्वय को आवश्यक मानते हुए भी व्यवहारतः कर्मक्षेत्र से पलायन करके भ्रमपूर्ण, अतीन्द्रिय और अलौकिक आनन्द की प्राप्ति को ही साध्य मानता है।

'कामायनी' में अत्यधिक आत्मव्यंजकता (Subjectivity) होने के कारण कथा-प्रवाह में जगह-जगह अवरोध उपस्थित हो जाता है। सूक्ष्म मनोवृत्तियों और उनकी क्रियाओं के मनोवैज्ञानिक विवेचन के कारण उसमें दुरूहता और अस्पष्टता का दोष दिखलाई पड़ता है। उसमें प्रबन्धत्व, व्यापारयोजना के रूप में नहीं, भावयोजना के रूप में अधिक दिखलाई पड़ता है। फिर भी उसे महाकाव्य मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि उसमें मानव-जीवन का सूक्ष्म किन्तु अखण्ड चित्र दिखलाई पड़ता है और साथ ही कवि उसमें अपना जीवन-सन्देश भी युग की समस्याओं के समाधान के रूप में उपस्थित करता है। जो आलोचक 'कामायनी' को तृतीय श्रेणी का महाकाव्य कहते हैं उन्हें महाकाव्य के मूल तत्वों का फिर से पता लगाने और अपने जीवन-मूल्यों को नये सिरे से निर्धारित करने का प्रयत्न करना चाहिये।

कहा जा चुका है कि छायावादी कविता में प्रगीत मुक्तकों, गीतों और गीत-प्रबन्धों का प्राधान्य है। ये सब गीत-काव्य के ही विविध रूप हैं। इनमें से गीत की शैली भारत के लिये नवीन नहीं है। वैदिक काल से लेकर आज तक भारतीय कवि भावमय संगीत में ही अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति बराबर करते आये हैं। काव्य के साथ संगीत का योग अत्यन्त प्राचीन काल में ही हो गया था। काव्य के इस संगीतात्मक तत्व (लय) के बारे में आगे विशेष रूप से विचार किया जायगा। यहाँ गीत-काव्य की अन्य विशेषताओं और रूपों के सम्बन्ध में विचार किया जायगा। हिन्दी कविता में विद्यापति, कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, घनानन्द, भारतेन्दु आदि ने पहले ही से गीत-शैली का पथ प्रशस्त कर दिया था। छायावादी कवियों को अपना पथ निर्धारित करने में उनसे बहुत सहायता मिली। किन्तु जिस तरह की प्रगीत-शैली इस युग में अपनाई गई वह पाश्चात्य शैली से अधिक मिलती-जुलती है, यद्यपि उस पर भारतीय गीत-शैली का भी प्रभाव कम नहीं है।

गीत-काव्य

प्राचीन यूनानियों ने कविता को तीन भागों में बाँटा था; प्रगीत मुक्तक (Lyric), महाकाव्य (Epic) और रूपक-काव्य या काव्य-नाटक (Dramatic poetry) प्रगीत मुक्तक से उनका तात्पर्य उस कविता से था जो संगीत में गाई जा सकती थी। महाकाव्य वह रूप था जिसमें कथा-प्रबन्ध होता था। नाटक वह रूप था जिसका अभिनय किया जा सकता था। इसका विश्लेषण मनोवैज्ञानिक ढंग से इस तरह किया जा सकता है कि प्रगीत मुक्तक में कवि का 'स्व' पूर्ण रूप से उद्घाटित हो सकता है। प्रगीत मुक्तक आत्मव्यंजक होता है। महाकाव्य में प्रबन्धकत्व होने के कारण कवि की व्यक्तिगत अनुभूतियों का चित्रण नहीं होता,

यद्यपि उसके व्यक्तित्व और विचारधारा की अभिव्यक्ति बहुत कुछ हो जाती है। वह कवि की वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक दोनों ही प्रकार की अभिव्यक्ति है; अतः वह आत्मव्यंजक और वस्तुव्यंजक दोनों है। नाटक में कवि कहीं भी खुल कर सामने नहीं आता, पर उसका व्यक्तित्व प्रत्येक पात्र के भीतर छिपा रहता है। प्रत्येक पात्र की उक्ति उसी की उक्ति होकर भी उसकी नहीं होती। इस दृष्टि से नाटक और गीत परस्पर विपरीत काव्य हैं, नाटक बिलकुल निर्वैयक्तिक है और प्रगीत बिलकुल वैयक्तिक। प्रगीतों में कवि की दृष्टि उसके परिवेश और मानसिक वृत्ति (Mood) से सदैव सम्बद्ध रहती है। इस दृष्टि से प्रबन्ध-काव्यों के अतिरिक्त सभी प्रकार की कवितायें प्रगीत की श्रेणी में आ सकती हैं। भारतीय साहित्य-शास्त्र में श्रव्यकाव्य को दो ही भागों में बाँटा गया; प्रबन्धकाव्य और मुक्तक काव्य। मुक्तक काव्य के भीतर ही गेय काव्य या गीत को भी अन्तर्भुक्त कर लिया गया था। किन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो प्रगीत मुक्तक और गीत-काव्य, मुक्तक काव्य से उतने ही दूर हैं जितने प्रबन्धकाव्य से। प्रबन्धकाव्य कथा के वस्तु-व्यापार और चरित्र-चित्रण में इतना उलझ जाता है कि कवि की वैयक्तिकता वहाँ गौण हो जाती है। यही बात मुक्तककाव्य में भी होती है। उसमें कवि की दृष्टि, वस्तुगत होने से, किसी तथ्य के उद्घाटन में प्रवृत्त होती है अथवा कवि अपनी भावनाओं को काव्य के पात्रों में आरोपित कर देता है। मुक्तककाव्य छन्द के नियमों से इतना आक्रान्त रहता है कि संगीत की सहज निरंकुशता और लचीलापन उसे सह्य नहीं होता। नीतिपरक स्तोत्र-काव्य, छन्दोबद्ध वर्णन और इतिवृत्तियाँ मुक्तककाव्य के भीतर आती हैं जो सर्वथा निर्वैयक्तिक भावनाओं-विचारों की अभिव्यक्ति करती हैं। इसके विपरीत गीति काव्य समन्वित और वैयक्तिक अनुभूतियों को अभिव्यक्त करता है जिससे उसमें गेय तत्व की प्रधानता होती है।

सामूहिक गीत और गाथा-गीत

यूनानियों ने संगीत की दृष्टि से भी कविता को दो भागों में बाँटा था; गीत-काव्य और समवेत-काव्य (Choric)। दोनों ही गेय होते थे पर गीत-काव्य को एक ही गायक लायर (lyre) नामक वाद्य के साथ गाता था और समवेत काव्य को बहुत से लोग मिलकर साज के साथ गाते थे। हमारे देश में लोक-गीतों में आज भी ये दो प्रकार के गीत देखे जाते हैं। बिरहा, कजरी, होली आदि गीत सामूहिक काव्य हैं और भरथरी का गीत जिसे योगी सारंगी पर गाते हैं, गीत-काव्य है। कुछ गीत ऐसे भी होते हैं जो कथा-प्रधान होते हैं और एक ही व्यक्ति कई दिनों तक उन्हें गा कर सुनाता रहता है। उन्हें गाथा-गीत (Ballad)

कहा जाता है और वे प्रबन्धकाव्यों के प्रारम्भिक रूप हैं। उनमें प्रबन्धत्व होने के साथ ही संगीतात्मकता और कवि की वैयक्तिकता भी दिखलाई पड़ती है। अतः उन्हें भी गीत-काव्य की श्रेणी में रखा जा सकता है। इनमें गीत-काव्य और प्रबन्धकाव्य दोनों के तत्वों का मिश्रण रहता है। कालिदास के मेघदूत, पंत की 'ग्रन्थि', मैथिलीशरण गुप्त के 'द्वापर' गाथा-गीत की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। इस प्रकार गीत-काव्य लक्ष्य और साधन दोनों ही दृष्टियों से समवेत-गीत और गाथा-गीत से बहुत कुछ भिन्न होता है। छायावादी कविता में गीत-काव्य के दो प्रधानरूप प्रचलित दिखलाई पड़ते हैं; प्रगीत मुक्तक (Ode) और गीत (Song)। इनमें से गीतशैली भारतीय पद्धति पर और प्रगीत मुक्तक की शैली पाश्चात्य पद्धति के आधार पर विकसित हुई है।

प्रगीत मुक्तक और गीत

प्रगीत मुक्तक और गीत-काव्य के प्रारम्भिक रूप लोक-गीतों में दिखलाई पड़ते हैं जो, चाहे वे अकेले-अकेले गाये जायँ या समवेत रूप से, वैयक्तिक भावनाओं और मनोविकारों का आधार ग्रहण करके व्यक्तिगत हास-अश्रु, आह्लाद-अवसाद की अभिव्यक्ति करते हैं। साहित्य की सीमा में आकर भी ये गीत गेय बने रहे। प्रारम्भ में गीतों में संगीत-तत्व की प्रधानता अधिक थी और काव्य-तत्व की कम। फलस्वरूप उनमें नाद-योजना के सौन्दर्य पर ही अधिक ध्यान दिया गया, अर्थ-योजना पर उतना नहीं। जब संगीत काव्य से अलग हुआ तो गीत अपने स्वतंत्र रूप में सामने आये। उनमें स्वर के विस्तार और संकोच का मोह, जो संगीत में होता है, कम हो गया और साथ ही स्वर-लय-ताल का आग्रह भी कम हो गया। वे स्वर और अर्थ के सामञ्जस्य से उत्पन्न होने के कारण काव्यात्मक और संगीतात्मक दोनों ही थे। भक्तिकालीन कवियों की पद-शैली की यही विशेषता है कि वे संगीत के नियमों से नियंत्रित होते हुये भी भावाभिव्यंजक, आत्मगत और रससिक्त हैं। छायावाद-युग में गीत-काव्य की शैली बदली। इस काल में काव्य और संगीतशास्त्र का बहुत कुछ विच्छेद हो गया और गीत-काव्य संगीतशास्त्र के नियमों से बिलकुल स्वतंत्र हो गया। इसका यह अर्थ नहीं कि छायावादी गीतों में संगीतात्मकता का अभाव है। गीतकाव्य ही क्या, प्रत्येक छन्दोबद्ध-रचना में संगीततत्व स्वतः समाविष्ट हो जाता है। इस युग में संगीततत्व भावनाओं का अनुचर बनकर गीतकाव्य में अभिव्यक्त हुआ। जिस तरह संगीत में शब्दों में अभिव्यक्त भावनायें गौण और नाद-व्यंग्य भावनायें प्रधान रहती हैं उसी तरह गीतकाव्य में भी आत्मगत भावनाओं की तदनुरूप शब्दो में अभिव्यक्ति की जाती है जो संगीत विधान में

बाधक भी हो सकते हैं। उनमें संगीत भले ही न हो, नाद-योजना आवश्यक होती है। इसलिये गीत-काव्य संगीतशास्त्र के अनुसार गेय भले ही न हो, पर गेय अवश्य होता है। उसके अर्थ में वैशिष्ट्य तभी आ सकता है जब कि उसका सस्वर पाठ किया जाय; चाहे मुख से उच्चारण करके अथवा मन में ही। जिस तरह दृश्यकाव्य का पाठ करने पर पात्र कल्पना में अभिनय करते हुये दिखलाई पड़ते हैं उसी तरह गीत-काव्य बिना उच्चारण किये मन ही मन गाया जा सकता है। इसका कारण यह है कि शब्द की तरह अर्थ में भी एक संगीत होता है जो हृदय के रागात्मक तत्व के योग से उद्भूत होता है। संगीत में स्वरालाप द्वारा जिन रागात्मक तत्वों को जाग्रत किया जाता है, गीत-काव्य में भी आत्मनिष्ठ भावनाओं की मार्मिक अभिव्यक्ति द्वारा समन्वित प्रभाव उत्पन्न करके उन्हीं रागात्मक तत्वों को उद्बुद्ध किया जाता है। अतः गीत-काव्य अन्य काव्य-रूपों से अधिक प्रभावोत्पादक और क्रियाशीलता उत्पन्न करने वाला होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि गीत-काव्य को परोक्ष या प्रत्यक्षरूप से संगीत की अपेक्षा रहती है। किन्तु प्रगीत मुक्तकों में गेयता का कोई बन्धन नहीं रहता। गीत में संगीत के आग्रह के कारण प्रगीत मुक्तक से कुछ भिन्नता रहती है पर भावपक्ष में दोनों में कोई भेद नहीं होता। संगीत में और गीत-काव्य (प्रगीत मुक्तक और गीत) में स्वर या अर्थ की मात्रा के अनुपात के अनुसार भिन्नता आ जाती है। जब शब्द लय से अधिक अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं और संगीत भावनाओं को जाग्रत करता है और इस प्रकार दोनों ही मिलकर एक ही विषय-वस्तु को पुष्ट करते हैं तब गीत की सृष्टि होती है और जब शब्द मात्र संगीतात्मक तान का वाहक होता है तो कविता मात्र संगीत बनकर रह जाती है क्योंकि संगीत में सार्थक विचार उत्पन्न करना लक्ष्य नहीं होता।

संगीत-तत्व के मात्रा-भेद के कारण ही गीत और प्रगीत मुक्तक में रूपविधान सम्बन्धी भेद उत्पन्न हो गया है। गीत में प्रथम पंक्ति संगीत के बोल या टेक के रूप में उपस्थित की जाती है और बाद वाले पदों में अन्तरा की तरह कुछ पंक्तियों का उपयोग करके फिर एक पंक्ति ऐसी रखी जाती है जिसका प्रथम पंक्ति के बोल के साथ स्वरैक्य होता है। भक्तिकालीन कविता में प्रथम पंक्ति को बार-बार दुहराने की पद्धति प्रचलित थी और प्रत्येक पंक्ति का पहिली पंक्ति के साथ अन्त्यानुप्रास होता था। छायावादी गीतों में प्रथम पंक्ति का बाद के अन्तरावाले पदों के साथ अन्त्यानुप्रास हो भी सकता है और नहीं भी होता है। उदाहरण के लिए मीरा का यह पद लीजिये :—

हेरी मैं तो प्रेम दिवाणी मेरा दर्द न जाणे कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी किस विधि सोवण होय,
गगन-मंडल पै सेज पिया की किस विधि मिलणा होय।
घायल की गति घायल जाणे की जिण लाई होय,
जौहरी की गति जौहरी जाणे की जिण जौहर होय।
दर्द की मारी बन-बन डोलूँ वैद मिल्या नहीं कोय,
मीरा की प्रभु पीर मिटैगी जब बैद सँवलिया होय।

इस पद में सभी पंक्तियाँ समतुकान्त हैं तथा उनमें मात्रायें भी समान संख्या में हैं। इस प्रकार संगीत के अन्तरा का विधान छन्द में नहीं किया गया है। इसके विपरीत छायावाद-युग के गीतों में अन्तरा का विधान दिखलाई पड़ता है। उदाहरण के लिए निराला का निम्नलिखित गीत लीजिये :—

वरदे वीणावादिनि, वर दे!
प्रिय स्वतंत्र रव, अमृतमंत्र नव,
भारत में भर दे!
× × ×
नव गति, नव लय, ताल-छन्द नव
नवल कंठ नव जलद-मन्द्र रव
नव वन के नव विहगवृन्द को
नव पर नव स्वर दे!
वरदे वीणावादिनि वर दे।
[गीतिका]

इसमें पहली पंक्ति गीत के टेक के रूप में है, दूसरी पंक्ति का अन्तिम शब्द 'भर दे' पहली पंक्ति के 'वरदे' के अन्त्यानुप्रास के रूप में आया है किन्तु दोनों पंक्तियों में मात्राभेद है। भक्तिकालीन पदों में भी ऐसा कहीं-कहीं दिखलाई पड़ता है:—

मो सम कौन कुटिल खल कामी?
जेहि तन दियो ताहि विसरायो ऐसो नमक हरामी।

किन्तु अन्तरा का विधान छायावादी गीतों की नई विशेषता है। उपर्युक्त गीत में दो पंक्तियाँ अन्तरा रूप में रक्खी गई हैं और उनमें आपस में मात्रा, गति और तुकान्त की दृष्टि से समानता है और प्रथम पंक्ति से वे भिन्न हैं। फिर अन्तरा की तीसरी पंक्ति को टेक की दूसरी पंक्ति के मेल में रखा गया है। संगीत के आग्रह से पहली पंक्ति को प्रत्येक पद के बाद दुहराना आवश्यक है। अन्तरा के विधान में छायावादी कवियों ने स्वच्छन्द मार्ग का अवलम्बन किया है। प्रथम पंक्ति में जो छन्द व्यवहृत होता है, अन्तरा में उन्होंने उसे कभी-कभी

बदल भी दिया है। स्वर में उत्कृष्टता और विरोध लाकर प्रभाव उत्पन्न करने के लिये ऐसा किया जाता है। उदाहरण के लिए यह गीत द्रष्टव्य है :—

घन बनूँ, वर दो मुझे प्रिय !
जलधि–मानस से नव जन्म पा,
सुभग तेरे ही दृग-व्योम में,
सजल श्यामल मन्थर मूक सा
तरल अश्रु-विनिर्मित गात ले,
नित घिरूँ झर-झर मिटूँ प्रिय !

[महादेवी]

इसमें पहली और अंतिम पंक्तियों का छन्द एक है, उनमें १४–१४ मात्रायें हैं। किन्तु अन्तरा की चारों पक्तियों में १६-१६ मात्रायें हैं और उनमें समान अन्त्यानुप्रास भी नहीं हैं। पहली और अन्तिम पंक्ति की गति–लय से अन्तरा की गति-लय भी भिन्न है। इससे संगीत के विधान में तो बाधा अवश्य पड़ती है किन्तु भावना का उतार-चढ़ाव छन्द के परिवर्तन से अवश्य व्यक्त हो जाता है। वस्तुतः शास्त्रीय संगीत की दृष्टि से छायावाद के सभी गीत गेय नहीं हैं किन्तु छायावादी कवियों ने अपने लिये स्वतंत्र रूप से छन्द और लय का तथा स्वतंत्र संगीत का निर्माण किया है जिसका सब से उत्कृष्ट उदाहरण निराला की 'गीतिका' की कवितायें हैं। 'गीतिका' की भूमिका में निराला ने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

प्रगीत मुक्तकों में संगीततत्त्व आवश्यक न होने के कारण टेक और अन्तरा का विधान नहीं दिखलाई पड़ता। यद्यपि उनमें भी सममात्रिक और समतुकान्त छन्द का विधान होता है और वे गाये भी जा सकते हैं किन्तु संगीत के लय-ताल के नियमों से बँधना उनके लिये कठिन है। प्रगीत-मुक्तकों में विभिन्न पदों में छन्दपरिवर्तन भी दिखलाई पड़ता है और अतुकान्त तथा मुक्त छन्द में भी प्रगीत-मुक्तक की रचना होती है।

सुरपति के हम ही हैं अनुचर, जगत्प्राण के भी सहचर !
मेघदूत की सजल कल्पना, चातक के चिर जीवनधर !
मुग्ध शिखी के नृत्य मनोहर, सुभग स्वाति के मुक्ताकर !
विहगवर्ग के गर्भ विधायक, कृषक बालिका के जलधर !

[बादल–"पल्लव"-पंत]

इस कविता में चारों पंक्तियों में समान मात्रा, गति, लय और तुक का विधान किया गया है। पूरी कविता में इस प्रकार के चार-चार पंक्तियों के पदों

(stanzas) की योजना की गई है। प्रथम पंक्ति को दुहराने का आग्रह कहीं भी नहीं है। दूसरे प्रकार के प्रगीत मुक्तक वे हैं जिनमें अन्त्यानुप्रास तो है किन्तु विभिन्न पंक्तियों में मात्रा और लय में असमानता है। पंत की दूसरी कविता 'जीवन-यान' को उदाहरणस्वरूप ले सकते हैं:—

अहे विश्व, हे विश्व व्यथित मन
किधर बह रहा है यह जीवन ?
× × ×
किधर ?—किस ओर—अछोर—अजान,
डोलता है यह दुर्बल यान
मूक बुद्बुदों से लहरों में
मेरे व्याकुल गान।
["पल्लव"—पन्त]

उनकी 'परिवर्तन' शीर्षक कविता में यह बात सबसे अधिक दिखलाई पड़ती है। वस्तुतः प्रगीत मुक्तकों में भावनाओं के अनुरूप छन्दों का विधान होने से छन्द-बन्धन नहीं रह जाता। छन्द का बन्धन टूट जाने पर भी लय-तत्व वर्तमान रहता है और इसीलिये मुक्तछन्द में भी प्रगीत मुक्तकों की रचना होती है। प्रगीत काव्य चाहे संगीतमय छन्द में हो या संगीत के बन्धन से मुक्त समतुकान्त छन्द में, चाहे अतुकान्त में; सममात्रिक छन्द में हो या विषममात्रिक छन्द में; मुक्त छन्द में हो चाहे गद्य में, सभी रूपों में वह प्रगीत मुक्तक ही कहलायेगा। इस दृष्टि से गीत और गीतप्रबन्ध सभी प्रगीत मुक्तक में ही अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। मुक्तछन्द के प्रगीत मुक्तक का एक उदाहरण यह है:-

विजन वन पल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी
स्नेह स्वप्न मग्न
अमल कोमल तनु तरुणी
जुही की कली,
दृग बन्द किये
शिथिल पत्रांक में !
वासन्ती निशा थी,
विरह विधुर प्रिया संग छोड

किसी दूर देश में था पवन
जिसे कहते हैं मलयानिल
[जुही की कली—निराला]

मुक्त छन्द के सम्बन्ध में छन्द और लय सम्बन्धी अध्याय में विचार किया जायगा।

गीतकाव्य की विशेषतायें

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गीत-काव्य संगीतात्मक रूप में प्रयुक्त ऐसे शब्दों की योजना है जो तीव्र वैयक्तिक और सम्वेदनात्मक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करते हैं। दूसरे शब्दों में आत्मगत अनुभूतियों की संगीतात्मक अभिव्यक्ति ही गीत-काव्य है और प्रगीत मुक्तक, गीत, गाथा-गीत आदि उसके विविध रूप हैं। वस्तुतः गीत-काव्य शब्द, काव्य के रूप से अधिक उसके भाव पक्ष की विशेषताओं को व्यक्त करता है। वह कवि के व्यक्तिगत विचारों, भावनाओं. मनस्थितियों और भावनाओ से सम्बन्धित है। उसकी निम्नलिखित प्रमुख विशेषतायें हैं:—

१—भावतत्व और लयतत्व का सामंजस्य और समत्व।
२—आत्माभिव्यक्ति
३—अनुभूतियों की ताजगी और सचाई।
४—भावावेगों की तीव्रता और अन्विति।
५—उद्देश्य की एकता और प्रभावान्विति।

आत्माभिव्यक्ति

भावतत्व और लयतत्व के सामंजस्य के सम्बन्ध में ऊपर विचार किया जा चुका है, यहाँ अन्य विशेषताओं के बारे में विचार किया जायगा। जैसा शुरू में ही कहा जा चुका है, गीत-काव्य में कवि अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों की ही अभिव्यक्ति करता है। यदि वह बाह्य-वस्तु का चित्रण करता है तो उसमें भी अपनी भावनाओं का मिश्रण अवश्य करता है, अर्थात् वह जगत की प्रत्येक वस्तु के साथ अपने रागात्मक सम्बन्ध की अभिव्यक्ति करता है। यह रागात्मक अभिव्यक्ति कभी तो प्रच्छन्न होती है और कभी खुली हुई। एक ही कवि दोनों तरह की पद्धतियों को अपनाया करता है। प्रच्छन्न अभिव्यक्ति में वर्ण्यवस्तु या प्रस्तुत छिपा रहता है और प्रक्षेप-पद्धति (Projection) द्वारा वह अपनी भावनाओं को बाह्य वस्तुओं में आरोपित करता है। सूरदास के भ्रमर-गीत के पदों में यह बात दिखलाई पड़ती है जिनमें गोपिकाओं के माध्यम से कवि ने अपनी ही भावनाओं की अभिव्यक्ति की है। छायावादी गीत-काव्य में भी कवि अपने को ही आश्रय के

रूप में रख कर आलम्बन को कभी तो सीधे-सीधे सम्बोधित करते और कभी उसे किसी प्रतीक की ओट में रख कर उसके प्रति आत्मनिवेदन करते हैं। प्रच्छन्न अनुभूति के चित्रण का एक उदाहरण यह है:—

अचल के चंचल क्षुद्र प्रपात!
मचलते हुये निकल आते हो,
उज्वल घन बन अंधकार के साथ
खेलते हो क्यों, क्या पाते हो?

['प्रपात के प्रति'—निराला]

इसमें कवि मानवीय क्रीड़ा की अनुभूति का प्रपात पर आरोप करता और जिज्ञासापूर्ण प्रश्नों द्वारा इस ओर संकेत भी कर देता है कि उसका आलम्बन प्रपात नहीं, ब्रह्म से वियुक्त जीव है। इस प्रकार तल्लीनता, तन्मयता और तादात्म्य द्वारा कवि आत्मानुभूति का वर्ण्यवस्तुओं में प्रक्षेप कर के गीत-काव्य की रचना करता है। आलम्बन को सीधे सम्बोधित करके लिखे गये गीत का उदाहरण यह है :—

तुम तुंग हिमालय शृंग और
मैं चंचल गति सुरसरिता!
तुम विमल हृदय-उच्छ्वास और
मैं कान्त-कामिनी - कविता!

['तुम और मैं'—निराला]

इसमें कवि ने परोक्ष सत्ता के साथ अपने सम्बन्ध को अलंकारों द्वारा व्यक्त किया है; सीधे-सीधे यह नहीं कहा कि तुम ब्रह्म हो और मैं तुम्हारा अंश जीव हूँ। तीसरी पद्धति सीधी और स्पष्ट आत्माभिव्यक्ति की है। बच्चन और सुभद्रा कुमारी चौहान की प्रवृत्ति पारिवारिक और वैयक्तिक सम्बन्धों की रागात्मक अभिव्यक्ति सीधे ढंग से करने की है। प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी, माखनलाल चतुर्वेदी आदि ने स्पष्ट आत्माभिव्यक्ति की शैली बहुत कम अपनाई। भगवती-चरण वर्मा, बच्चन, नरेन्द्र, अंचल ने ही इस दिशा में अधिक रुचि दिखलायी। वे तो इतना आगे बढ़ गये की अपनी जुगुप्साजनक क्रियाओं का भी खुल कर वर्णन करने लगे। इसलिये ऐसे गीतों में अनुभूति की सचाई चाहे कितनी भी क्यों न हो, भावना की गहराई और ऊँचाई उनमें नहीं है। अस्तु: अपनी प्रिया से भवतीचरण वर्मा कहते हैं :—

तुम मृगनयनी, तुम पिकवयनी,
तुम छवि की परिणीता सी!

अपनी बेसुध मादकता में
भूली सी भयभीता सी!

[प्रेम-संगीत]

इस प्रकार कवियों ने गीत-काव्य में अपने सुख-दुःख, आशा-आकांक्षा, करुणा-शोक, संयोग-वियोग, अनुरक्ति-विरक्ति आदि मनोविकारों का विविध रूपों में चित्रण किया है। उन्होंने बाह्य वस्तुओं का चित्रण भी आत्मगत ढंग से किया है। उनका प्रकृति-चित्रण उनके अपने रागात्मक मनोविकारों से अनुरंजित है, इसका विवेचन प्रकृति-चित्रण वाले अध्याय में किया जा चुका है।

आत्माभिव्यंजना के भीतर ही सामाजिक अहं की अभिव्यक्ति भी आती है। जब कवि परिवार, वर्ग, समाज या राष्ट्र के साथ अपने अहं का तादात्म्य कर लेता है तब वह 'मैं' से 'हम' बन जाता है। सामूहिक प्रार्थना या उपासना के गीतों या आदिम जातियों और कबीलों के गीतों में इसी सामाजिक अहं की अभिव्यक्ति दिखलाई पड़ती है; क्योंकि वहाँ सामाजिक चेतना में वैयक्तिक चेतना विलीन हो गयी रहती है। स्कूल-कालेजों के अथवा किसानों के समवेत गान में भी यही बात दिखलाई पड़ती है। किसी जाति या राष्ट्र के उत्कर्ष और अपकर्ष के काल में उल्लास-अवसाद की सामूहिक भावनाओं की अभिव्यक्ति ऐसे गीतों में सफलता पूर्वक होती है। सामूहिक गीतों के अतिरिक्त सामान्य मानवता की भावनाओं को व्यक्त करने वाले गीत भी होते हैं। उनमें कवि अपने को अहं के घेरे से बाहर निकाल कर सामान्य मानवता की भूमि पर खड़ा कर देता है; उसकी मानवीय चेतना उच्छ्वास बन कर गीत के रूप में निकल पड़ती है। छायावाद-युग में ऐसे गीत-काव्य की भी कमी नहीं है जो सामाजिक, राष्ट्रीय अथवा मानवीय अहं की अभिव्यक्ति पूर्ण रूप से करता है। छायावादी कवियों ने बहुधा व्यक्ति के माध्यम से समाज की सामूहिक भावना की भी अभिव्यक्ति की है। श्रीमती महादेवी वर्मा इस ओर संकेत करती हुई कहती हैं:—

"मेरे लिए तो मनुष्य एक सजीव कविता है। कवि की कृति तो उस सजीव कविता का शब्द-चित्र मात्र है जिससे उसका व्यक्तित्व और संसार के साथ उसकी एकता जानी जाती है।·········जिस प्रकार वीणा के तारों के भिन्न-भिन्न स्वरों में एक प्रकार की एकता होती है जो उन्हें एक साथ मिल कर चलने की और अपने साम्य से संगीत की सृष्टि करने की क्षमता देती है, उसी प्रकार मनुष्य के हृदयों में एकता छिपी हुई है। यदि ऐसा न होता तो विश्व का संगीत ही बेसुरा हो जाता।"

[महादेवी वर्मा—रश्मि की भूमिका]

मानव की सुख-शान्ति की कामना की पन्त के इस प्रार्थना-गीत में सफल अभिव्यक्ति हुई है :—

जग के उर्वर आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन !
× × ×
मृन्मरण बाँध दो जग का
दे प्राणों का आलिङ्गन,
बरसो सुख बन सुखमा बन
बरसो जग-जीवन के घन !
दिशि-दिशि में औ पल-पल में
बरसो संसृति के सावन !

प्रयाण-गीत में भी कवि के जातीय और राष्ट्रीय अहं का पूर्ण परिस्फुटन होता है :—

हिमाद्रि-तुंग-शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती।
स्वयंप्रभा समुज्वला स्वतंत्रता पुकारती !
[प्रसाद]

सांस्कृतिक और राष्ट्रीय गीत का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण निराला की 'गीतिका' की प्रथम कविता है:—

वर दे वीणावादिनि, वर दे !
प्रिय स्वतन्त्र रव, अमृत मंत्र नव
भारत में भर दे !
काट अन्ध उर के बन्धन-स्तर
बहा जननि ज्योतिर्मय निर्झर
कलुष-भेद-तम हर प्रकाश भर
जगमग जग कर दे !

अनुभूतियों की सचाई और ताजगी

आत्माभिव्यंजक होने से ही गीति-काव्य की सृष्टि नहीं हो सकती, उसके साथ ही उसमें व्यक्त अनुभूतियों का स्वाभाविक और कवि के अन्तरतम से उद्‌भूत होना और साथ ही मौलिक, नवीन और ताजा होना भी आवश्यक है। पिछले अध्याय में मनोवैज्ञानिक अध्ययन करते हुए यह देखा जा चुका है कि व्यक्ति की सहजात वृत्ति और उसके परिपार्श्व या परिवेश के बीच होने वाले द्वन्द्व से ही संवेदनाओं, भावनाओं, विचारों आदि का जन्म होता है और इस

प्रक्रिया में कल्पना का बहुत अधिक योग रहता है। यह भी कहा जा चुका है कि इन्द्रियों की शक्ति और परिवेश की भिन्नता के कारण किन्हीं भी दो व्यक्तियों की अनुभूतियाँ एक सी नहीं होतीं और उनके बदलते रहने से ये भी बदलती रहती हैं। कविता का कच्चा माल ये संवेदनायें-भावनायें ही हैं, जो विभिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न रूपों में उत्पन्न और विकसित होती है, अतः कविता भी सदा नवीन और परिवर्तनशील हुआ करती है। यदि ऐसा न होता तो ज्ञान-विज्ञान और कला-कौशल की उन्नति न होती और सभी व्यक्ति एक ही तरह सोचते-विचारते और सुख-दुख का अनुभव करते। यह अवश्य है कि मनुष्य पिछले अनुभवों को भुलाता नहीं, उन्हें याद रखता और उनसे लाभ उठाता रहता है। अनुभूतियों के निर्माण और संचय की प्रक्रिया भी यही है। कविता जब वस्तुगत होती है तो अनुभूतियों की सचाई और ताजगी का प्रश्न उतना नहीं उठता क्योंकि बाह्य घटना या वस्तु का चित्रण बुद्धि की अधिक अपेक्षा रखता है। आत्माभिव्यंजक काव्य में मनोविकारों की क्रिया-प्रतिक्रिया का शब्दचित्र उपस्थित किया जाता है। वस्तु या विषय उसमें गौण हो जाता है; विषयी ही व्यक्ति, वर्ग या समाज के रूप में प्रधान रहता है। ऐसी दशा में अनुभूतियाँ—यदि कवि शक्तिशाली, और प्रतिभावान है तो–हमेशा नवीन और सामान्य अनु भूतियों से किसी न किसी रूप (मात्रा, गुण, रूप आदि) में भिन्न अवश्य होंगी। इसी अर्थ में गीत-काव्य अन्य काव्य-रूपों से भिन्न है। महाकाव्य या मुक्तकों में चर्वितचर्वण उतना बड़ा दोष नहीं है क्योंकि वहाँ ऐसे सत्य या तथ्य का चित्रण होता है जो परिवर्तनशील होते हुए भी दीर्घकाल व्यापी होता है। इसके विपरीत गीत-काव्य में जीवन के खण्डरूप का ही चित्रण होता है। यहाँ भावनायें विवेक से अधिक नहीं नियंत्रित होतीं, अतः वे क्षण-क्षण बदलती रहती हैं। वे सच्ची होकर भी स्थायी या दीर्घकालव्यापी नहीं होतीं। परिणामस्वरूप उनके चित्रण से समग्र या अखण्ड जीवन का स्वरूप नहीं चित्रित होता, उनमें क्षणिक आवेश और ज्योति (Flash) होती है और उस क्षण के लिए वही सत्य होती है चाहे वह बाद में भले भ्रम प्रतीत हो। गीत-काव्य ऐसी ही भावनाओं की अभिव्यक्ति होता है। उसका वेग इतना तीव्र होता है कि मानसिक, वाचिक या कायिक किसी न किसी रूप में उसकी अभिव्यक्ति अवश्य होती है। कवि उसे वाणी द्वारा लिखकर या बोलकर व्यक्त करता है। यह अभिव्यक्ति अनायास (Spontanious) होती है यद्यपि अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में प्रयत्न की भी एक सीमा तक जरूरत पड़ती है क्योंकि गीत-रचना सहजक्रिया (Reflex action) नहीं है।

वर्ड्सवर्थ का भी यही मत था किन्तु वह भावनाओं को कुछ काल उपरान्त शान्ति की अवस्था में स्मृति द्वारा अभिव्यक्त करना आवश्यक समझता था। डा० भगवानदास का मत है कि भावनाओं की काव्यात्मक अभिव्यक्ति स्मृति-काल में ही हो सकती है। मुझे ऐसा लगता है कि भावनाओं की अभिव्यक्ति अत्यन्त संश्लिष्ट क्रिया है क्योंकि उसमें कल्पनाशक्ति, विवेक, भाषा, छन्द आदि के बन्धनों के कारण मूल रूप और अभिव्यक्त रूप में बहुत अन्तर पड़ जाता है; अतः यह विभिन्न कवियों की शक्ति पर निर्भर करता है कि वे भावावेश की अभिव्यक्ति कब करें जिससे उसकी सचाई और ताजगी बनी रह सके। अपरिवर्तनशील मनोवृत्ति तथा तीव्र स्मरण-शक्ति वाले कवि को यह सुविधा हो सकती है कि चाहे जब वह अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति करे। किन्तु जीवन-जगत की परिवर्तनशीलता की चेतना वाला तीव्र संवेदनशील कवि अपनी भावनाओं को परिपक्व होने के लिए बहुत दिनों तक अपने स्मृति-कोश में नहीं रख सकता; वह भावावेग की उत्पत्ति के साथ ही उसकी अभिव्यक्ति भी करता है जिससे उसकी ताजगी और नवीनता बहुत कुछ अभिव्यक्ति में सुरक्षित रह जाती है।

इस प्रकार अनुभूति की सचाई का अर्थ यह है कि वह अनुभूति कवि की अपनी है, वह किसी अन्य कवि से प्रभावित होकर कल्पना द्वारा नहीं खड़ी की गयी है। ताजगी का तात्पर्य यह है कि अनुभूति जीवन्त और सशक्त है, उसमें कवि की आत्मा का विश्वास जुड़ा हुआ है। प्रसाद जी के शब्दों में वह 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' है। पन्त ने इस बात को दूसरे ढंग से कहा है, 'कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है, हमारे जीवन का पूर्ण रूप, हमारे अन्तरतम प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही संगीतमय है, अपने उत्कृष्ट क्षणों में हमारा जीवन छन्द ही में बहने लगता; उसमें एक प्रकार की सम्पूर्णता का संयम आ जाता है।' यह कथन शेली की इस उक्ति का ही भावानुवाद है कि "कविता स्फीत तथा पूर्णतम आत्माओं के रमणीय और उत्तम क्षणों की वाणी है।" इन सब उक्तियों में एक ही बात प्रकारान्तर से कही गयी है कि अनुभूति का आवेग जब बहुत तीव्र होता है तो उस समय के लिए वही अनुभूति जीवन का पूर्ण सत्य प्रतीत होती है और उसकी अभिव्यक्ति ही आत्माभिव्यंजक काव्य है। वह अनुभूति चाहे उसी समय अभिव्यक्त हो या बाद में, उसकी ताजगी और शक्ति उसमें बनी रहनी चाहिये। इस प्रकार प्रगीतों में अभिव्यक्त भावावेशमयी अनुभूतियाँ कल्पना या बुद्धितत्व पर उतनी आश्रित नहीं होतीं जितनी अपनी सचाई और सहजोद्रेक पर। कवि ऐसी तीव्र अनुभूतियों को छिपा कर नहीं रख

सकता, वह उद्देश्य को पृष्ठभूमि में रख छोड़ता और स्वान्तःसुखाय, अपने से ही अपने मन की कथा कहने लगता है। अपने से अपने को छिपाया नहीं जाता। अतः गीति-काव्य में भावों का दुराव-छिपाव, विचारों का घटाटोप, अलंकारों का आडम्बर और कल्पना की अधिक उछलकूद नहीं होती। छायावादी कविता में इस प्रकार के विशुद्ध गीत-काव्य की कमी नहीं है, यद्यपि उसमें कल्पना और बुद्धि-व्यापार से बोझिल काव्य की भी कमी नहीं है जो विशुद्ध गीत-काव्य के भीतर नहीं आ सकता।

शलभ मैं शापमय वर हूँ !
किसी का दीप निष्ठुर हूँ !

इस पूरी कविता में महादेवी के हृदय की वेदना शतधा होकर वर्षा की निर्झरिणी की तरह फूट पड़ी है। कवयित्री ने अपनी वेदना को वरदान मान कर उसे स्वीकृत कर लिया है और इसी भावना को गीत में व्यक्त कर दिया है। निराला ने भी अपनी गनि, उत्साह या निर्वेद की तीव्र भावनाओं को बहुत ही सीधे ढंग से व्यक्त किया है। बच्चन और नरेन्द्र में यह सचाई और भी अधिकों है, वे अपने और पाठक के बीच कोई परदा नहीं रखना चाहते। बच्चन के गीत का दोष यह है कि वे तर्क द्वारा अपनी अनुभूतियों का औचित्य सिद्ध करना चाहते हैं। इससे भावावेश में बाधा ,ड़ने के अतिरिक्त कवि का अपनी अनुभूतियों के प्रति अविश्वास प्रकट होता है :—

कैसे आँसू नयन सँभालें ?
मेरी हर आशा पर पानी,
रोना दुर्बलता नादानी,
उमड़े दिल के आगे पलकें
कैसे बाँध बना ले ?

['आकुल अन्तर'—बच्चन]

इसमें कवि अपनी दुखमय स्थिति की अभिव्यक्ति के लिए उतना चिन्तित नह ं मालूम पड़ता जितना तर्क द्वारा अपने रुदन का औचित्य सिद्ध करने के लिए। इसीसे बच्चन की कविताओं में विशुद्ध गीत अधिक नहीं हैं। महादेवी और निराला छायावाद के सर्वश्रेष्ठ गीत-कवि हैं।

भावनाओं की उत्पत्ति के बारे में पहले विचार किया जा चुका है। कवि तो यों ही सामान्य लोगों से अधिक संवेदनशील होता है; फिर छायावादी कवि तो व्यक्तिवादी होने के कारण और भी भावुक होते हैं। सहजात वृत्ति

भावावेगों की तीव्रता, गहराई और अन्विति

और परिवेश के बीच होने वाले संघर्ष में कुछ कवि तो हिम्मत हार कर अहंवादी हो जाते और नियति या समाज को अपनी वेदना का कारण मानने लगते हैं; कुछ अपने व्यक्तित्व का उन्नयन करते और आत्मवेदना को विश्ववेदना में विलीन कर देते हैं। कुछ संघर्ष में हार नहीं मानते और भावना अथवा विचारों को अस्त्र बना कर जूझते रहते हैं। हर हालत में वे अपने ऊपर होने वाले आघातों की तीव्र मानसिक प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति करते हैं। व्यक्तित्व का उन्नयन करने वाले कवियों में ही भावावेगों की गम्भीरता अधिक होती है; क्योंकि गहरे आघात ही उन्हें उद्विग्न कर पाते हैं। ऐसे उद्वेगों को वे सच्चाई के साथ व्यक्त करते हैं। साधारण आघात से रो देने वाले और साधारण आनन्द से उत्फुल्ल हो जाने वाले कवि में गम्भीरता का अभाव होता है। ऐसे कवि बहुत अधिक और साधारण कोटि की काव्य-रचना करते हैं। उनके भावावेगों में नवीनता और ताजगी भी नहीं होती। तीव्रता और गम्भीरता तभी आ सकती है जब भावना की अन्विति हो। अनुबन्ध-पद्धति से भावनाएँ कभी अकेली नहीं रहतीं, उनके साथ अन्य भावनाएँ भी लगी-लिपटी रहती हैं। गीत-काव्य की विशेषता यह है कि उसमें भावनाएँ अनेक होकर भी एक प्रतीत होती हैं, अर्थात् एक ही प्रधान भावना होती है और अन्य उसकी सहायता या पुष्टि करने वाली होती है। इसे ही भावान्विति कहा जाता है। इस अन्विति के लिए कवि को प्रयत्न नहीं करना पड़ता। यदि उसके भावावेग में गहराई और तीव्रता होगी तो अन्विति अपने-आप आ जायगी। काव्य अन्य कलाओं की भाँति यत्न साध्य नहीं है और न उसके लिए उस्ताद या दीक्षा-गुरु की आवश्यकता है। जिनके पास भावना की दरिद्रता रहती है या जिनकी भावनायें ग्रन्थज, अर्जित और पर-प्राप्त (Second hand) होती हैं उन्हीं को प्रयत्न द्वारा कलापक्ष का विकास करना पड़ता है। ऐसे कवि गीतकाव्य की रचना नहीं कर सकते; सूक्ति (मुक्तक) व्यंग्य और चित्रकाव्य की रचना भले ही कर लें। ऐसे बुद्धि-विलासी और अभ्यासी कवि 'कठिन काव्य के प्रेत' बन कर रह जाते हैं; अपने भावावेगों की तीव्रता, गहराई और अन्विति द्वारा जन-सामान्य तक नहीं पहुँच सकते। भावावेश में गाने, रोने या हँसने की क्रिया के लिए किसी को आयास नहीं करना पड़ता;[प्रियजनों के मिलन पर देहाती औरतें और घड़ियाल के से नकली आँसू बहाने वाले लोग जरूर प्रयत्नसाध्य रुदन करते हैं।] इसीलिए प्रधान भावना ही गीत में शुरू से अन्त तक व्याप्त रहती है, कहीं वह प्रच्छन्न होती है और कहीं

प्रकट। अस्तु, सौन्दर्य से उत्पन्न आनन्द की भावना कवि के मन में जिज्ञासा उत्पन्न करती है और वह इस तीव्र, और गम्भीर भावावेग को गीति-बद्ध करता है :—

तुम कनक किरण के अन्तराल में लुक-छिप कर चलते हो क्यों ?
नत मस्तक गर्व वहन करते,
यौवन के घन रस कन ढरते,
हे लाजभरे सौन्दर्य बता दो मौन बने रहते हो क्यों ?
[प्रसाद]

इस पूरी कविता में कवि दृष्टि अतीन्द्रिय सौन्दर्य को ऐन्द्रिक रूप देने में लगी है और साथ ही उसकी जिज्ञासा सौन्दर्य के प्रति और भी आकर्षण की वृद्धि करती है। इस भावान्विति का कारण यह है कि सौन्दर्यानुभूति के क्षण में कवि के लिए सौन्दर्य के अतिरिक्त जगत में अन्य किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं रह जाता। अर्जुन के लक्ष्य भेद की तरह वह केवल एक भाव भेदन करता है, अन्य भाव उसके उपचेतन में तिरोहित हो गये रहते हैं। मानव का स्वभाव है कि उसकी चेतना एक भाव में अधिक देर तल्लीन नहीं रह सकती, अतः गीत में भाव की धारा बहुत दूर तक नहीं चल पाती। दूसरे स्वतंत्र भावों का सहयोग भी उसे नहीं मिल पाता। इसलिए गीत छोटे, और संयमित होते हैं, उनमें भावों या विचारों की स्फीति के लिए अवकाश ही नहीं रहता। छायावादी कवियों में इस दृष्टि से महादेवी से बड़ा कलाकार कोई नहीं है। बच्चन के गीतों में भी यह गुण प्रर्याप्त मात्रा में दिखलाई पड़ता है इसीसे वे बहुत ही छोटे हैं।

दिन जल्दी जल्दी ढ़लता है !
हो जाय न पथ में रात कहीं,
मंजिल भी तो है दूर नहीं,
यह सोच, थका दिन का पंथी भी जल्दी जल्दी चलता है !
बच्चे प्रत्याशा में होंगे,
नीड़ों से झाँक रहे होंगे,
यह ध्यान परों में चिड़ियों के भरता कितनी चंचलता है !
मुझसे मिलने को कौन विकल !
मैं होऊँ किसके हित चंचल !
यह प्रश्न शिथिल करता मन को भरता उर में विह्वलता है।
[निशा-निमंत्रण—बच्चन]

इस गीत में संध्या के अवसादमय क्षणों में कवि के अवसाद का चित्रण पथिक और पंछी की चञ्चलता की अवस्था के मेल में रख कर किया गया है। प्रधान भाव विह्वलता और शिथिलता का है और चञ्चलता की भावना तुलना के लिए लाई गई है।

गीतिकाव्य की उपर्युक्त विशेषताएँ कवि के उद्देश्य की इकाई के कारण ही उत्पन्न होती हैं। यह उद्देश्य बुद्धिजन्य नहीं सहजोद्रेक के रूप में होता है। जैसा पहले कहा जा चुका है, भावावेश के क्षणों

प्रभावान्विति

में मनोविकारों की अभिव्यक्ति कायिक, मानसिक या वाचिक किसी न किसी रूप में अवश्य होती है। यहाँ सफल अभिव्यक्ति ही उद्देश्य है और भावावेग तीव्र होने पर अभिव्यक्ति स्वतः सफल हो जाती है। चूँकि ये आवेग अस्थिर, तीव्र और उत्तेजनापूर्ण होते हैं अतः उनकी अभिव्यक्ति के लिए बुद्धि की सहायता की अधिक आवश्यकता नहीं होती, अलंकार और शब्द-योजना सहज रूप से अभिव्यक्ति का साथ देते हैं, प्रयत्न पूर्वक उनकी योजना करने से कवि का ध्यान आवेगों से हट कर दूसरी बातों में उलझ जाता है और भावावेग की अभिव्यक्ति का उद्देश्य पीछे छूट जाता है। उपन्यास या प्रबन्धकाव्य में भी कथा-प्रवाह में मन उलझ जाने से भावावेग-की अभिव्यक्ति के लिए अवकाश नहीं रहता। किन्तु गीतिकाव्य छोटी कहानियों की तरह होता है जिनमें जीवन के किसी एक पहलू पर तीव्र प्रकाश पड़ता है। इसीलिए उसमें महाकाव्य की तरह दिक्काल की व्यापकता नहीं रहती। इस प्रकार गीतिकाव्य कवि के मन पर पड़ने वाले किसी क्षणिक पर तीव्र, आकस्मिक किन्तु गम्भीर, बुद्धिनिरपेक्ष किन्तु समन्वित प्रभाव की अनायास किन्तु कलात्मक अभिव्यक्ति है। इसका परिणाम यह होता है कि पाठक या श्रोता पर भी उसका प्रभाव तीव्र तथा समन्वित होता है; अर्थात उद्देश्य की इकाई के कारण पाठक पर पड़ने वाले प्रभाव में भी अन्विति होती है। वह उस क्षण में जगत की अन्य सभी बातों को भूल कर काव्याभिव्यक्त भाव में ही तल्लीन हो जाता है। यदि उस काव्य में रस के सभी अवयवों का विधान हुआ है तो पाठक के मन में रस की निष्पत्ति भी होती है। रसानुभूति ही प्रभावान्विति का सर्वोत्कृष्ट रूप है। इस सम्बन्ध में अगले अध्याय में विशेष रूप से विचार किया जायगा।

इस प्रकार गीतिकाव्य में प्रभावान्विति का कारण भावावेगों की अभिव्यक्ति की अनियंत्रित वासना और तज्जन्य विशेषतायें हैं जिनका विवेचन ऊपर किया जा चुका है। कुछ लोगों के मत से छोटे गीतों में जितनी अधिक प्रभविष्णुता और अन्विति होती है उतनी साहित्य के अन्य किसी रूप में नहीं होती। छोटी

कहानी और रेखाचित्र ही किसी सीमा तक इस अर्थ में गीतिकाव्य की तुलना में रखे जा सकते हैं। अंग्रेजी का प्रसिद्ध कवि-कथाकार एडगर एलेन पो का मत है कि जो रचना एक बैठक में लिख दी जाती है अर्थात छोटी होती है उसी में प्रभावान्विति होती है। उत्तेजना पूर्ण मनोवेग अनिवार्य रूप से अस्थायी और परिवर्तन शील होते हैं; अतः एक बैठक में लिखी गई छोटी कविता या गीत में ही प्रभावान्विति हो सकती है। पो के इस मत का तात्पर्य यही है कि प्रभावान्विति का काव्य की लघुता से अविच्छेद्य सम्बन्ध है। प्रभावान्विति का कारण कुछ लोग बोधगम्यता और स्पष्टता भी मानते हैं; पर यह भी एक कारण हो सकता है, एक-मात्र कारण नहीं। अवश्य ही अस्पष्टता, दुरूहता या क्लिष्टता गीतिकाव्य की प्रभावान्विति में बाधा उत्पन्न करती है। छायावादी गीतिकाव्य में सभी विशेषताओं को पाना तो सम्भव नहीं है पर ऐसे गीतों और प्रगीतों की कमी नहीं है जिनमें गीतिकाव्य की अधिकांश विशेषतायें मिल सकती हैं। पन्त, निराला, महादेवी और बच्चन इस प्रकार के सर्वोत्कृष्ट गीतिकाव्यकार हैं। उदाहरण के लिए निराला का एक गीत यहाँ दिया जा रहा है जिसमें निर्वेद की भावना आद्यन्त दिखलाई पड़ती है:—

देख चुका, जो जो आये थे, चले गये!
मेरे प्रिय सब बुरे गये, सब भले गये!
क्षण भर की भाषा में,
नव-नव अभिलाषा में,
उगते पल्लव से कोमल शाखा में,
आये थे जो निष्ठुर कर से मले गये!
चिन्ताएँ बाधाएँ
आती ही हैं, आयें,
अन्ध हृदय है, बन्धन निर्दय लायें,
मैं ही क्या, सब ही तो ऐसे छले गये!

[परिमल—निराला]

इस गीत में गीतिकाव्य के सभी गुण वर्तमान हैं।

गीति-काव्य के अन्य रूप

प्रगीतमुक्तक और गीत का भेद पहले बताया जा चुका है। इनके अतिरिक्त वीर-गीति (Ballad), शोक-गीति (Elegy), सम्बोध-गीति (ode), व्यंगगीति (Satire) साध्यवसान-गीति (Allegory), गीतिनाट्यप्रबन्ध आदि अन्य प्रकार के गीतिकाव्य भी छायावादी कविता में पाये जाते हैं।

विशुद्ध गीतिकाव्य के अतिरिक्त वर्णनात्मक, विचारात्मक उपदेशात्मक, सभी प्रकार की कविताओं को गीतिकाव्य के किसी एक गुण के कारण प्रगीतमुक्तक की श्रेणी में माना जाता रहा है। हम यहाँ विशुद्ध गीतिकाव्य के कतिपय रूपों के सम्बन्ध में ही विचार करेंगे।

वीर-गीतिः—वीर-गीति में आदिम लोकगीतों का बहुत कुछ अंश सुरक्षित है। इसमें कथा और गीत का समुचित योग रहता है। लोकगीतों में कुछ कथा-गीत अब भी नृत्य के साथ गाये जाते हैं जैसे बंगाल की यात्रा और उत्तरी भारत की रासलीला, दानलीला आदि। बाद में उनमें से नृत्य निकल गया किन्तु वाद्य का योग बना रहा। आल्हा, सोरठी, विजयमल, लोरकायन, हीरराँझा आदि इसी प्रकार की वीरगीतियाँ हैं जिनमें किसी ऐतिहासिक, पौराणिक या काल्पनिक वृत्त और नायक को लेकर वीरत्व और प्रेम का चित्रण रहता है। महाकाव्यों का रूप-विकास इन्हीं वीरकाव्यों के आधार पर हुआ है। इसीलिये 'रामचरितमानस' को उत्तर भारत की जनता वीर-गीति के रूप में रामलीला में अथवा यों भी वाद्यों के साथ गाया करती है। छायावादी कविता में वीर-गीति की अधिकता नहीं है, फिर भी कुछ कवितायें इस तरह की लिखी गयी हैं जिनमें सुभद्रा-कुमारी चौहान की 'झांसी की रानी', निराला की 'यमुना के प्रति' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

शोक-गीतिः—भारतीय साहित्यशास्त्र में गीतिकाव्य भी मुक्तककाव्य की श्रेणी में माना जाता रहा है और उसमें उसके विविध रूपों का विभाजन नहीं किया गया है। इसलिए शोक-गीति की परम्परा प्राचीन भारतीय साहित्य में नहीं मिल सकती। पश्चिम में दुःखान्त साहित्य की अधिकता के कारण गीतिकाव्य में भी शोक-गीति का अलग वर्गीकरण किया गया। वस्तुतः यह महाकाव्य और गीतिकाव्य के बीच की चीज है। मृत्यु के कारण अथवा किसी भी अन्य कारण से उत्पन्न विषाद, निर्वेद और करुणा की भावनाओं की अभिव्यक्ति करने वाला काव्य शोक-गीति की श्रेणी में आता है। श्रीधर पाठक द्वारा अनूदित 'ऊजड़गाँव' और मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' का वर्तमानखण्ड शोक-गीति की श्रेणी में आता है। प्रसाद का 'आँसू', पंत का 'उच्छ्वास', सियारामशरण गुप्त का 'बलिदान' आदि काव्य शोकगीति के उदाहरण हैं।

सम्बोध-गीतिः—जब किसी वस्तु विशेष का सम्बोधन करके प्रगीत-मुक्तक की रचना होती है तो उसे सम्बोध-गीति कहा जाता है। यह शैली पाश्चात्य प्रभाव की देन है। छायावादी कवि प्रत्येक वस्तु में चेतना का आरोप करता है, अतः वह किसी भी वस्तु को चेतन मानकर उसे सम्बोधित करता हुआ अपनी

भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है। छायावाद की अधिकांश कवितायें इसी शैली में लिखी गई हैं क्योंकि उनमें कवि की आत्माभिव्यक्ति के लिए बहुत अधिक अवकाश रहता है। इसमें वैयक्तिक अनुभूतियों की कलात्मक अभिव्यक्ति भी बहुत अच्छी तरह हो सकती है। गीतिकाव्य के अधिकांश गुण इसी शैली में दिखलाई पड़ते हैं। कल्पना को इसमें खुल खेलने के लिए पर्याप्त अवसर मिलता है। निराला की 'तरंगों के प्रति', 'हिन्दी के सुमनों के प्रति', 'खँडहरों के प्रति', 'भगवान बुद्ध के प्रति', पंत की 'कला के प्रति', 'महात्मा जी के प्रति', 'प्रकृति के प्रति', 'पलाश के प्रति', महादेवी की 'पपीहे के प्रति', 'उनसे', 'अलि से', आदि कवितायें इसी प्रकार की हैं।

व्यंग-गीति:— छायावादी कविता में व्यंग-गीति की अधिकता नहीं है। इसका कारण यह है कि अधिकतर छायावादी कवियों ने परिवेश के साथ संघर्ष कर के पलायन किया, उससे सीधे विद्रोह नहीं किया। व्यंग-गीति के मूल में परिवेश से विद्रोह अनिवार्य रूप से छिपा रहता है। हास्य, छींटाकशी, मनोरंजन आदि से व्यंग मूलतः भिन्न होता है; उसका उद्देश्य बहुत गम्भीर होता है और वह कवि की विद्रोही प्रवृत्ति का द्योतन करता है। व्यंग की प्रवृत्ति निराशावादी और निषेधात्मक होती है। व्यंगकार जब अपने सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश से असन्तुष्ट होता है तो उनकी असंगतियों, असमानताओं, कुरूपताओं आदि का कालात्मक ढंग से भंडाफोड़ करता है। व्यंग अनिवार्यतः ध्वंसात्मक होता है पर उसका उद्देश्य सदैव महान और निर्माणात्मक होता है; इसलिये उसमें मानवीय बुराइयों, अज्ञान आदि की कलात्मक ढंग से निन्दा की जाती है। व्यंग कभी तो सीधा होता है और कभी प्रतीक और संकेत के सहारे उसका विधान किया जाता है। किन्तु व्यंग-काव्य अपनी अतिशय सामाजिकता के कारण ही काव्य से अधिक गद्य की ओर झुका होता है। गीतिकाव्य के सभी गुण उसमें नहीं पाये जा सकते और न सभी गीतिकार व्यंगकार हो सकते हैं। छायावादी कवियों में निराला को छोड़कर अन्य किसी कवि ने व्यंगकाव्य की रचना अधिक नहीं की। निराला की 'वन-बेला', 'कुकुरमुत्ता' 'गर्म पकौड़ी', 'सरोज-स्मृति', 'दान', 'मास्को डायलाग्स', आदि कवितायें व्यंग की कोटि में आती हैं। 'कुकुरमुत्ता' की अधिकांश कवितायें व्यंग-गीति की श्रेणी में रखी जा सकती हैं। पंत और दिनकर ने भी कुछ व्यंग-कवितायें लिखी हैं; पंत की 'ग्राम्या', 'ग्राम्यवधू' 'ग्राम्य देवता' 'आधुनिका' आदि कविताओं में व्यंग का तत्व दिखलाई पड़ता है।

साध्यवसान रूपक-गीति:—छायावादी कविता में लघु रूपक-गीतियों की प्रधा-

-नता है क्योंकि अधिकांश कवियों ने अन्योक्ति या रूपकातिशयोक्ति की शैली में आत्माभिव्यक्ति की है। लक्षणा-व्यञ्जना और ध्वनि के अधिक प्रयोग के कारण अधिकांश कवितायें स्वतः रूपकात्मक हो गई हैं। इस सम्बन्ध में विशेषरूप से बाद में विचार किया जावेगा।

गीति-नाट्यः—इस युग में गीति-नाट्यों की भी रचना हुई, यद्यपि यह शैली अधिक प्रचलित नहीं हुई। इसमें रचना का आधार तो काव्यात्मक होता है कि उसकी शैली संवादयुक्त और नाटकीय होती है। इसमें विभिन्न पात्रों द्वारा कवि अपने ही व्यक्तित्व के विविध रूपों को चित्रित करता है। प्रसाद जी का 'करुणालय', सियाराम शरण गुप्त का 'उन्मुक्त', निराला का 'पंचवटी-प्रसंग', भगवतीचरण वर्मा का 'तारा' आदि इसी प्रकार की रचनायें हैं। गीति-नाट्य अंग्रेजी के आपेरा (opera) का अनुकरण है। आपेरा में गीत, अभिनय और कथा का योग होता है। लोकगीतों में नौटंकी या 'बिदेसिया नाटक' इसी प्रकार का गीति-नाट्य है। गीति-नाट्यों का अभिनय न होने के कारण छायावाद-युग में इस शैली का अधिक विकास न हो सका।

गीति-प्रबन्धः—गीति-प्रबन्ध की परम्परा हिन्दी के लिए नई नहीं है। भक्तिकाल के कवियों ने अपने आराध्य की कथा का गीतों में भी वर्णन किया है। सूर का 'सूरसागर', और 'तुलसी' की 'गीतावली' इसी प्रकार के गीति-प्रबन्ध हैं जिनमें प्रत्येक गीत किसी एक भावना को अभिव्यक्त करता है, किन्तु सब गीत मिलकर एक सम्पूर्ण कथा के रूप में दिखलाई पड़ते हैं। छायावाद-युग में मैथिलीशरण गुप्त का 'कुणाल', 'यशोधरा' आदि इसी प्रकार के गीति-प्रबन्ध हैं। अगर ध्यान से देखा जाय तो प्रसाद के 'आँसू' और बच्चन के 'निशा-निमंत्रण' और 'एकान्त संगीत' में भी एक सूक्ष्म कथा-प्रवाह मिल सकता है।

इस युग में प्रबन्धकाव्य और गीतिकाव्य के अतिरिक्त अन्य काव्य-रूपों का अधिक विकास नहीं हुआ। लघुमुक्तक और प्रलम्ब मुक्तक की रचना थोड़ी बहुत अवश्य हुई। मुक्तककाव्य में कुछ पंक्तियों के भीतर ही कवि अपनी पूरी बात कर देता है इसलिए उसमें आत्माभिव्यक्ति के लिए अधिक अवकाश नहीं रहता। इसी बन्धन के कारण छायावाद-युग में इस शैली को नहीं अपनाया गया। सूक्ति, उपदेश, वस्तुगत चित्रण आदि के लिए यह उपयुक्त शैली है और इसीसे रीतिकाल में इसका प्रचलन अधिक था। छायावादी कवियों में से कुछ ने घनाक्षरी, सवैया, दोहा आदि में मुक्तककाव्य की भी रचना की। अलंकार-

लघु मुक्तक और प्रलम्ब मुक्तक

योजना और चमत्कार-प्रदर्शन के लिए इसमें पर्याप्त अवकाश रहता है। इस युग में द्विवेदी जी के प्रभाव में रहने वाले कवियों ने ही इस प्रकार की मुक्तक रचनायें की हैं। उर्दू में गजल और शेर कहने की जो प्रथा है उसे भी मुक्तक काव्य की श्रेणी में ही समझना चाहिये। उसका प्रभाव भी हिन्दी कवियों पर पड़ा। दुलारेलाल भार्गव की 'दुलारे दोहावली' और वियोगी हरि की 'वीर सतसई' मुक्तक काव्य के सुन्दर उदाहरण हैं। फ़ारसी के कवि उमर खैयाम की रुबाइयों के जो हिन्दी अनुवाद हुए उनसे कवियों की रुचि इधर विशेष रूप से बढ़ी। अतः पद्मकान्त मालवीय और बच्चन ने हाला-प्याला का विषय लेकर चौपदों की रचना की। प्रसाद का 'आँसू' और बच्चन की 'मधुशाला' चौपदों की शैली में ही लिखे गये हैं अतः वे मुक्तककाव्य ही हैं।

इस युग में मुक्तककाव्य के नियमों को तोड़ कर उन्हीं छन्दों में लम्बी कवितायें अधिक लिखी गईं। उनमें कहीं छन्द-नियम अपनाया गया और कहीं केवल लय के आधार पर मुक्त-छन्द का विधान किया गया। इन लम्बे छन्दों में किसी बाह्य वस्तु का चित्रण अथवा किसी आख्यान का वर्णन किया गया है। वर्णनात्मक लम्बी कवितायें प्रलम्ब मुक्तक [long-verse] की ही श्रेणी में आती हैं। प्रसाद की 'पेशोला की प्रतिध्वनि', 'शेरसिंह का आत्मसमर्पण', 'अशोक की चिन्ता' और पन्त की 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' की अनेक कवितायें, निराला की 'राम की शक्ति की पूजा' 'नाचे उस पर श्यामा', और दिनकर का 'द्वन्द्व गीत' आदि कवितायें प्रलम्ब मुक्तक की श्रेणी में रखी जा सकती हैं।

अन्य काव्य-रूप

काव्य-रूपों की कोई सीमा नहीं हो सकती क्योंकि कवि सहज स्वच्छन्द होने के कारण नये-नये काव्य-रूपों का आविष्कार करते रहते हैं। प्रत्येक आधुनिक कवि नवीन भाव, नवीन भाषा, नवीन छन्द और लय तथा नवीन काव्य-रूपों के विधान के लिये सतत सचेष्ट रहता है और भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य से प्रेरणा ग्रहण करके नवीन शैलियों की उद्भावना करता रहता है। अतः ऊपर केवल अत्यधिक प्रचलित काव्य-रूपों के सम्बन्ध में ही विचार किया गया है। जिन काव्य-रूपों का अधिक प्रचार नहीं हुआ उनके सम्बन्ध में अधिक विचार अनावश्यक है। उदाहरण के लिये प्रगीत-प्रबन्ध, प्रबन्ध-नाट्य, चतुर्दशपदी (sonnet) पत्रगीति आदि काव्य-रूपों का प्रारम्भ तो अवश्य हुआ किन्तु उन्हें अधिक कवियों ने नहीं अपनाया। किसी प्रगीत मुक्तक में जब कोई कथा कही जाय तो उसे प्रगीत-प्रबन्ध कहेंगे। 'प्रसाद जी' की 'प्रलय की छाया' और निराला की 'तुलसीदास', पन्त की 'ग्रन्थि' आदि

कवितायें इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। पत्रगीतियों की रचना मैथिलीशरण गुप्त और निराला ने की। निराला का 'महाराज शिवाजी का पत्र' और गुप्तजी की 'पत्रावली' की कवितायें इसी शैली की हैं। चतुर्दशपदी पाश्चात्य गीतिकाव्य के भीतर आने वाले सानेट का अनुकरण है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कुछ सुन्दर चतुर्दशपदियों की रचना की थी जिसकी देखादेखी हिन्दी के आधुनिक कवि भी इस ओर प्रवृत्त हुए; किन्तु यह विदेशी शैली हिन्दी कविता की प्रकृति के अनुकूल नहीं थी, अतः वह अधिक प्रचलित न हो सकी।

अभिव्यक्ति—लक्ष्य और साधन

[रस, ध्वनि, वक्रोक्ति और अभिव्यञ्जना]

छायावादी कविता के सम्बन्ध में आलचकों और पाठकों की अनेक प्रकार की परस्परविरोधी धारणाएँ शुरू से रही हैं और आज भी हैं। इसका कारण यह है कि छायावाद का कोई ऐसा समर्थ आलोचक नहीं हुआ जो निष्पक्ष रूप से उसकी विशद व्याख्या करता तथा छायावाद के सैद्धान्तिक और कलात्मक पक्ष को सामान्य पाठकों के सामने उपस्थित करता। जो आलोचक हुए भी वे या तो प्रभाववादी और छायावाद के अन्धभक्त थे या छायावाद के विरुद्ध पूर्वग्रह तथा परम्परावादी और पक्षपातपूर्ण धारणा लेकर चलने वाले थे। अतएव छायावाद के सम्बन्ध में बहुत अधिक भ्रांतिपूर्ण धारणाएँ फैलीं जिनके निराकरण के लिये सभी प्रसिद्ध छायावादी कवियों को आलोचनात्मक निबन्धों के रूप में अपने विचार व्यक्त करने के लिये विवश होना पड़ा। उनके विचारों का सम्यक अध्ययन करने तथा छायावादी कविताओं को उनकी तुलना में रखकर देखने पर छायावाद की अभिव्यक्ति के लक्ष्य और साधन के सम्बन्ध में कुछ ऐसी निश्चित बातों का पता लगाया जा सकता है जिनकी तरफ न तो प्रभाववादी आलोचकों का ध्यान गया और न परम्परावादी आलोचकों का। छायावादी कवियों की विचारधारा का अध्ययन निम्नलिखित सामग्री द्वारा हो सकता है:—पन्त की 'आधुनिक कवि', 'पल्लव', 'गुंजन' और 'उत्तरा' की भूमिकायें, निराला की 'परिमल', 'गीतिका' की भूमिकाएँ और 'प्रबन्ध-प्रतिमा' के निबन्ध, प्रसाद का 'काव्यकला तथा अन्य निबन्ध', महादेवी की 'रश्मि' और 'आधुनिक कवि' की भूमिकायें और 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य', भगवतीचरण वर्मा की 'मानव' और 'मधुकण' की भूमिकायें आदि। इस तमाम सामग्री के अध्ययन से छायावादी कविता के सैद्धान्तिक पक्ष का यथार्थ परिचय प्राप्त होता है जो छायावाद-विरोधी आलोचकों की आलोचना में उनकी परम्परावादी दृष्टि के कारण नहीं पाया जा सकता।

अभिव्यक्ति के लक्ष्य और साधन की दृष्टि से छायावादी कविता में निम्नलिखित विशेषतायें दिखलाई पड़ती हैं:—

१—छायावादी कवियों का ध्यान भावनाओं की पूर्णाभिव्यक्ति की तरफ था, रस-पद्धति, अलंकार-सिद्धान्त आदि के पिष्टपेषण अथवा उदाहरण के लिये काव्य-रचना करने की ओर नहीं।

२—उन्होंने भारतीय साहित्यशास्त्र के ध्वनि और वक्रोक्ति सम्प्रदाय तथा पाश्चात्य अभिव्यंजनावाद के साहित्य-सिद्धान्तों का सम्यक अध्ययन करने के बाद कवितायें नहीं लिखीं।

३—फिर भी उनकी कविताओं में ध्वनि, वक्रोक्ति, अभिव्यंजना और रस का सुन्दर सामञ्जस्य दिखलाई पड़ता है यद्यपि प्राचीन काव्यरूढ़ियों की उनमें सर्वथा उपेक्षा की गई है।

४—छायावादी कविता में कला के प्रत्येक अंग में क्रान्तिकारी परिवर्तन की आकांक्षा और प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है जो पूंजीवाद के निरन्तर परिवर्तनशील सांस्कृतिक आधार के अनुरूप ही है।

५—छायावाद के विभिन्न कवियों की वृत्ति भिन्न होने के कारण उनकी शैली (गुण-रीति) में भी भिन्नता दिखलाई पड़ती है अर्थात उन्होंने परम्परागत शैली से भिन्न अपनी-अपनी व्यक्तिगत शैली का प्रादुर्भाव किया है।

रस और भाव-व्यंजना

पिछले अध्याय में कहा गया है कि छायावादी कविता की विषय-वस्तु और रूपविधान में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है और उसकी अभिव्यक्ति की शैली भी भावनाओं के अनुरूप ही वैचित्र्य-पूर्ण और व्यक्तिवादी है। इसका तात्पर्य यह है कि छायावादी कवियों का लक्ष्य अपनी अनुभूतियों को दूसरों तक ऐसे ढङ्ग से पहुँचाना है कि वे उसको यथावत ग्रहण कर सकें। इसीलिये छायावादी कवि रीतिवादी की तरह न तो पांडित्य प्रदर्शन ही करता है न रस-अलंकार आदि के परिपाटीविहित नियमों का ही पालन करता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि छायावादी कविता में रस-अलंकार आदि का अभाव है। यह अवश्य है कि कवि रस के चारों अवयवों—भाव, विभावभाव, संचारी भाव और अनुभाव का जानबूझ कर संयोग नहीं करता। व्यक्तिवादी अभिव्यंजना में इसके लिये अधिक अवसर भी नहीं रहता। कवि का लक्ष्य अपनी भावनाओं को दूसरों तक पहुंचा देना ही रहता है और यदि इसमें वह सफल हो जाता है तो किसी न किसी कोटि की रस-निष्पत्ति अवश्य हो जाती है। पुराने सामन्तवादी साहित्य-शास्त्र में कवि-कर्म मर्यादित था, अतः भावों के लिये विभावादिकों की स्पष्ट योजना आवश्यक थी। आलम्बनरूप में धीरोदात्त, धीरललित, धीर-

प्रशान्त और धीरोद्धत नायकों की, जो देवता, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि उच्च सामन्ती वर्ग के ही होते थे, आवश्यकता होती थी और उद्दीपन की बँधी-बँधाई लीक पर ही कवियों को चलना पड़ता था। संचारी भावों और अनुभावों की योजना भी वे आत्मानुभूति के आधार पर नहीं, ग्रन्थज ज्ञान के आधार पर करते थे। अतः उस काल की रस-व्यंजना की पद्धति आज के पूँजीवादी युग में उसी प्रकार नहीं अपनाई जा सकती थी। इसी कारण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को साधारणीकरण की नई व्याख्या करनी पड़ी जिसके अनुसार रस के कुछ अवयवों के अभाव में भी आलम्बन के साथ तादात्म्य द्वारा साधारणीकरण अथवा रसनिष्पत्ति होना संभव है। यहाँ रस को ब्रह्मानन्द-सहोदर अथवा अलौकिक न मानकर शुक्लजी ने उसे लौकिक किन्तु विलक्षण या असाधारण व्यापार ही माना है। दूसरे शब्दों में काव्य की रस-प्रक्रिया व्यक्ति को अपने सीमित घेरों से बाहर कर उसे लोकसामान्य भावभूमि पर पहुँचा देती है। इसी अर्थ में रसानुभूति लोकानुभूति से विलक्षण होती है। इसमें पाठक या श्रोता की वैयक्तिकता या लौकिकता का तिरोभाव हो जाता है। अतः रस अलौकिक नहीं लौकिक है, भले ही वह अन्य सांसारिक अनुभूतियों से भिन्न और विलक्षण प्रकार का हो।

इस दृष्टि से देखने पर छायावादी कविता में रसानुभूति का गुण पर्याप्त मात्रा में दिखलाई पड़ता है। आत्माभिव्यंजना की प्रवृत्ति के कारण इस युग में वस्तुगत कविता की रचना बहुत कम हुई। रस के चारों अवयवों के योग का विधान प्रबन्ध और मुक्तक काव्य में ही सफलता पूर्वक हो सकता है। प्रगीत मुक्तक और गीतिकाव्य में बहुधा कवि स्वयं आश्रयरूप में रहता है और वर्ण्यवस्तु कभी तो कविता में प्रकट रूप से रहती है और कभी उसका आरोप किया जाता है। रस के चारों अवयवों के पारस्परिक सम्बन्ध का स्वरूप ज्ञात हो जाने पर यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी। भरत मुनि के अनुसार भाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है। इसमें प्रयुक्त संयोग और निष्पत्ति इन दो शब्दों को लेकर विभिन्न आचार्यों ने भरत मुनि के मत की विभिन्न प्रकार की व्याख्या की। रसावयवों में स्थायीभाव तो मन की वे वासनायें या मनोविकार हैं जो मनुष्य के मन में स्वभावतः मलिन, सुषुप्त अथवा आवृत रूप में पड़े रहते हैं और आलम्बन और उद्दीपन विभावों के कारण जाग्रत या उद्दीप्त होते हैं। तत्पश्चात अन्य सहकारी भाव जो स्थायी भाव की सहायता के लिए उत्पन्न होते और उसमें लीन हो कर उसे पुष्ट करते रहते हैं, संचारी भाव कहलाते हैं। जिन शारीरिक चेष्टाओं की उत्पत्ति ऐसी दशा में होती है वे अनुभाव

कहलाते हैं। इस प्रकार सभी आचार्यों का यह मत है कि स्थायीभाव में ही रस का स्वाद छिपा रहता है जो विभावादिकों द्वारा निष्पन्न होता है। किन्तु विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव अकेले-अकेले रस की व्यञ्जना नहीं कर सकते क्योंकि एक ही विभाव, अनुभाव या संचारी भाव कई स्थायीभावों में आया करते हैं। अतः बिना स्थायीभाव के योग के वे अस्पष्ट और रसास्वाद कराने में असमर्थ होते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इन तीनों का संयोग सदा स्पष्ट या प्रकट रूप में दिखलाया जाता है। कभी-कभी वहाँ भी रसनिष्पत्ति होती है जहाँ केवल विभाव ही होता है अथवा केवल अनुभाव या केवल व्यभिचारीभाव ही होते हैं। कहीं-कहीं इन तीनों में से दो ही वर्तमान रहते हैं। उदाहरण के लिये आलम्बन और उद्दीपन विभाव को लीजिये। यदि वे किसी भावविशेष जैसे रति भाव से ही सम्बद्ध हों, किसी अन्य भाव की इनसे स्फुरणा न होती हो वहाँ भी रसनिष्पत्ति होती है। किन्तु जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ रसनिष्पत्ति में बाधा पहुँचती है। एक या दो ही अवयव के उपस्थित रहने पर शेष अवयवों का आक्षेप स्वयमेव हो जाता है। छायावादी कविता में यही बात अधिक दिखलाई पड़ती है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित कविता की परीक्षा कीजियेः—

लहर रही शशि-किरण चूम निर्मल यमुना-जल,
चूम सरित की सलिल-राशि खिल रहे कुमुद-दल।
कुमुदों के स्मित मंद खुले वे अधर चूम कर,
बही वायु स्वच्छंद सकल पथ घूम-घूम कर।
है चूम रही इस रात्रि को वही तुम्हारे मधु अधर,
जिनमें हैं भाव भरे हुए सकल-शोक-सन्ताप-हर।

[चुम्बन—निराला]

इसमें स्थायीभाव रति है, आलम्बन कवि का प्रिय है जिसके अधरों का वर्णन किया गया है। शेष बातें उद्दीपन के रूप में आयी हैं। इस तरह इसमें केवल विभाव का ही वर्णन है, पर शृङ्गार रस की निष्पत्ति हो जाती है। इसका कारण यह है कि प्रिय और चुम्बन का स्थायीभाव रति और शृंगार रस से घनिष्ठ सम्बन्ध है। आश्रय (कवि) में आलम्बन (प्रिय) के प्रति उद्दीपनों (चुम्बन-व्यापार) के कारण रतिभाव उद्दीप्त होता है।

किन्तु छायावादी कविता में सदैव एक या दो ही रसावयव के कारण रस-निष्पत्ति नहीं होती। कभी-कभी तीनों अवयवों के संयोग से स्थायीभाव को उद्दीप्त किया जाता है। निम्नलिखित कविता में तीनों अवयवों का योग स्पष्ट रूप से हुआ हैः—

यह तुम्हारा हास आया !
इन फटे से बादलों में कौन सा मधुमास आया ?
आँख से नीरव व्यथा के
दो बड़े आँसू बहे हैं।
सिसकियों में वेदना के
व्यूह ये कैसे रहे हैं ?
एक उज्ज्वल तीर सा रवि-रश्मि का उल्लास आया।

[रामकुमार वर्मा—चित्ररेखा]

इसमें 'तुम्हारा' शब्द से आलम्बन का बोध होता है। दूसरी पंक्ति में 'मधुमास' शब्द द्वारा प्रिय के हासजन्य सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। 'फटे से बादलों' द्वारा आश्रय (कवि) अपनी वियोगावस्था की ओर संकेत करता है। आँसू और सिसकी उसके अनुभाव हैं। 'रविरश्मि' का उल्लास कवि के हृदय में उमंग उत्पन्न करता है जो संचारीभाव है। इस प्रकार स्थायीभाव 'रति' उद्दीप्त होता है और शृंगार रस की निष्पत्ति होती है।

छायावादी कविता में रस-व्यंजना के अतिरिक्त रसाभास, भाव, भावाभास, भावशान्ति, भावसन्धि और भावशबलता की भी अभिव्यंजना हुई है, अतः उनके सम्बन्ध में भी विचार कर लेना उचित होगा।

भावानुभूति और भावाभास

भावों की उत्पत्ति और उनकी प्रेषणीयता के सम्बन्ध में रचना-प्रक्रिया वाले अध्याय में पर्याप्त विवेचन किया जा चुका है और बताया जा चुका है कि कवि किस प्रकार किसी वस्तु से प्रभावित होकर वाणी द्वारा उसकी अभिव्यक्ति करता है। उससे स्पष्ट है कि वस्तु के प्रति आकर्षण या रागात्मक सम्बन्ध के बिना काव्याभिव्यक्ति नहीं हो सकती। कवि जब बाह्य वस्तु का यथावत चित्रण करता है तो उसे स्वभावोक्ति कहते हैं और जब उस वस्तु का मन पर पड़ा हुआ प्रभाव व्यक्त किया जाता है तो वहाँ कवि का लक्ष्य भावानुभूति व्यक्त करना होता है। जब मन के भावों का नाम लेकर श्रोता या पाठक में उन भावों को जाग्रत करने का प्रयत्न किया जाता है तो वह काव्य नहीं, उपदेश या भाषण होता है जिसमें प्रभावोत्पादकता अधिक नहीं होती और यदि होती भी है तो बुद्धिजन्य होने के कारण उसे रस-कोटि में नहीं रखा जा सकता। जहाँ भावों का विश्लेषण किया जाता है वहाँ भी काव्य नहीं, मनोवैज्ञानिक या शास्त्रीय तथ्य का चित्रण ही होता है। इस प्रकार कवि-

कर्म का लक्ष्य भावों की व्याख्या करना या उपदेश देना नहीं, भावों के स्वरूप को विभावादिकों की सहायता से स्पष्ट करना रहता है जिससे भावानुभूति या रसानुभूति होती है। किन्तु कवि कभी-कभी शब्द-सौन्दर्य और वाग्वैचित्र्य द्वारा पाठकों का ध्यान आकर्षित करना अथवा भावों का ज्ञान प्रकट करना ही अपना लक्ष्य मान लेते हैं। ऐसी कविता से रस-निष्पत्ति पूर्णरूप से नहीं हो सकती क्योंकि वहाँ भावों को विभावादिकों के माध्यम से नहीं व्यक्त किया जाता। ऐसी कविताओं में अनुभूति की क्षीणता और विवेक की प्रबलता के कारण पाठक और आश्रय के बीच तादात्म्य सम्बन्ध नहीं स्थापित हो पाता, वहाँ तो कवि के समान पाठक में भी सहानुभूति, प्रशंसा, आश्चर्य आदि की भावनायें उत्पन्न होती हैं जिनसे पाठक का चित्त चमत्कृत, चकित, विचलित या आनन्दित हो उठता है। इसे ही भावाभास कहा जाता है, छायावादी कविता में कवि ही बहुधा आश्रय-रूप में रहता है; अतः वह शील-संकोचवश अपनी शारीरिक चेष्टाओं का अधिक वर्णन नहीं करता। बहुधा वह अपने आदर्शवादी दृष्टिकोण को ही काव्य में उपस्थित करना चाहता है, इसलिये अपनी स्वाभाविक वासना को छिपाता या प्रच्छन्न रूप से व्यक्त करता है; किन्तु परवर्ती छायावादी कवियों में आत्मगोपन की यह प्रवृत्ति नहीं दिखलाई पड़ती। वे आलम्बन से अधिक अपनी भावनाओं का चित्रण करते हैं। इन सब को हम भाव-व्यंजना कहेंगे। वस्तुतः व्यक्तिवादी युग में जब कि कवि अन्तर्मुखी, अहंवादी और व्यक्तिवादी होते हैं, रसव्यंजना से अधिक भावव्यंजना ही होती है। पहले ही कहा जा चुका है कि इस युग में आत्माभिव्यञ्जन की प्रवृत्ति के कारण प्रगीत-मुक्तकों और गीतों की ही रचना अधिक हुई जिनकी एक विशेषता लघुता (Brevity) है। ऐसी कविता में कथात्मक काव्य जैसी रमणीयता नहीं होती अर्थात मन को दूर तक एक ही भाव-दशा में रमाने का अवसर नहीं रहता; उसमें आलम्बन–उद्दीपन विभावों, संचारी भावों और अनुभावों के सम्यक चित्रण का भी अवसर नहीं रहता। इसलिये भी उसमें रस की पूर्ण व्यजना नहीं होती; हाँ, भावों की व्यंजना अवश्य होती है जो रसदशा की ही एक निम्न कोटि है। उसमें रस का अस्थायी आस्वादन होता है और हृदय की मुक्तावस्था देर तक टिकने वाली नहीं होती। आलम्बन या वर्ण्यवस्तु का संश्लिष्ट चित्रण न होने के कारण पाठक या श्रोता के मन में उसका बिम्बग्रहण भी नहीं होता; बहुधा संचारी भावों को ही प्रमुखता प्रदान कर चित्रण किया जाता है जिससे रसानुभूति नहीं हो पाती, केवल पाठक के मन में भाव का संचार हो जाता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित कवितायें अवलोकनीय हैं :—

[१]

कुछ अजब हैरान सा हूँ।
मैं जिधर को देखता हूँ
है उधर ही एक उलझन।
एक सीमा-बद्ध जीवन!
एक अभिलाषा पुलक सी
भावनामय एक स्पन्दन!
एक असफलता वहीं पर
फिर सिहरता एक क्रन्दन!

[मानव—भगवतीचरण वर्मा]

[२]

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले तेरे बाल-जाल में
कैसे उलझा दूँ लोचन,
भूल अभी से इस जग को?

[आधुनिक कवि—पन्त]

पहली कविता में जगत के वैषम्य से उत्पन्न निराशा, विरक्ति, किंकर्तव्य-विमूढ़ता आदि भावनायें गुम्फित रूप में व्यक्त की गई हैं। दूसरी में नारी और प्रकृति के प्रति उत्पन्न होने वाले आकर्षणों के बीच का द्वन्द्व चित्रित किया गया है। पाठक के मन में इन भावनाओं का संचार ये कवितायें सफलता पूर्वक करती हैं। इस तरह यहाँ भावानुभूति हो जाती है यद्यपि वह उच्चकोटि की रसानुभूति नहीं है। पाठक अपने मन में कवियों का समर्थन करता हुआ सोचता है, "बहुत ठीक लिखा है; ऐसा ही होता है, ऐसा ही होना चाहिए।"

रसाभास

जब रस की अनुचित प्रवृत्ति से अपूर्ण परिपाक होता है तो उसे रसाभास कहते हैं। विभावादि की अनौचित्यपूर्ण योजना से ऐसा होता है। गुरु-मुनि माता-पिता आदि की रति, पर स्त्री या पर पुरुषगत रति, जड़ या निरीन्द्रिय पदार्थों जैसे प्राकृतिक वस्तुओं में दाम्पत्य रति का आरोप, एकांगी प्रेम या पशु-पक्षीगत रति आदि का वर्णन लोकदृष्टि से अनुचित माना जाता था। जहाँ केवल भाव की अनुचित प्रवृत्ति होती है वहाँ भावाभास मात्र होता है, भावानुभूति नहीं। छायावादी कविता में रसाभास और भावाभास वाली कविताओं की

कमी नहीं है क्योंकि सामन्त-युग की लोकदृष्टि बदल जाने और ज्ञान-विज्ञान की नई दृष्टि मिल जाने से समाज और व्यक्ति की औचित्य-अनौचित्य विषयक धारणा भी बदल गई है। अतः पहले जो बातें अनुचित समझी जाती थीं अब वे उचित और पहले जो उचित समझी जाती थीं अब अनुचित समझी जाती हैं। प्रकृति में चेतना का आरोप होने के कारण निराला जुही की कली और पवन की रति-क्रीड़ा का वर्णन करते और प्रशंसित होते हैं:—

नायक ने चूमे कपोल,
डोल उठी बल्लरी की लड़ी जैसे हिण्डोल !

× × ×

निर्दय उस नायक ने निपट निठुराई की
कि झोंकों की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली
मसल दिये गोरे कपोल गोल

इस कविता में आज की दृष्टि से रसाभास नहीं रसानुभूति का गुण है। अगर यही बात कवि अपनी रति-क्रीड़ा के सम्बन्ध में कहता है तो आज की दृष्टि से वही रसाभास होता क्योंकि आज अपनी रति-क्रीड़ा का गोपन ही उचित माना जाता है। कुछ कवियों ने ऐसा किया है पर उससे शृंगार रस की जगह जुगुप्सा की भावना ही उत्पन्न होती है।

रसाभास और भावाभास की तरह भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता की भी छायावादी कविता में पर्याप्त व्यंजना हुई है। जहाँ एक भाव दूसरे भाव के आ जाने से शान्त होकर सौंदर्य उत्पन्न करता है वहाँ भाव शान्ति समझा जाता है। किन्तु जब एक भाव के शान्त हो जाने पर दूसरा भाव उदित होकर चमत्कार उत्पन्न करता है तो उसे भावोदय कहते हैं। रामकुमार वर्मा की ऊपर उद्धृत कविता भावोदय का सुन्दर उदाहरण है। जहां पर दो समान शक्तिवाले भावों की सन्धि हो वहां भावसन्धि होती है और जब एक-एक करके कई समान शक्ति-गुणवाले भावों का उदय और सम्मेलन हो वहाँ भावशबलता होती है। भावाभिव्यक्ति की ये प्रवृत्तियां प्रगीत मुक्तकों और गीतों में इसलिये अधिक दिखलाई पड़ती है कि उनमें थोड़े में अधिक कह देने की शक्ति और भावनाओं की सचाई होती है। मनोविज्ञान के अनुबन्ध-सिद्धान्त के अनुसार बहुधा भावनायें एक दूसरे से शृंखलित रहती हैं। कवि उनका यथातथ्य चित्रण करेगा तो अनेक भावनाओं का मनोवैज्ञानिक ढंग से

एक साथ मिलना बहुत स्वाभाविक है। निम्नलिखित कविता इसका उदाहरण है जिसमें अनेक परस्पर-विरोधी भावों के सम्मेलन से चमत्कार उत्पन्न होता है:—

प्रिय मैं हूँ एक पहेली भी!
जितना मधु जितना मधुर हास
जितना मद तेरी चितवन में!
जितना क्रन्दन जितना विषाद
जितना विष जग के स्पन्दन में?
पी-पी मैं चिर दुख-प्यास बनी
सुख-सरिता की रँगरेली भी!
मेरे प्रति रोमों में अविरत
झरते हैं निर्झर और आग,
करतीं विरक्ति - आसक्ति प्यार
मेरे श्वासों में जाग - जाग,
प्रिय मैं सीमा की गोद पली
पर हूँ असीम से खेली भी!

[नीरजा—महादेवी]

[२]

अब तक हमने छायावादी कविता पर रस-सिद्धान्त की दृष्टि से विचार किया। यदि ध्वनि-सिद्धान्त की दृष्टि से देखा जाय तो छायावादी कविता अधिक उत्कृष्ट ठहरती है।

ध्वनि

ध्वनि-सिद्धान्त काव्य में वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त एक तीसरी शक्ति—व्यंग्यार्थ—को मानता है। उसके अनुसार जिस काव्य में व्यंग्य अर्थ वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारक हो उसे ही ध्वनि कहते हैं और वही उत्तम काव्य है*। ध्वनिवादियों के अनुसार रस, गुण, रीति अलंकार सभी ध्वनि के अन्तर्गत आते हैं; यही नहीं, ध्वनि के अन्तर्गत रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि सभी अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। आनन्दवर्धनाचार्य के अनुसार रस व्यंग्य होता है। जिस तरह शरीर और आत्मा में शरीर का ज्ञान तो सबको होता है किन्तु आत्मा का ज्ञान साधारण बुद्धि वालों और विवेक बुद्धिवालों को भिन्न-भिन्न ढंग से होता है; साधारण बुद्धि वाले शरीरस्थ आत्मा (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) को ही जानते हैं किन्तु विवेकी शरीरातिरिक्त आत्मा को भी जानता है;

* वाच्यातिशयिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्। —साहित्य दर्पण

उसी तरह शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी है। शब्द का वाच्यार्थ या संकेतग्रह सभी जानते हैं किन्तु जब उसका शब्दातिरिक्त या प्रतीयमान अर्थ पाठकों को ज्ञात होता है तो उन्हें विलक्षण आनन्द की प्राप्ति होती है। यही काव्य का व्यंग्यार्थ है जिससे रस की प्रतीति होती है। इस प्रकार उन्होंने रस-निष्पत्ति के लिये विभावादि का रहना तो आवश्यक माना, किन्तु उनके प्रतिपादक शब्द को अधिक महत्व नहीं दिया। ध्वनि-काव्य में वाच्यविशेष या वाचकविशेष अपने को खोकर प्रतीयमान अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं अर्थात शब्द और अर्थ जहाँ व्यंग्य होते हैं वहीं काव्य में ध्वनि की उत्पत्ति होती है। परिणामस्वरूप अभिधा द्वारा उत्तम काव्य की सृष्टि नहीं हो सकती। लक्षणा भी ध्वनि नहीं है क्योंकि वह अभिधा से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध है, वह उसकी पूँछ की तरह है। किन्तु व्यञ्जना उससे आगे की वस्तु है। व्यञ्जना द्वारा ही ध्वनि की उत्पत्ति होती है। अलंकारों के सम्बन्ध में आनन्दवर्धन की राय यह है कि अलंकार शोभा के लिये हैं, वे साधनमात्र हैं; साध्य नहीं। अतः उनका व्यवहार अङ्गरूप में ही होना चाहिये, अङ्गीरूप में नहीं। ध्यान देने की बात यह है कि ध्वनिवादियों ने भी काव्य में रस को ही आनन्दप्रद पदार्थ माना है और इसीलिये व्यंग्यार्थ को ऊँचा स्थान दिया है क्योंकि उससे रस की अभिव्यक्ति होती है। व्यंग्य जब प्रधान पद पर आरूढ़ होता है तो जिस चमत्कार की उत्पत्ति होती है, वही ध्वनि है। चमत्कार का तात्पर्य यह है कि वह रमणीयता उत्पन्न करता है जिससे पाठकों की चित्तवृत्तियाँ वर्ण्यवस्तु में रमती और तल्लीन होती हैं। जिस अर्थ में रमणीयता नहीं होती उसमें पाठक का मन नहीं रम सकता। यहाँ रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द और उक्तिवैचित्र्य का भेद भी समझ लेना चाहिये। उक्तिवैचित्र्य में कल्पना द्वारा ऐसे पदों या शब्दों की योजना की जाती है जिनसे पाठक क्षण भर के लिए चकित होकर चौंक पड़ता है, उसके हृदय का स्पर्श और विकास नहीं होता। किन्तु रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द द्वारा जो चमत्कार उत्पन्न होता है उससे चित्त द्रवित होता है जैसे आग से लाह। द्रवित होने के उपरान्त पाठक का वर्ण्यवस्तु के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित होता और उसका चित्त कवि के भावों के साँचे में ढल जाता है। ध्वनि द्वारा ही ऐसी लोकोत्तर रमणीयता या चमत्कार की उत्पत्ति हो सकती है; उक्तिवैचित्र्य या अलंकृत पदयोजना द्वारा नहीं।

छायावादी कविता में लक्षणा और व्यंजना नामक शब्दशक्तियों से बहुत अधिक काम लिया गया है। शब्दशक्तियों के सम्बन्ध में आगे विचार किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि छायावादी कवियों ने अपनी सूक्ष्म

अनुभूतियों और परोक्ष आलम्बन के चित्रण में व्यंजना-शक्ति का सहारा अधिक लिया है जिससे उनकी कविता में ध्वनि का चमत्कार अधिक दिखलाई पड़ता है।

पहले ही कहा जा चुका है कि ध्वनिवादी रस-अलंकार आदि को भी ध्वनि के अन्तर्गत ही मानते हैं। इसलिए वस्तु, अलंकार और रस, तीनों में ध्वनि होती है। वे तीन भेद निम्नलिखित हैं:—

१—वस्तु-ध्वनि, २—अलंकार-ध्वनि, ३—रसादि-ध्वनि। इनमें से वस्तु ध्वनि और अलंकार-ध्वनि शब्द की शक्ति से उत्पन्न होती है। पर रसादि-ध्वनि कभी शब्द या अर्थ की शक्ति से नहीं उत्पन्न होती, क्योंकि रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि स्वयं किसी भी शब्द या अर्थ से वाच्य नहीं होते; वे तो विभावादिकों से व्यक्त होते हैं जिनकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। अतः रसादि-ध्वनि सभी रसात्मक काव्य में अनिवार्यतः होती है।

वस्तु-ध्वनि में अलंकाररहित वस्तु ध्वनित होती है। पर इसमें भी रागात्मक भाव या रस का योग किसी न किसी रूप में अपेक्षित रहता है। यदि ऐसा न हो तो अति साधारण वस्तु भी मात्र ध्वनि के कारण काव्य-श्रेणी में परिगणित हो जाय। वस्तु-ध्वनि दो प्रकार की होती है, अभिधामूलक शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि और अभिधामूलक अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि। अनेकार्थक शब्दों या अनेक भाव व्यक्त करने वाले अर्थों के कारण वस्तु-ध्वनि उत्पन्न होती है:—

(१)

ओ री मानस की गहराई!
तू सुप्त, शान्त, कितनी शीतल
निर्वात मेघ ज्यों पूरित जल!
नव मुकुर नीलमणि-फलक अमल,
ओ पारदर्शिका! चिरचंचल यह विश्व बना है परछाईं!

[प्रसाद—लहर]

(२)

प्रथम रश्मि का आना रंगिनि तूने कैसे पहचाना?
कहाँ-कहाँ हे बाल विहंगिनि, पाया तूने यह गाना?

[पन्त—वीणा]

पहली कविता में 'मानस' शब्द से पहले सरोवर और फिर हृदय का अर्थ ध्वनित होता है। दूसरी में कवि ने एक ही साथ कई अर्थों की योजना की है।

अलंकार-ध्वनि वहाँ होती है जहाँ अलंकार शब्द या अर्थ में वाच्य नहीं प्रत्युत् व्यंग्य होते हैं अर्थात वे वस्तु से ध्वनित होते हैं। वस्तु या अलंकार से जब व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण होता है तभी अलंकार-ध्वनि उत्पन्न होती है। इस प्रकार व्यंग्यभूत अलंकार अलंकार न रह कर स्वयं अलंकार्य हो जाता है। अलंकार तो रस को विभूषित करते हैं पर व्यंग्य अलंकार अन्य किसी को विभूषित न करके स्वयं विभूषित होते हैं। ध्वनिवादी ऐसे ही अलंकारों को उत्तम काव्य मानते हैं।

क्या कहती हो ठहरो नारी, संकल्प-अश्रु जल से अपने
तुम दान कर चुकी पहले ही जीवन के सोने से सपने !
नारी तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत-नग-पगतल में
पीयूष-स्रोत सी बहा करो जीवन के सुन्दर समतल में।

[कामायनी—लज्जासर्ग]

इसमें रूपक और उपमा अलंकार व्यंग्य हैं जो नारी के आत्मोत्सर्ग, विश्वास, जीवनदायिनी शक्ति आदि गुणों के महत्व को ध्वनित करते हैं। लज्जा कामायनी से कह रही है कि तुमने पुरुष के सम्मुख द्रवित होकर आत्मोत्सर्ग तो पहले ही कर दिया है, अब उसके जीवन को सुख-शान्ति और आनन्द से पूर्ण बनाओ; यही तुम्हारे जीवन की सार्थकता है।

ध्वनिवादियों ने ध्वनि के दो भेद किये हैं:—लक्षणामूला अथवा अविवक्षितवाच्य ध्वनि और अभिधामूला अथवा विवक्षितान्य परवाच्य ध्वनि। लक्षणामूला ध्वनि में वाच्यार्थ जब दूसरे अर्थ में संक्रमित हो गया होता है तो उसे अर्थान्तर संक्रमितवाच्य ध्वनि कहते हैं और जब अत्यन्त तिरस्कृत होता है तो उसे अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनि कहते हैं। किन्तु अभिधामूलाध्वनि में वाच्यार्थ तिरस्कृत नहीं होता बल्कि वांछित होते हुए भी अन्यपरक हो जाता है, इसीलिये इसका नाम विवक्षितान्य परवाच्य ध्वनि है। इसके भी दो भेद हैं, असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य और संलक्ष्यक्रम व्यंग्य। रस-भावादिकों में असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य होता है क्योंकि उनमें वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ का बोध इतनी शीघ्रता से होता है कि उसका क्रम लक्षित नहीं होता। संलक्ष्यक्रम व्यंग्य में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ के बोध का क्रम लक्षित नहीं होता जैसे घंटा बजने के 'टन' की आवाज के बाद उसकी गूंज धीरे-धीरे आती रहती है। इसके तीन भेद होते हैं १—शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि, २—अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि, ३—उभयशक्त्युद्भव ध्वनि*। इस प्रकार लक्षणामूला

* भेदौ ध्वनेरपि द्वावुदीरितौ लक्षणाभिधामूलौ।
अविवक्षित वाच्योऽन्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्च ॥ २ ॥

और अभिधामूला ध्वनि के अनेक भेदोपभेद किये गये हैं जिनकी संख्या ५१ है। यहाँ उन सबका लेखा उपस्थित करना अनावश्यक है। छायावादी कविता में ध्वनि की बहुलता है अतः यहाँ उसके मोटे-मोटे भेदों का विवेचन कर दिया गया है। उनके कुछ उदाहरण देकर यह प्रसंग समाप्त किया जायगा।

अर्थान्तरसंक्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनि

इसमें मुख्यार्थ के बाधित होने पर वाच्य पद या वाक्य उपादानलक्षणा द्वारा दूसरे अर्थ में संक्रमित हो जाते हैं:—

देखते देखा मुझे तो एकबार
उस भवन की ओर देखा छिन्नतार;
देख कर कोई नहीं,
देखा मुझे उस दृष्टि से
जो मार खा रोई नहीं;
सजा सहज सितार,
सुनी मैंने वह नहीं जो थी सुनी झंकार।
एक क्षन के बाद वह काँपी सुघर
ढुलक माथे से गिरे सीकर
लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा
"मैं तोड़ती पत्थर।"

[निराला]

इसमें अन्तिम वाक्य में वाच्यार्थ बाधित है। वह यह नहीं कहती कि मैं पत्थर तोड़ती हूँ बल्कि यह कहती है कि मुझ में और तुममें बहुत अन्तर है; मैं गरीब मजदूरनी हूँ, तुम अमीर हो; मैं दया की भिखारिणी नहीं हूँ, परिश्रम की रोटी खाती हूँ; मैं कोमल नहीं कठोर हृदय वाली हूँ। इस तरह 'मैं तोड़ती पत्थर' वाक्य कई ऐसे अर्थ व्यक्त करता है जो वाच्यार्थ से भिन्न हैं।

अर्थान्तरं संक्रमिते वाच्येऽत्यन्त तिरस्कृते।
अविवक्षितवाच्योऽपि ध्वनिर्द्वैविध्यमृच्छति ॥ ३ ॥
विवक्षिताभिधेयोऽपि द्विभेदः प्रथमं मतः।
असंलक्ष्यक्रमो यत्र व्यंग्यो लक्ष्यक्रमस्तथा ॥ ४ ॥
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थे व्यंग्येऽनुस्वान संनिभे।
ध्वनिलक्ष्यक्रमव्यंग्यस्त्रिविधः कथितो बुधैः ॥ ६ ॥

[साहित्य दर्पण—चतुर्थ परिच्छेद]

अत्यन्त तिरस्कृत अविवक्षितवाच्य ध्वनि

इसमें मुख्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार हो जाता है। इसके मूल में लक्षण-लक्षणा होती है। यह भी पदगत और वाक्यगत दो प्रकार की होती है।

> बाँधा है विधु को किस ने इन काली जंजीरों से?
> मणिवाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से?
>
> [आँसू—प्रसाद]

इसमें विधु का अर्थ मुख और जंजीरों का लटें है। इन शब्दों का मुख्यार्थ सर्वथा तिरस्कृत है, यहाँ गुण या लक्षण-साम्य के कारण अन्य अर्थ ध्वनित होता है। अतः यहाँ पदगत अत्यन्ततिरस्कृत अविवक्षितवाच्य ध्वनि है।

> उड़ गया अचानक लो भूधर, फड़का अपार पारद के पर।
> रवशेष रह गये हैं निर्झर, है टूट पड़ा भू पर अम्बर।
> धँस गये धरा में सभय शाल, उड़ रहा धुँवा जल गया ताल।
>
> [पन्त]

इसमें वाक्यों का मुख्यार्थ अत्यन्त तिरस्कृत है। पहाड़ उड़ नहीं सकते न उनके पंख ही होते हैं, आकाश धरती पर टूट कर नहीं गिर सकता न ताल जल सकता है। अतः मुख्यार्थ के बाधित होने पर यह व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है कि कुहरे या बादलों से पहाड़ देखते-देखते ढँक गये, शाल, निर्झर, ताल सभी छिप गये, ताल के ऊपर कुहरा धुँवा को तरह लगने लगा जैसे उसमें आग लग गई हो। इस तरह यहाँ वाक्यगत अत्यन्ततिरस्कृत अविवक्षितवाच्य ध्वनि है।

असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि

इसके उदाहरण रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावशबलता, भावसन्धि और भावशान्ति हैं। इनके भेद-प्रभेद अनन्त हो सकते हैं, अतः इन सब को एक ही मान लिया गया है। रस-भावादिकों का विवेचन पहले हो चुका है। जहाँ भी वे होते हैं वहाँ असंलक्ष्यक्रम विवक्षितान्य परवाच्य ध्वनि होती है। इस की अभिव्यक्ति छः प्रकार की होती है—पदगत, वाक्यगत, रचनागत, वर्णगत और प्रबन्धगत।

शब्दशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि

जहाँ ऐसे शब्दों का प्रयोग हो कि उस जगह उनके अतिरिक्त अन्य पर्यायवाची शब्दों से व्यंग्यार्थ का बोध न हो वहीं यह ध्वनि होती है:—

क्या कहती हो ठहरो नारी, संकल्प-अश्रुजल से अपने,
तुम दान कर चुकी पहले ही जीवन के सोने से सपने !

[कामायनी-लज्जासर्ग]

इसमें 'नारी'' संकल्प' और 'दान' शब्दों से व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है; उनके पर्यायवाची शब्द स्त्री, विश्वास और देने से वह ध्वनि नहीं निकल सकती क्योंकि 'दान' में 'संकल्प' करने के समान ही नर की सहधर्मिणी 'नारी' का आत्म-समर्पण-कार्य होता है। पर्यायवाची शब्दों से यह अर्थ-चमत्कार नहीं उत्पन्न हो सकता था।

अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि

जहाँ किसी शब्द के पर्यायवाची शब्द रख देने पर भी अर्थ के कारण व्यंग्य होता है वहीं यह ध्वनि होती है। इसके तीन भेद होते हैं १—स्वतः सम्भवी २—कवि प्रौढोक्ति मात्रसिद्धि ३—कवि निबद्धपात्र प्रौढोक्तिमात्रसिद्धि।

रवि-शशि लटके रहें शून्य में, उसमें सार भरा था।
धन्य धरा ने ही उस धन का गौरव-भार धरा था।

[द्वापर-मैथिलीशरण गुप्त]

इसमें कृष्ण को रवि-शशि से अधिक गौरवपूर्ण कहा गया है क्योंकि वे आकाश में हल्के गुब्बारों की तरह लटके हैं और कृष्ण पृथ्वी पर हैं क्योंकि वे गौरवपूर्ण (गुरु) हैं। ध्वनि यह है कि पृथ्वी की आकर्षणशक्ति भारी वस्तुओं को ही खींचती है, हलकी को नहीं। कृष्ण ने पृथ्वी पर अवतार लिया है मानो वे खिच कर स्वर्ग से पृथ्वी पर आ गये। यहाँ व्यतिरेक अलंकार से वस्तु व्यंजित हुई है, अतः वाक्यगत स्वतःसम्भवी अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रम ध्वनि है।

धूम धुँआरे काजर कारे हम ही बिकरारे बादर।
मदन राज को वीर बहादर पावस के उड़ते फणधर !

[पन्त]

बादलों को कामदेव का वीर सैनिक और पावस के उड़ते सर्प कहा गया है। यह कवि-कल्पित वस्तु है पर वाच्यार्थ से बादलों का वियोग में संताप देने और कामोद्दीपन करने का अर्थ ध्वनित होता है। इसमें वाक्यगत कविनिबद्ध-पात्र-प्रौढोक्तिमात्रसिद्धि नामक अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रम ध्वनि है।

उभयशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि

जहाँ शब्द और अर्थ दोनों से व्यंग्य उत्पन्न हो अर्थात कुछ शब्दों के

पर्याय उसी अर्थ को व्यक्त करें और कुछ के नहीं, वहाँ यह ध्वनि होती है। अलग से उदाहरण देने की कोई आवश्यकता नहीं है।

रस या ध्वनि सम्प्रदाय वालों ने काव्य की भावात्मक या रसात्मक सत्ता ही मानी और उसका लक्ष्य अलौकिक आनन्द का उद्रेक अथवा चमत्कारपूर्ण रमणीयता द्वारा विलक्षण आनन्द की प्राप्ति माना; अतः उनके अनुसार शब्द और अर्थ दोनों में ही चमत्कार होना चाहिये, और शब्द-चमत्कार अर्थ-चमत्कार से बढ़कर और अर्थचमत्कार शब्द-चमत्कार से बढ़कर होना चाहिये। इसके विपरीत वक्रोक्ति सम्प्रदाय वालों का कथन यह था कि विलक्षण या कुटिल उक्ति द्वारा ही आनन्द की उपलब्धि हो सकती है। वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने 'वैदग्ध्यभङ्गीभणिति' को ही काव्य का प्राण माना। उनके अनुसार साधारण कथन या उक्तिवैचित्र्य ही प्रधान है जो शब्द और अर्थ दोनों में हो सकता है। कुन्तक का कहना है कि मनोभावों की अभिव्यक्ति के लिए प्रचलित मार्ग को छोड़कर नवीन और विलक्षण मार्ग का अवलम्बन करना ही कवि का प्रधान गुण है। एक ही भाव के लिए साधारणतया अनेक शब्दों का व्यवहार किया जाता है किन्तु कवि ऐसे ही शब्द का प्रयोग करता है जो उस विवक्षित भाव को ठीक-ठीक प्रकाशित कर सके। वह भाव स्वयं सुन्दर और आह्लादकारी होना चाहिये और उसके वाचक शब्द को भी उसके अनुरूप ही विशिष्ट होना चाहिये। दोनों की विशिष्टता या विलक्षणता ही वक्रोक्ति है *। वक्रोक्ति को अलंकार रूप में भी अनेक आचार्यों ने माना है किन्तु उसमें वक्ता के कथन को श्रोता श्लेष और काकु द्वारा अन्य अर्थ में ग्रहण करता है। इसलिए उन्होंने श्लेषवक्रोक्ति और काकुवक्रोक्ति अलंकार का विधान किया, जो शब्दालंकार के अन्तर्गत ही हैं। किन्तु वक्रोक्ति में शब्द और अर्थ दोनों में ही वक्रता होती है, वक्रोक्ति-अलंकार की तरह केवल शब्द में नहीं। वक्रोक्ति को कुन्तक ने छः प्रकार का माना है—(१) वर्णविन्यास-वक्रता, (२) पदपूर्वार्ध-वक्रता, (३) पदपरार्ध-वक्रता, (४) वाक्य-वक्रता, (५) प्रकरण-वक्रता, (६) प्रबन्ध-वक्रता। अनुप्रास और यमक शब्दालंकारों में वर्णविन्यास-वक्रता दिखलाई पड़ती है। वर्णों के समुदाय से शब्द या पद बनता है जिसके प्रकृति और प्रत्यय दो भाग होते

---

* (१) वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्। (२) वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते।
—"वक्रोक्तिजीवित"—कुन्तक

*शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि। अर्थः सहृदयाह्लादकारि स्वस्पन्दसुन्दरः॥

हैं। अतः कुन्तक के अनुसार पद के पूर्व में निवास करने वाली वक्रता पदपूर्वार्ध-वक्रता और उत्तरार्ध में होने वाली पदपरार्ध-वक्रता या प्रत्यय-वक्रता है। पदपूर्वार्ध-वक्रता के अन्तर्गत रूढ़ि, पर्याय, उपचार, सम्वृति, भाव और क्रिया की वक्रता होती है। उसी तरह पदपरार्ध वक्रता में भी काल, कारक, संख्या आदि की वक्रताओं का विवेचन किया गया है। पदों के योग से ही वाक्य का रूप बनता है; अतः वाक्य-वक्रता के असंख्य भेद हो सकते हैं। वाक्यों के समूह से प्रकरणों का निर्माण होता है और प्रकरण प्रबन्ध का ही अंग है। इस तरह प्रकरण-वक्रता और प्रबन्ध-वक्रता घनिष्ठरूप से सम्बद्ध हैं। प्रबन्ध-वक्रता द्वारा ही रसनिष्पत्ति या आनन्दप्राप्ति होती है।

इस प्रकार वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने रस, अलंकार, ध्वनि, गुण, रीति, सबको वक्रोक्ति के ही भीतर समेट लिया और उसे ऐसा व्यापक रूप दे दिया जिससे काव्य का कोई भी अंग अछूता नहीं रह सकता था। किन्तु आश्चर्य की बात है कि कुन्तक का वक्रोक्तिवाद इतना व्यापक होते हुये भी प्रचलित नहीं हुआ और अधिकांश अचार्यों ने उसे अलंकाररूप में ही स्वीकार किया। काव्य में भी वक्रोक्तिवाद छायावाद-युग के पहले तक नहीं प्रचलित हुआ। कारण यह है कि कुन्तक व्यक्तिवैचित्र्यवादी थे। व्यक्तिवैचित्र्यवाद काव्य में तभी पूर्णरूप से प्रचलित हो सकता है जबकि समाज में व्यक्तिवाद का प्राधान्य हो, अर्थात सामन्तवादी समाज-व्यवस्था की जगह पूँजीवादी समाज-व्यवस्था कायम हो गई रहे। सामन्ती समाज में लोकसामान्य भाव और भाषा का तिरस्कार कर के विलक्षण भावों और विचित्र वाग्विदग्धता का विधान नहीं हो सकता था। यही कारण है कि 'वक्रोक्तिजीवित' के व्यापक और सम्पूर्ण सिद्धान्त-विवेचन के बावजूद भारतीय काव्य-परम्परा में वक्रोक्तिवाद की व्यापकता नहीं दिखलाई पड़ती। छायावादी कविता पूँजीवादी, अतः व्यक्तिवादी कविता है; इसलिए उसमें वक्रोक्ति की प्रवृत्ति बहुत अधिक दिखलाई पड़ती है। किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि छायावादी कवियों ने वक्रोक्तिवाद का अध्ययन कर के काव्यरचना नहीं की। पाश्चात्य साहित्य और उर्दू तथा बँगला साहित्य से, जिनमें वक्रोक्ति की अधिकता थी, वे अवश्य प्रभावित हुए। पश्चिम में पूँजीवादी व्यक्तिवाद का प्रारम्भ पहले हुआ जिससे व्यक्तिवैचित्र्यजन्य वक्रोक्ति की पद्धति का प्रचार अधिक हुआ। अपने देश में भी वैसी परिस्थिति उत्पन्न होने पर पाश्चात्य वक्रोक्तिवाद (कल्पनावाद) से प्रभावित होकर काव्य-रचना करना स्वाभाविक ही था। छायावादविरोधी आलोचकों ने इस प्रवृत्ति को पश्चिम का अन्धानुकरण कहा, किन्तु ऐसा कहते समय वे कुन्तक

के भारतीय वक्रोक्तिवाद को बिलकुल भूल गये। जयशंकर प्रसाद ने ही वक्रोक्तिवाद के आधार पर छायावाद की इस प्रवृत्ति का विश्लेषण ठीक ढंग से किया। उनके अनुसार "ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषतायें हैं।"* ये सब प्रवृत्तियाँ व्यक्तिवाद की देन हैं और उन्हें कुन्तक के वक्रोक्तिवाद में भी पाया जा सकता है। वस्तुतः वक्रोक्तिवाद का विवेचन कृति या कर्त्ता को दृष्टि में रखकर किया गया था, जब कि अन्य सिद्धान्तों का विवेचन सामाजिक अथवा श्रोता को ध्यान में रखकर किया गया। वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद दोनों ही कवि या कर्त्ता के व्यक्तिवैचित्र्य को स्वीकार करते हैं, काव्य का रसास्वादन करने वाले सामान्य लोगों की ग्राहिका शक्ति का विचार नहीं करते।

अभिव्यञ्जनावाद

वर्तमान युग में वक्रोक्तिवाद का नवीन संस्करण अभिव्यंजनावाद के रूप में योरप में हुआ जिसकी स्थापना दर्शन और मनोविज्ञान के आधार पर हुई। वहाँ उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब पूँजीवाद की असंगतियाँ बहुत बढ़ गईं और मध्यवर्गीय स्वतन्त्रता का भ्रम टूटने लगा तो व्यक्ति की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति भी बहुत बढ़ गई। फलस्वरूप व्यक्तिवाद विकृत होकर असामाजिकता और वैचित्र्यवाद के रूप में बदलने लगा। वस्तुतः यह फैशन की प्रवृत्ति नहीं बल्कि पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था के बन्धनों से मुक्ति पाने के लिये कवियों की पराजयजनित पलायन की प्रवृत्ति थी जो प्रतीकवाद, अभिव्यञ्जनावाद (Expressionism), प्राकृतिकवाद, मूर्तिमत्तावाद (Imagism), अतियथार्थवाद (Sur-realism आदि के रूप में प्रकट हुई। काव्य में अभिव्यञ्जनावाद का तात्पर्य यह है कि काव्य या कला में अभिव्यञ्जना ही सब कुछ है, अभिव्यंग्य वस्तु का कोई महत्व नहीं है। यही सिद्धान्त "कला कला के लिये" के रूप में प्रचलित हुआ। इसके अनुसार काव्य में व्यंग्यार्थ कुछ भी नहीं होता, चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति ही सब कुछ होती है। अतः कविता का अर्थ नहीं ढूंढना चाहिये, उसके शब्दगत चमत्कार या प्रभाव को ही देखना चाहिये। इस प्रकार अभिव्यञ्जनावादियों ने काव्य में भावपक्ष और बुद्धिपक्ष का तिरस्कार करके केवल वैचित्र्यपूर्ण कलापक्ष का ही समर्थन किया। उन्होंने वाच्य को नहीं, वाचक को ही लक्ष्य मान लिया। इसके लिये उन्होंने यह दलील पेश की कि कला सहजज्ञान या स्वयंप्रकाश ज्ञान

* काव्यकला तथा अन्य निबन्ध—पृष्ठ ९३

(intution) की देन है, उसका चेतना, मन, बुद्धि, भावना आदि से कोई सम्बन्ध नहीं।

इस सिद्धान्त का प्रतिपादक इटली का दार्शनिक क्रोचे (Croce) था। उसने अपनी पुस्तक "सौन्दर्य-शास्त्र" (Aesthetics) में अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि कलात्मक ज्ञान मनुष्य की संकल्पात्मक वृत्ति से सम्बन्ध रखता है, विकल्पात्मक वृत्ति से नहीं। मानसिक और शारीरिक चेष्टाओं और प्रक्रियाओं—इन्द्रियज्ञान, प्रज्ञा, समवेदना, भावना, चिन्ता, क्रिया आदि—से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। कलासम्बन्धी ज्ञान स्वयंप्रकाशित, कल्पनाजन्य और किसी विशेष वस्तु का ज्ञान है। मूर्तभावना या कल्पना आत्मा की वह क्रिया है जो अपने आप होती रहती है। बाह्यगोचर जगत की सभी वस्तुयें द्रव्य की तरह हैं जो आत्मा के विभिन्न सौन्दर्य-साँचों में ढल कर प्रातिभज्ञान द्वारा मूर्तरूप में व्यक्त होती हैं। अतः कवि के लिये बाह्य वस्तुओं का, जिनके प्रत्यक्षीकरण द्वारा भावना आदि की उत्पत्ति होती है, कोई महत्व नहीं है क्योंकि वे जड़-निष्क्रिय द्रव्य की तरह हैं। वह जिन वस्तुओं का सौन्दर्य चित्रित करता है वे आत्मा के साँचों में ढली हुई, उसकी आत्मा की निर्मिति हैं। चूंकि बाह्य जगत का रूप परिवर्तनशील है और उसे ही कवि द्रव्य के रूप में ग्रहण करता है, अतः उसकी निर्मिति अर्थात कला भी विविधतापूर्ण और अनेकरूपिणी होती है। इस प्रकार कला में आत्मिक साँचा (Form) ही सब कुछ है, उसमें ढलने वाला द्रव्य या वस्तु कुछ भी नहीं। उस साँचे में वस्तु के ढलने की क्रिया का नाम ही कल्पना है। अतः कल्पना ही शब्द या वाचक के रूप में बाहर अभिव्यक्त होती है। क्रोचे ने इस सिद्धान्त द्वारा अभिव्यक्तिसम्बन्धी विविध वादों के ऊपरी भेद को हटा कर वक्रोक्तिवादियों की तरह सबको अभिव्यंजनावाद की सीमा में समेट लिया और सिद्ध किया कि कला में यदि सच्ची अभिव्यक्ति हुई है तो यही उसकी सफलता के लिये पर्याप्त है; उसमें रस, अलंकार, ध्वनि, शिवत्व-अशिवत्व ढूंढ़ना व्यर्थ है। उसने यह भी कहा कि सौन्दर्य बाह्यगोचर वस्तु में नहीं, अभिव्यंजना में ही होता है अर्थात प्रातिभज्ञान वाला कवि ही सुंदर कला का निर्माण कर सकता है, परिश्रमसाध्य कला में कभी भी अभिव्यक्ति की सुन्दरता नहीं आ सकती। प्रभविष्णुता या रसानुभूति के सम्बन्ध में उसका मत है कि कलात्मक अनुभूति-अनुभूति का आभास मात्र है क्योंकि उसका सम्बन्ध कला के साँचे से होता है, वस्तु या तथ्य से नहीं। जहाँ वस्तु या तथ्य का चित्रण हो उसे कला नहीं समझना चाहिये। क्रोचे दो प्रकार का यथार्थ मानता है; एक तो वह है जो व्यक्ति के मन के बाहर स्वतंत्र रूप में होता है

और दूसरा वह जो मन के भीतर होता है। अतः बाह्य गोचर जगत की वस्तुओं का मन के बाहर कोई अस्तित्व नहीं है, मन अपने काम के लिए उनकी कल्पना कर लिया करता है। प्रातिभज्ञान या कल्पना द्वारा ही अलग-अलग वस्तुओं के रूप ढलते हैं। ये रूप ही अभिव्यञ्जना हैं। इस प्रकार अभिव्यञ्जना बाह्य नहीं आन्तरिक है अर्थात वह प्रातिभज्ञान ही है; प्रभाव (Impression) से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रभाव ऐन्द्रिक ज्ञान (sensation) और अनुभूतियों पर आधारित है, अतः वह यांत्रिक, शरीर-स्वभावजन्य और निष्क्रिय (Passive) होता है। इसके विपरीत प्रातिभज्ञान सक्रिय होता है क्योंकि वह प्रभाव को बदल कर उसे नये रूप में अभिव्यक्त करता है। आत्मा में वह प्रातिभज्ञान कृति, निर्मिति या अभिव्यक्ति के रूप में उदित होता है। उदाहरण के लिये कवि जब किसी वस्तु को देख कर केवल संवेदना का अनुभव करता है उस समय प्रातिभज्ञान का उदय नहीं होता। प्रातिभज्ञान तब होता है जब वस्तु सम्पूर्ण रूप से कवि को दृष्टिगत हो जाती है अर्थात उसके मन में उस वस्तु की अभिव्यक्ति हो जाती है। तात्पर्य यह कि आत्मा के भीतर ही साँचा तैयार होता है और संवेदना आदि सामग्री उसी में ढल कर रूप ग्रहण करती है। प्रातिभज्ञान आत्मा की अभिव्यञ्जक क्रिया है जो उसे साँचा प्रदान करती है। यही क्रिया संवेदनाओं और संवेगों के दबाव के ऊपर नियन्त्रण और शासन करती है। कवि उनको अभिव्यक्त करके प्रभावों से अपने को मुक्त करता है। इस तरह कविता या कला प्रातिभज्ञान या प्रभावों की मानसिक अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

ध्यान देने की बात यह है कि क्रोचे यह नहीं कहता कि जीवन की यथार्थ अनुभूतियों और कलात्मक अनुभूतियों में कोई गुण-भेद है। उसके अनुसार दोनों में केवल मात्रा-भेद है। कोई भी प्रभाव या जीवनानुभूति काव्य-कला की सामग्री बन सकती है यदि कवि-कलाकार उसे सम्पूर्ण रूप में देखें यानी उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति अपने मन में कर लें। सामान्य व्यक्ति और कवि में केवल प्रातिभज्ञान की अभिव्यक्ति का भेद है अर्थात काव्यवस्तु के कारण कविता कविता नहीं है, प्रातिभ दृष्टि या अभिव्यक्ति में ही उसकी विशेषता निहित है। इसीलिये क्रोचे के सिद्धान्त को मानने वाले प्रभाववादी (Impressionist) आलोचक स्पिंगार्न (I. E. Spingarn) ने कहा है कि सच्चा कवि काव्य सम्बन्धी कोई नियम मान कर नहीं चल सकता। प्रत्येक कविता या कलात्मक रचना अपने विशिष्ट नियम से अनुशासित होती है। अतः किसी बाहरी सिद्धान्त या नियम के अनुसार उसकी परीक्षा नहीं होनी चाहिये। साहित्य

में क्लासिकल-रोमाण्टिक, गीतिकाव्य-प्रबन्ध, उपन्यास और नाटक आदि के भेद और उनके अलग-अलग नियम नहीं हो सकते। साहित्यकार कविता, कहानी आदि नहीं लिखता, वह तो मात्र अपने को अभिव्यक्त करता है। अतः साहित्य के उतने ही भेद हो सकते हैं जितने साहित्यकार हैं। उसी तरह काव्य की अभिव्यञ्जना में शैली, अलंकार, गुण आदि भेदों का भी कोई स्थान नहीं है। काव्य मात्र अभिव्यञ्जना है और वह अपने में ही पूर्ण है। नैतिकता, राजनीति, धर्म आदि के शास्त्रीय नियमों की दृष्टि से कविता, साहित्य या कला की वस्तुओं को नहीं देखना चाहिये। सफल अभिव्यक्ति ही काव्य का सौन्दर्य है।

अब यह भी देख लेना चाहिये कि पाठक या दर्शक की रसानुभूति या भावानुभूति के सम्बन्ध में क्रोचे के क्या विचार हैं। वह मानता है कि काव्य, चित्र, मूर्ति आदि के रूप में बाह्य अभिव्यक्ति हो जाने पर कला-कला नहीं रह जाती। जब तक अभिव्यक्ति कलाकार की आत्मा के भीतर रहती है तभी तक वह कला है। बाह्याभिव्यक्ति कला नहीं है क्योंकि उसकी प्रक्रिया बुद्धि से परिचलित होती है*। फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि वह कला नहीं रह जाती तो लोग उसमें आनन्द क्यों लेते हैं। इसका उत्तर देते हुए क्रोचे कहता है कि बाह्याभिव्यक्ति केवल पाठक की स्मृति को जाग्रत करने और शारीरिक उत्तेजना प्रदान करने वाली वस्तु है। यह अवश्य है कि बाह्याभिव्यक्ति के माध्यम से ही कलाकार अपने प्रातिभज्ञान या आन्तर अभिव्यक्ति को पुनः रूपायित करता है। उस बाह्य अभिव्यक्ति के द्वारा पाठक उस उच्च मानसिक भूमिका में पहुँच जाता है जहाँ वह भी पहले कभी प्रातिभज्ञान द्वारा पहुँच चुका था। उसी बात को याद कर के

---

*"If after this we should open our mouths and will open them to speak or our throats to sing, and declare in a loud voice and with extended throat what we have completely said or sung to ourselves;........... This is all an addition, a fact which obeys quite different laws from the first....... This second movement is a production of things, a practical fact or a fact of will......The work of art is always internal and that which is called external is no longer a work of art."

[Aesthetics—V. Crocc.]

वह आनन्दित हो उठता है। कारण यह है कि प्रत्यक्ष या बिम्ब विभिन्न व्यक्तियों में एक ही प्रकार का प्रातिभज्ञान उत्पन्न करता है। अतः कविता पढ़कर उसके बिम्बों से पाठक की आत्मा में भी वही प्रातिभज्ञान उदित होता है जो कवि के मन में उदित हुआ था। उस समय पाठक अपने को उठा कर कवि की भूमिका में पहुँचा देता है। इसके लिए क्रोचे पाठकों की कल्पना को भी संस्कारयुक्त होना आवश्यक मानता है अन्यथा उनमें प्रातिभज्ञान नहीं उदित हो सकता।

विचार करने पर ज्ञात होगा कि क्रोचे के सिद्धान्त में अन्तर्विरोध है। साथ ही उसने नयी पारिभाषिक मान्यताओं द्वारा अनेक गड़बड़ियाँ उत्पन्न की हैं। साधारणतया अभिव्यक्ति का अर्थ बाह्याभिव्यक्ति ही माना जाता है पर वह उसे आन्तरिक मानता और बाह्याभिव्यक्ति को उसकी भौतिक अनुकृति मात्र कहता है। वह एक ओर तो कला को आन्तरिक और वैयक्तिक मानता है और दूसरी ओर रसानुभूति के लिए कवि के साथ पाठक का तादात्म्य या तद्‌गुण होना भी आवश्यक मानता है। एक तरफ तो वह कला की सामग्री को अन्य जीवनानुभूतियों से भिन्न नहीं मानता, दूसरी ओर उसे बाह्य जगत से असम्बद्ध और स्वतंत्र भी स्वीकार करता है। फिर भी उसके सिद्धान्त में कुछ बातें पते की और भारतीय सिद्धान्तों के मेल में हैं। उसका यह मत उचित है कि काव्य आत्माभिव्यक्ति का एक रूप है और वह इन्द्रियजन्य ज्ञान से भिन्न, नवीन निर्माण है। रसानुभूति के सम्बन्ध में भी उसका मत ग्राह्य है; पर उसकी यह बात अस्वीकार्य है कि काव्य में वस्तुतत्व या वर्ण्यवस्तु का कुछ भी मूल्य नहीं है, अभिव्यंजना ही सब कुछ है। उसने जो गड़बड़ी उत्पन्न की उससे कला और साहित्य के क्षेत्र में लोगों को गलत-सही, नैतिक-अनैतिक, सुन्दर-असुन्दर सभी बातों को प्रातिभज्ञान और अभिव्यंजना की दुहाई देकर कहने का मौका मिल गया। ऐसे लोगों ने अपने को अभिव्यंजनावादी कहना शुरू किया। वे अन्य साहित्यिकों-कलाकारों से अपने को अलग मानने लगे। क्रोचे ने कलामात्र की अभिव्यक्ति का विश्लेषण किया था जिसमें सभी पुरानी कलाकृतियाँ आ जाती हैं; उसने अपना अलग सम्प्रदाय नहीं कायम किया। अन्य लोगों ने ही इसे आन्दोलन का रूप दिया और उसकी बुद्धिसंगत नहीं बल्कि केवल असंगत बातों को ही ले उड़े।

क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के सिद्धान्त का यूरोप के कला-साहित्य पर व्यापक और गहरा प्रभाव पड़ा, इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु यह कहना कि छायावादी कवियों ने भी क्रोचे के इस सिद्धान्त से प्रभावित होकर कल्पना की अतिशयता दिखलाई, उचित नहीं प्रतीत होता। पहली बात तो यह है कि

छायावादी कवि अधिकतर अँगरेजी के रोमाण्टिक कवियों से प्रभावित हुये जिनके समय में अभिव्यंजनावाद का प्रारम्भ ही नहीं हुआ था, यद्यपि उनमें भी कल्पना की अधिकता हैं। दूसरी बात यह है कि जिस रूप में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया उसी रूप में उसे काव्य में ग्रहण करना असम्भव है। यूरोप में भी उसका इतना ही प्रभाव पड़ा कि कलावाद की तरफ कवियों की रुचि अधिक बढ़ गई, अन्यथा किसी न किसी रूप में वस्तु-चित्रण उन्होंने किया ही। छायावादी कवियों ने भी कल्पना का अत्यधिक उपयोग किया किन्तु वाच्यार्थ या व्यंग्यार्थ की कहीं उपेक्षा नहीं की। इसलिये अभिव्यंजनावाद की कसौटी पर उनकी कविता को कसना उनके साथ अन्याय करना है। जो छायावाद को अभिव्यंजनावाद का अन्धानुकरण कहते हैं वे भूल जाते हैं कि क्रोचे से प्रभावित अभिव्यंजनावाद और उसके पूर्व के कल्पनावाद में तात्विक अन्तर है। छायावादी कवि यदि प्रभावित भी हुए तो क्रोचे या उसके अनुयायियों से नहीं बल्कि उनके पूर्ववर्ती व्यक्तिवादी कवियों-आलोचकों से। रोमाण्टिक कवियों ने भी धर्म, नैतिकता आदि बाहरी वस्तुओं से कविता को स्वतंत्र करने के लिए कला में कल्पना को बहुत अधिक महत्व दिया था। कालरिज तो कल्पना को अत्यन्त आवश्यक शक्ति मानते हुए भी बुद्धि और हृदय के सामंजस्य की बात करता था। उसके अनुसार गम्भीर भावनाओं और ऊँचे विचार का सामंजस्य तभी होता है जब कल्पना इन्द्रियजन्य ज्ञान और विवेक-बुद्धि के बीच सम्बन्ध स्थापित करती है। उसके बाद वाल्टर पीटर ने यह सिद्धान्त रखा कि महान कवि का लक्ष्य उपदेश देना, नियम-व्यवस्था देना या किसी महान लक्ष्य की ओर प्रेरित करना भी नहीं है; उसका लक्ष्य तो बुद्धि को थोड़ी देर के लिए यांत्रिक जीवन से अलग हटा कर मनुष्य के अस्तित्व के उन सत्यों के बीच केन्द्रित कर देना है जो यांत्रिक नहीं होते। इस प्रकार वह कला को सेवक नहीं सेव्य, साधना नहीं साध्य मान लेता है। उसके अनुसार कला कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है।

बीसवीं सदी के प्रारम्भ के साथ ही यूरोप में पूँजीवाद की असंगतियाँ बढ़ने लगीं और व्यक्तिवाद की भावना भी उत्तरोत्तर तीव्र होती गयी। अतः इसी समय इब्सन, वाल्टह्विट मैन, फ्रायड, नीत्शे आदि व्यक्तिवादी विचारकों और लेखकों की विचारधारायें तेजी से फैलीं। इन विचारधाराओं का लक्ष्य पुरानी नैतिक और सामाजिक मान्यताओं से व्यक्ति को मुक्ति दिलाना था। यह लहर इतनी आगे बढ़ी कि सभी प्रकार के नियमों को तोड़ कर कला को सर्वतंत्र स्वतन्त्र सिद्ध करने पर तुल गयी। व्यक्तिवादी विचारधाराओं की शृंखला

की अन्तिम कड़ी क्रोचे का अभिव्यंजनावाद था। अंगरेजी के प्रसिद्ध आलोचक डा० ब्रैडले ने भी प्रायः क्रोचे के मत का ही प्रतिपादन किया। उनके अनुसार कविता की रचना कविता के लिए ही होती है; किसी और उद्देश्य के लिए नहीं; उसका मूल्य ही अलग है; यह दूसरी बात है कि उससे कुछ और भी लाभ हो जाय और कोई महान आदर्श या ज्ञान समाज को प्राप्त हो जाय। इन विचारधाराओं के मूल कारण वहाँ की आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थिति में ही निहित थे। पूँजीवाद उस मंजिल पर पहुँच गया था जब कि निम्न मध्यवर्ग तथा कारीगरों का वर्ग अपने व्यक्तिगत कौशल के कारण पूँजीवादी समाज में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करता और मजदूरवर्ग का विरोधी हो जाता है। किन्तु उसके कला—कौशल की, पूँजीवादी उत्पादन की तुलना में, अधिक पूछ नहीं होती है। ऐसी समाज-व्यवस्था में कवियों-कलाकारों का भी विशिष्ट कारीगरों के समान ही स्थान होता है। पूँजीवाद के विकास के साथ साहित्य और कला का भी औद्योगीकरण हो जाता है जिससे सस्ते और छिछले काव्य तथा कला-वस्तुओं का समाज में आदर बढ़ जाता है; पत्र-कारिता, जासूसी कथा-साहित्य, सिनेमा और उसके गानों आदि की तुलना में कला-पूर्ण साहित्य नहीं टिक पाता क्योंकि वह उनकी तरह यांत्रिक नहीं होता। चूँकि उत्कृष्ट साहित्य में उच्च कोटि की कला होती है इसलिए विकसित पूँजी-वादी समाज की अधिकांश जनता उसे नापसन्द करती है। समाज में सर्वहारा-वर्ग की संख्या बढ़ती जाती है। यह वर्ग भी संस्कार न होने से निम्न कोटि का साहित्य ही पसन्द करता है। पूँजीपति वर्ग के लोग कविता कला पढ़ने या समझने का कष्ट नहीं उठाना चाहते और न उनके पास समय ही रहता है फलतः कवि इस परिस्थिति से ऊब कर समाजनिरपेक्ष असामाजिक काव्य की रचना करने लगता है। वह कला को जीवन के अन्य सामाजिक मूल्यों से भिन्न समझने लगता है। यही बात यूरोप में भी हुई। वहाँ कला उत्तरोत्तर व्यक्ति-वैचित्र्यपूर्ण और असामाजिक होती गई।

किन्तु छायावाद-युग में भारतीय पूँजीवाद की ऐसी स्थिति नहीं थी। वह प्रारम्भिक पूँजीवाद का युग था। अतः उस काल की कविता में रोमाण्टिक कविता की तरह प्राचीन काव्य-रूढ़ियों और सिद्धान्तों के विरुद्ध विद्रोह की भावना, दूरारूढ़ कल्पना, सामाजिक संघर्ष से पलायन की भावना तथा बुद्धि और हृदय के सामंजस्य की प्रवृत्ति तो अवश्य दिखलाई पड़ती है किन्तु व्यक्तिवाद का वह स्वरूप जो यूरोप में बीसवीं सदी के प्रारम्भ से दिखलाई पड़ा, छायावादी कविता में नहीं के बराबर है। वे प्रवृत्तियाँ छायावाद-युग के बाद की कलावादी कविता में

दिखलाई पड़ीं। छायावाद के उत्तरकाल में ऐन्द्रिकता और अहंवाद का प्रचार अवश्य हुआ, किन्तु उसमें कलावाद या 'कला कला के लिए' का सिद्धान्त कहीं नहीं दिखलाई पड़ता क्योंकि उसमें जीवन की अनुभूतियों का तिरस्कार नहीं किया गया है।

अभिव्यंजनावाद के सम्बंध में इतना विचार कर लेने के बाद हम इस स्थिति में पहुच गये हैं कि रस-पद्धति और वक्रोक्तिवाद से उसकी तुलना कर सकें। अभिव्यञ्जनावाद कुछ अर्थों में वक्रोक्तिवाद से और कुछ में रसवाद से मिलता-जुलता है। वक्रोक्ति और अभिव्यञ्जना का विचार कर्त्ता या कवि की दृष्टि में रखकर किया गया है किन्तु रस-विचार सामाजिक या ग्रहीता की दृष्टि में रख कर हुआ है। अभिव्यञ्जनावाद मानसिक अभिव्यक्ति को ही कला मानता है, बाह्याभिव्यक्ति को नहीं, किन्तु वक्रोक्तिवाद अभिव्यक्ति अथवा उक्ति चमत्कार को ही काव्य मानता पर उसे बाह्य और आन्तरिक दोनों ही समझता है। अभिव्यञ्जनावाद प्रातिभज्ञान को ही अभिव्यक्ति कहता है और जीवनानुभूतियों या बाह्य वस्तुओं को सामग्री या द्रव्य मात्र मानकर उसे महत्व नहीं देता; किन्तु वक्रोक्तिवादी और रसवादी वर्ण्यवस्तु को भी महत्व देते हैं। इस प्रकार अभिव्यञ्जनावाद वक्रोक्तिवाद और रसवाद से बहुत कुछ भिन्न है। छायावादी कविता में जो भी उक्तिवैचित्र्य दिखलाई पड़ता है उसे वक्रोक्तिवाद की सीमा में ग्रहण किया जा सकता है। उसे जबर्दस्ती अभिव्यञ्जनावादी कहना ठीक नहीं। 'कला कला के लिये' का सिद्धान्त छायावादी कवियों ने अवश्य अपनाया किन्तु उसका उद्देश्य काव्य को धर्म, नैतिकता आदि के बन्धनों से मुक्त करना था; अन्यथा गंभीर चिन्तन और मार्मिक अनुभूतियों का चित्रण उन्होंने न किया होता। पश्चिम में वाल्ट ह्विटमैन, एज़रापाउण्ड, कमिंग्ज, टी०एस० इलियट आदि कवियों ने जिस प्रकार कलावाद के नाम पर दिमागी कसरत तथा तमाशबीनों की रुचि को अनुरंजित करने वाली कवितायें लिखी हैं वैसी छायावाद में नहीं के बराबर हैं। कुछ घटिया छायावादी कवियों ने अवश्य कुछ ऊटपटांग और निरर्थक कवितायें लिखीं किन्तु उन्होंने प्रतिभा की कमी और अनुकरण की प्रवृत्ति के कारण ऐसा किया, उसके लिये छायावाद दोषी नहीं है। उदाहरण के लिये एक पहले के छायावादी और आज के प्रयोगवादी कवि की एक पुरानी कविता की दो पंक्तियाँ लीजियेः—

> छाया के चरणों में वन की परिधि बन गई ध्वंस-कहानी।
> साँसों की लहरों से कम्पित ज्वाल-सिन्धु मधुरस पाषाणी॥

इन दोनों पंक्तियों में कवि ने क्या बात कही है, यह तो समझ में नहीं आता;

किन्तु अभिव्यञ्जनावाद की दृष्टि से यह एक अच्छी कविता मानी जायगी क्योंकि इसमें उक्तिवैचित्र्य और कल्पनाविलास है। छायावाद-युग के प्रारम्भ में कुछ वाग्वैचित्र्यपूर्ण, दूरारूढ़ और क्लिष्ट-कल्पनाओं से युक्त कवितायें अवश्य लिखी गयीं :—

कौन तम के पार ?—(रे, कह)
अखिल-पल के स्रोत, जल-जग,
गगन घन-घन-धार—(रे, कह)
गन्ध - व्याकुल - कूल - उर - सर,
लहर-कच कर कमल-मुख-पर,
हर्ष-अलि हर स्पर्श-शर, सर,
गूंज बारम्बार !—(रे-कह) [गीतिका—निराला]

इसमें दूरारूढ़ कल्पना, समस्त पदों के प्रयोग और क्रियापदों के लोप के कारण वर्ण्यवस्तु का स्पष्ट चित्र नहीं उपस्थित हो पाता। 'पल्लव' की अनेक कविताओं में इस प्रकार का कल्पनाविलास दिखाई पड़ता है। 'स्याही की बूँद' पर पन्त की कल्पना दर्शनीय है :—

अर्ध-निद्रित सा, विस्मृत-सा, न जाग्रत-सा न विमूर्छित-सा,
अर्ध-जीवित-सा औ मृत-सा, न हर्षित सा न विमर्शित सा,
गिरा का है क्या यह परिहास ?

उपर्युक्त विवेचन द्वारा यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि रस, ध्वनि, वक्रोक्ति और अभिव्यञ्जनावाद आदि भारतीय-अभारतीय सिद्धान्तों का छायावादी कविता पर किस प्रकार और कितना प्रभाव पड़ा है अथवा वे सिद्धान्त इस युग की कविता पर किस प्रकार लागू किये जा सकते हैं। ध्यानपूर्वक देखा जाय तो पता चलेगा कि छायावाद की बहुत सी ऐसी कवितायें हैं जिन पर उक्त सिद्धान्त लागू नहीं होते। उदाहरण के लिए बाह्य वस्तुओं का यथातथ्य चित्रण करने वाली कवितायें ली जा सकती हैं जिनमें अभिव्यंजना और वक्रोक्ति नहीं है और न अलंकारों का चमत्कार ही है। रस और ध्वनि का सिद्धान्त तो इतना व्यापक है कि उसमें सब कुछ समा जाता है; किन्तु इन कविताओं को दूसरी ही दृष्टि से देखना चाहिये। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस प्रकार के वस्तुचित्रण को संश्लिष्ट चित्रण कहा है जिसके द्वारा बिम्ब-ग्रहण और आलम्बन के साथ तादात्म्य होता है। आलंकारिकों ने वस्तु के यथातथ्य चित्रण को भी स्वभावोक्ति अलंकार मान लिया है। पश्चिमी साहित्य

स्वभावोक्ति और मूर्तिमत्तावाद

में इसे मूर्तिमत्तावाद (Imagism) कहते हैं। कवि के मानस में बाह्य वस्तुओं का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है उसे जब वह जैसा का तैसा चित्रित करना चाहता है तो उसकी कल्पनाशक्ति उसकी सहायता करती है और वह वर्ण्यवस्तु और उसके परिपार्श्व का सम्यक चित्रण करने लगता है। यह चित्रण दो प्रकार का होता है। पहले में कवि वस्तु और उसके परिपार्श्व का सम्बन्ध-चित्रण अपनी भावनाओं के मिश्रण द्वारा करता है। ऐसी कविता में आत्माभिव्यक्ति भी मिली रहती है और कवि को प्रत्येक वस्तु अपने दृष्टिकोण के रंग से रंगी हुई दिखाई देती है। दूसरे प्रकार की कविता में कवि अपनी ओर से कुछ भी नहीं मिलाता, वह कैमरा की तरह केवल फोटो उतारता है। किन्तु यहाँ भी उसकी कल्पना-शक्ति चित्रों का चुनाव अथवा त्याग करती है और अन्त में ऐसा सामंजस्यपूर्ण चित्र उपस्थित करती है जिसमें अनेक चित्रों की एक अन्विति दिखाई पड़ती है। कालरिज के अनुसार यही कल्पना का कार्य है *। योरप में जिस मूर्तिमत्तावाद या चित्रवाद का प्रचार रोमाण्टिक कविता के विरोध में हुआ वह वस्तून्मुखी है क्योंकि किसी उत्तेजना के काल में बाह्य वस्तु की कवि के मन में होने वाली प्रतिक्रिया का यथावत चित्रण कर देना ही उनकी दृष्टि से पर्याप्त है, वे पहले की संचित अनुभूतियों को उसमें मिलाना नहीं पसन्द करते। अतः वे वस्तु के रूप को ही नहीं, उसके रंग, ध्वनि और लय को भी ग्रहण कर चित्रित कर देना चाहते हैं। इसलिये उनकी भाषा भावों को ठीक-ठीक व्यक्त करने वाली, शब्द वस्तु में स्थित लय को व्यक्त करने वाले और छन्द पुराने छन्दों से भिन्न होते हैं। ऐसी मूर्तिमत्तावादी कवितायें छायावाद-युग में बहुत कम लिखी गयीं। छायावादी कवियों ने योरोपीय मूर्तिमत्तावाद का अनुकरण नहीं किया, यद्यपि उनमें से अनेक चित्रणकला में अत्यन्त कुशल थे। स्वभावोक्ति शैली की यथातथ्य

---

*"The poet, described in ideal perfection, brings the whole soul of man into activity, with the subordination of its faculties to each other according to their relative worth and dignity. He diffuses a tone and a spirit of unity, that blends, and as it were, each into each, by that synthesis and magical power to which I would exclusively appropriate the name of imagination."

—*Coleridge.*

चित्रण करने वाली कविताएँ इस युग में पर्याप्त लिखी गईं। प्रथम प्रकार की स्वभावोक्ति की शैली निम्नलिखित कविताओं में देखी जा सकती है:—

(१)

सशंकित नयनों से मत देख !
सूना मेरा कमरा पाकर,
सूखे तिनके-पत्ते लाकर,
तूने अपना नीड़ बनाया
कौन किया अपराध ?
सशंकित नयनों से मत देख !

(२)

खिड़की से झाँक रहे तारे !
जलता है कोई दीप नहीं,
कोई भी आज समीप नहीं,
लेटा हूँ कमरे के अन्दर
बिस्तर पर अपना मन मारे !

[बच्चन : एकान्त–संगीत]

यहाँ कवि ने अनलंकृत शैली और व्यावहारिक भाषा में दो शब्दचित्र उपस्थित किये हैं। दोनों में वातावरण का चित्रण करके उसने अपने एकाकीपन की तीव्र अनुभूति अभिव्यक्त की है :—

दूसरे प्रकार की चित्रवादी कविता का उदाहरण यह है :—

सर्सर् मर्मर्
रेशम के से स्वर भर
घने नीम दल
× × ×
लम्बे, पतले, चंचल !
वृक्ष - शिखर से भूपर
शत-शत मिश्रित ध्वनि कर
फूट पड़ा लो निर्झर
मरुत्—कम्प, अर......

[झंझा में नीम–पंत]

इस कविता में रंग, रूप और ध्वनि का चित्रण यथातथ्य ढंग से किया गया है। कवि ने अपनी भावनाओं का मिश्रण बिलकुल नहीं किया है। नीम के पत्तों

की गति और लय की अभिव्यक्ति कविता में सफलतापूर्वक हुई है। छोटे-छोटे ध्वन्यात्मक शब्दों से ही जैसे मर्मर ध्वनि निकल रही है। छायावादी कवियों में केवल पंत ने इस प्रकार के प्रयोग की ओर कदम बढ़ाया पर वे फिर भावनाओं और आदर्शों की ओर मुड़ गये। आगे चलकर १९४० के बाद अज्ञेय आदि ने इस प्रकार के प्रयोग किये।

कलावाद का एक रूप सम्वेदनावाद (Impressionism) भी है। इसमें शब्दों की ध्वनि से वर्ण्यवस्तु का संकेत मिलता है अर्थात कवि के शब्द व्याकरण और शब्दकोश से विद्रोह करके नवीन अर्थों को व्यक्त करते हैं। इस तरह इसमें कवि वर्ण्यवस्तु की गति या ध्वनि का अनुकरण करने वाले शब्दों का ही व्यवहार करता है। ये शब्द सांकेतिक होते हैं। संवेदनावादी कवि सर्वथा निरंकुश होता है। भाषा, छन्द और कला-सौन्दर्य के शास्त्रीय नियमों से मुक्त, वह अपनी असामान्य सम्वेदनाओं के प्रति ही उत्तरदायी होता है। छायावादी कविता में यह 'वाद' नहीं आ सका था, अब प्रयोगवादी कविता में उसके दर्शन हो रहे हैं। उदाहरण के लिये एक कविता दी जा रही है जिसमें वर्णविन्यास, स्वर-विस्तार या स्वर-संकोच, छन्द-मुक्ति, शब्द-संगीत, विराम, अर्धविराम, सम्बोधन-चिन्ह, बिन्दु, पड़ी पाई आदि में भी अर्थ-व्यंजना भरने की कोशिश की गयी है:—

सम्वेदनावाद

खामोश,
हो,
होश........न खो,
रो, मगर — जी।
जिन्दगी संसार की आखिर
तू ही।
ओ साबिर!
खिलापरवर यह
बे—रूही,
आखिर
वह भी है
तू—ही!
तू—ही!
तू—ही [शमशेर बहादुर सिंह]

———

अलंकार-विधान

छायावादी कवि आत्माभिव्यक्ति द्वारा सौन्दर्यानुभूति का चित्रण करना काव्य का लक्ष्य समझते थे। सौन्दर्य को भी वे वक्रोक्तिवादियों या अभिव्यंजनावादियों की तरह ही बाह्य और वस्तुगत नहीं, आत्मगत और आंतरिक मानते थे। वे वस्तु के स्थूल शारीरिक सौन्दर्य से अधिक उसके सूक्ष्म परोक्ष सौन्दर्य को महत्व देते थे अर्थात वे सौन्दर्य को रूपात्मक नहीं भावात्मक सत्ता मानते थे। इसलिए सौन्दर्यवादी होते हुए भी उन्होंने काव्य के शारीरिक सौन्दर्य अर्थात ऊपरी रूप-विन्यास को बहुत कम महत्व दिया। प्राचीन अलंकारवादियों ने अप्रस्तुत-रूप-विधान, जैसे अलंकार आदि, पर बहुत जोर दिया था क्योंकि वे यह मानते थे कि जिस प्रकार स्वर्ण-रत्नादि के आभूषण शरीर को अलंकृत करके उसके सौन्दर्य की अभिवृद्धि करते हैं उसी प्रकार शब्द और अर्थ के सौन्दर्य को बढ़ाने वाली वस्तु अलंकार है। इसलिए उन्होंने काव्य में अलंकार को ही प्रधानता दी *। अलंकार से उनका तात्पर्य उस विचित्रता से है जो उक्ति के लोकोत्तर और अतिशय होने के कारण उत्पन्न होती है। यह विचित्रता सामान्य जनों की बोल-चाल की शैली से भिन्न और उत्कृष्ट होती है। कारण यह है कि सामान्यजन बोलचाल में अपनी भावनाओं को दूसरे तक पहुँचना ही आवश्यक समझते हैं, अपने कथन में चमत्कार उत्पन्न करके सौन्दर्य लाने का प्रयत्न नहीं करते। आलंकारिकों का यह मत था कि काव्य को बोलचाल की भाषा से भिन्न होना चाहिए और उसमें लोकोत्तर उक्तिवैचित्र्य अथवा अतिशयोक्ति पर आधारित अलंकारों का विधान भी अनिवार्य रूप से होना चाहिए †। विश्वनाथ कविराज ने यह माना है कि सौन्दर्य को बढ़ाने वाले और रस-भाव आदि के सहायक जो शब्द और अर्थ के स्थिर धर्म हैं वे ही मनुष्य शरीर के अलंकारों की तरह काव्यालंकार

---

* 'अलंकाराएव काव्ये प्रधानमितिप्राच्यानां मतः।'

—अलंकारसर्वस्व

† 'वक्रा वैचित्र्याधायिका लोकातिशायिनी उक्तिः कथनम्'।

—काव्यप्रकाश

कहलाते हैं *। इसमें विश्वनाथ ने अलंकार को रस, भाव आदि का उपकारक अर्थात उसे अप्रधान माना है और यही उचित भी है, क्योंकि काव्य में प्रधानता वर्ण्यवस्तु या प्रस्तुत की ही होती है, अप्रस्तुत की नहीं। मनुष्य शरीर और आत्मा से युक्त है। वह अपने शरीर को वस्त्राभूषण से सुशोभित करता है। किन्तु वस्त्राभूषण कृत्रिम और शरीर के बाहर की वस्तुयें हैं। वस्त्राभूषण के बिना भी रहा जा सकता है किन्तु चेतना के बिना शरीर नहीं रह सकता और न शरीर के बिना चेतना ही रहती है। इसी तरह काव्य में अर्थ, शब्द तथा अलंकार की स्थिति है। अलंकार के बिना भी काव्य हो सकता है किन्तु शब्द और अर्थ के साहित्य या संयोग के बिना काव्य नहीं हो सकता।

इस दृष्टि से काव्य की आत्मा (भाव) और शरीर (शब्द) दोनों ही आवश्यक और अन्योन्याश्रित प्रतीत होते हैं और अलंकार अनिवार्य नहीं, ऐच्छिक मालूम पड़ता है। सभ्य होने पर मनुष्य वस्त्राभूषण धारण करता और किसी न किसी प्रकार की शारीरिक सजावट अवश्य करता है। उसी तरह भाषा भी सभ्यता के विकास के साथ अधिकाधिक संश्लिष्ट और अलंकृत होती जाती है। कोई व्यक्तिविशेष सामुदायिक भाषा में अलंकारों को नहीं भरता बल्कि प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक युग भाषा के निर्माण और उसके सौन्दर्य की अभिवृद्धि में योग देता है। इस प्रकार भाषा में अलंकारों का प्रचलन हो जाता है। वे सामूहिक बनकर भाषा के गुण के रूप में बदल जाते और कृत्रिम न रहकर भाषा के शरीर के अंग की तरह प्रतीत होने लगते हैं। अतः यह धारणा निर्मूल है कि:—(१) बोलचाल की भाषा में अलंकार नहीं होते अतः उसमें काव्य रचना नहीं हो सकती और (२) असाधारण व्यक्ति या प्रतिभाशाली कवि ही अलंकारों का प्रयोग कर सकता है, सामान्यजन नहीं। जिस तरह वस्त्रादि सभ्य मानव के अंग के रूप में हो गये हैं उसी तरह अलंकार बाह्य होते हुये भी भाषा के अंग के रूप में स्वीकृत हो गये हैं; अतः वे कृत्रिम नहीं मालूम पड़ते। किन्तु आलंकारिकों ने तो अलंकारों को सामान्य भाषा से लोकोत्तर और विचित्र उक्ति माना है अर्थात उन्होंने स्वाभाविक नहीं कृत्रिम अलंकारों को ही महत्त्व दिया है। स्वाभाविक भाषा वन की तरह है जिसमें वनस्पति स्वच्छन्द रूप से विकसित और प्रसरित होती है, किन्तु अतिशय अलंकृत भाषा उपवन की तरह है जिसमें पेड़-

---

* शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्‌ ॥

—साहित्यदर्पण–दशम् परिच्छेद ॥ १ ॥

पौधों के ऊपर माली की कैंची का नियंत्रण रहता है। अधिक वस्त्रालंकारों द्वारा भी शरीर का स्वाभाविक सौन्दर्य आवृत या विकृत हो जाता है, उसी तरह अस्वाभाविक और अनावश्यक अलंकारों से भाषा और भाव दोनों का सहज सौन्दर्य ढक जाता है, अर्थात उसमें अलंकार ही प्रधान हो जाता है और अलंकार्य गौण। परिणामस्वरूप काव्य का काव्यत्व क्षीण हो जाता है। इसीलिये साहित्यदर्पणकार ने अलंकार को काव्य की आत्मा नहीं बल्कि शब्द और अर्थ की शोभा को बढ़ाने वाला, उनका अस्थिर धर्म और रस, भाव आदि का उपकारक माना। इस दृष्टि से अलंकार रीति या शैली को और भी सुन्दर बनाने वाले होते हैं। वे काव्य के साधन हैं, साध्य नहीं।

छायावादी कवियों ने इस बात को अच्छी तरह समझा था। उन्होंने अलंकारों का प्रयोग किया है और बहुत अधिक किया है, किन्तु उनके अलंकार काव्य की प्रेषणीयता में सहायता पहुँचाने वाले हैं, बाधा उपस्थित करने वाले नहीं। वे यह मानते हैं कि भाव और भाषा की तरह अलंकारों का स्वरूप भी बदलता रहता है; विभिन्न भावों को व्यक्त करने में अलंकारों के बँधे-बँधाये नियम और उनका शुकवत प्रयोग साधक नहीं, बाधक हैं। सामन्तयुगीन कविता की स्थूल अलंकारप्रियता और एक ही प्रकार के अप्रस्तुतों की अशोभन आवृत्ति के विरोध में ही छायावाद का आविर्भाव हुआ। पल्लव की भूमिका में पंत लिखते हैं :—

"और इनकी भाषालंकारिता ? जिनकी रंगीन डोरियों में वह कविता का हैंगिंग गार्डन—वह विश्व-वैचित्र्य झूलता है, जिसके हृद्‌पट पर वह चित्रित है... इन साहित्य के मालियों में से जिसकी विलास-वाटिका में भी आप प्रवेश करें, सबमें अधिकतर वही कदली के स्तम्भ, कमलनाल, दाड़िम के बीज, शुक, पिक, खंजन, शंख, सर्प, सिंह, मृग, चन्द्र, चार आँखें होना, कटाक्ष करना, आह छोड़ना, रोमांचित होना, दूत भेजना, कराहना, मूर्छित होना, स्वप्न देखना, अभिसार करना—बस इसके सिवा और कुछ नहीं।

"भाव और भाषा का ऐसा शुकप्रयोग, राग और छन्दों की ऐसी एकस्वर रिमझिम, उपमा तथा उत्प्रेक्षाओं की ऐसी दादुरावृत्ति, अनुप्रास एवं तुकों की ऐसी अश्रान्त उपलवृष्टि क्या संसार के और किसी साहित्य में मिल सकती है ?"

[पंत 'पल्लव' (चतुर्थ संस्करण) की भूमिका—पृष्ठ ९–१०]

सभी छायावादी कवियों में प्राचीन काव्य-परम्परा में पाये जाने वाले बँधे-बँधाये अलंकारों का विरोध करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। अप्रस्तुत-विधान में अधिकतर रूप, गुण और प्रभाव के साम्य या वैषम्य के आधार पर अप्रस्तुतों

की योजना की जाती है। इसका उद्देश्य यह होता है कि वर्ण्यवस्तु अधिक स्पष्ट होकर पाठक के लिये बोधगम्य हो जाय। अतः सच्चा कवि केवल ऐसे ही अप्रस्तुतों का विधान करते हैं जो प्रस्तुतों के रूप-गुण-प्रभाव को स्पष्ट करते हैं। किन्तु अभ्यासशील और रूढ़िप्रिय कवि कृत्रिमता की प्रवृत्ति के कारण केवल रूप-साम्य के आधार पर बाह्य आकृति की नापजोख कर के अप्रस्तुत-विधान करते हैं जिससे प्रस्तुत के रूप-गुण-प्रभाव का स्पष्ट होना तो दूर, पाठक पर उसका उल्टा ही प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिये यदि आँख को खंजन या मीन कहा जाय तो रूप-गुण के साम्य के कारण ये अप्रस्तुत प्रस्तुत को स्पष्ट करने में सहायक होते हैं किन्तु यदि उसे शराब का प्याला या आम की फाँक कहा जाय तो उससे आँख की सौन्दर्य-भावना बिल्कुल नष्ट हो जाती है। किन्तु परिपाटी-विहित काव्य में इस तरह की उपमाओं की भरमार रहती थी और ये अप्रस्तुत इतने अधिक दुहराये जाते थे कि उनका प्रभाव बिलकुल नष्ट हो गया था; उनमें नवीन अर्थ व्यक्त करने की शक्ति नहीं रह गयी थी। अतः छायावादी कवियों का परम्पराभुक्त अप्रस्तुतों का त्याग करना स्वाभाविक ही था।

आलंकारिकों ने अलंकारों को शब्दालंकार और अर्थालंकार इन दो भेदों में बाँटा है। शब्द में चमत्कार उत्पन्न करने वाली अप्रस्तुत-योजना को शब्दालंकार और अर्थ में चमत्कार उत्पन्न करने वाली को अर्थालंकार कहते हैं। शब्द तो काव्य-पुरुष के शरीर की तरह है और छायावादी कवि अन्तस्सौन्दर्य के द्रष्टा थे, अतः उन्होंने परिपाटी-विहित शब्दालंकारों का प्रयोग नहीं किया है। उन्होंने शब्द में पहले से अधिक सौन्दर्य उत्पन्न किया है, उसे अधिक शक्ति प्रदान की है; परन्तु इसे अलंकार रूप में नहीं मानना चाहिए। शब्दालंकार भी उनकी कविता में दिखलाई पड़ते हैं किन्तु उन्होंने जानबूझ कर उनकी योजना नहीं की है। वे अनजाने ही अथवा ध्वनि-साम्य के कारण आ गये हैं। अर्थालंकारों में भी यही बात दिखलाई पड़ती है। किसी भी छायावादी कवि ने पाण्डित्य प्रदर्शित करने, उक्तिवैचित्र्य का चमत्कार दिखलाने अथवा मात्र अलंकारों का प्रयोग करने के लिए अलंकारों का प्रयोग नहीं किया है। वस्तुतः उन्होंने अप्रस्तुत-विधान में सर्वथा स्वच्छन्द प्रवृत्ति का प्रदर्शन किया है। यही नहीं, लक्षणा-व्यञ्जना के आधिक्य के कारण उनके अप्रस्तुत-विधान में अनेक नये प्रयोग भी दिखलाई पड़ते हैं जिनका अलंकार-शास्त्र में चर्चा या नामकरण नहीं हुआ है। ऐसे अलंकारों में से कई अंगरेजी के अलंकारों के समान हैं और अन्य भारतीय वक्रोक्तिवाद या ध्वनिवाद की सीमा में आ जाते हैं।

शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति और श्लेष प्रधान हैं। इनमें

अनुप्रास और यमक का प्रयोग जानबूझ कर तो नहीं किया गया पर अनजान में वे अवश्य आ गये हैं और उनसे काव्य की शोभा बढ़ी है, घटी नहीं। पाठक का ध्यान भी उधर नहीं जाता और वे भाषा के प्रवाह और लय में अपना योगदान कर जाते हैं। श्लेष का प्रयोग भी हुआ है किन्तु अधिकतर परोक्ष प्रस्तुतों के चित्रण में ही। प्रतीकों के रूप में श्लिष्ट पद प्रयुक्त हुए हैं पर वहाँ वे श्लेष अलंकार के रूप में नहीं बल्कि प्रतीक के रूप में सौन्दर्य उत्पन्न करते हैं :—

यमक—पास ही रे हीरे की खान। [निराला]
जगती जगती की मूक प्यास। [महादेवी]
अनुप्रास—बता सखी अब क्या करूँ, रुपी रात से रार।

× × ×

सखि नील नभस्सर में निकला
यह हंस अहो तिरता तिरता। [गुप्तजी]

× × ×

मृदु मन्द-मन्द मन्थर-मंथर
लघु तरणि हंसिनी सी सुन्दर
तिर रही खोल पालों के पर ! [पन्त]

श्लेष—(१) जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति सी छाई,
दुर्दिन में आँसू बनकर वह आज बरसने आई।
(२) ओ री मानस की गहराई ! [प्रसाद]

यहाँ घनीभूत, दुर्दिन और मानस श्लिष्ट पद हैं। घनीभूत शब्द द्वारा गहरी और बादलरूप वाली पीड़ा का अत्यन्त अवसादमय भाव व्यक्त होता है और दुर्दिन शब्द द्वारा मेघाच्छन्न दिन और दुर्भाग्य के दिन ये दोनों अर्थ व्यक्त होकर काव्य के सौन्दर्य को बढ़ाते हैं। इन श्लिष्ट पदों के कारण पूरी कविता के अर्थ में उत्कर्ष आ गया है। पीड़ा घने बादलों की तरह सघन होकर दुर्भाग्य के क्षणों में, जो बदली के क्षणों जैसे हैं, आँसू बनकर बरसने आई है। पुराने ढंग के श्लेष अलंकार द्वारा इस प्रकार का अर्थोत्कर्ष नहीं उत्पन्न हो सकता। उससे केवल शब्द का चमत्कार ही उत्पन्न हो सकता है। वक्रोक्ति का अलंकार रूप में प्रयोग छायावादी कविता में नहीं हुआ है। लाक्षणिक प्रयोगों के रूप में वक्रोक्ति या वाक्य-भंगिमा बहुत अधिक दिखलाई पड़ती है जिसकी चर्चा बाद में की जायेगी।

छायावादी कविता में अधिकतर अर्थालंकार ही मिलते हैं, शब्दालंकार

नहीं। इसका कारण पहले बताया जा चुका है कि इस काल के कवियों की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी थी और वे अपने हृदय के भावों के तीव्र आवेग को उत्तेजना के क्षणों में सहज रूप से व्यक्त करने के अभ्यासी थे। ऐसी अवस्था में कवि के भाव अपने आप सीधे ढंग से व्यक्त होते जाते हैं, उसे शब्दों में चमत्कार उत्पन्न करने के लिये अवसर नहीं रहता। आत्माभिव्यंजक कवि की भावनायें सूक्ष्म और संश्लिष्ट होती हैं और उसकी कल्पना भी तीव्र और सूक्ष्म होती है जो बिना प्रयास कवि की भावनाओं को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने में सहायक होती है। अतः उसे काव्य के अर्थ में भी चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयास नहीं करना पड़ता। पहले ही कहा जा चुका है कि भाषा में भावों को व्यक्त करने की शक्ति तभी आती है जब उसमें अनेक प्रकार के अलंकार मिलकर उसके अंग बन जाते हैं। इस तरह भावनाओं की सूक्ष्मता और संश्लिष्टता के साथ ही भाषा भी अपने आप अलंकृत और संश्लिष्ट हो जाती है। यही बात छायावादी कविता में भी दिखलाई पड़ती है। छायावादी कवियों ने एक नई भाषा का निर्माण किया है जिसमें भावों के प्रकट करने की अधिक शक्ति है और जो भावों के सौन्दर्य के कारण ही अधिक सुन्दर हो गई है। इसीलिये पन्त स्पष्ट घोषित करते हैं कि "अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिये ही नहीं वरन् भाव की अभिव्यक्ति के भी विशेष द्वार हैं, भाषा की पुष्टि के लिये, राग की पूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं। वे वाणी के आचार-व्यवहार, रीति-नीति हैं, पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के भिन्न-भिन्न चित्र हैं।" इसका अर्थ यही है कि उन्होंने अलंकार को काव्य के गुण के रूप में स्वीकार किया है; शरीर-स्थित आत्मा के रूप में नहीं। इसीलिये छायावादी कविता रीतिकालीन आलंकारिकता का प्रबल विरोध करते हुये भी अलंकारों का सर्वथा त्याग न कर सकी। उसमें प्रयुक्त अलंकार ऊपर से जड़े या पहनाये हुये नहीं मालूम पड़ते, वे काव्य-शरीर के अंग रूप में दिखलाई पड़ते हैं।

छायावादी कविता में चित्रात्मकता अधिक दिखलाई पड़ती है, उसमें वर्ण्य-वस्तु के स्थान पर उसका प्रतिनिधित्व करने वाले अथवा सादृश्य और साधर्म्य प्रदर्शित करने वाले अप्रस्तुत चित्रों का विधान अधिक हुआ है। अप्रस्तुत-विधान अर्थालंकारों के रूप में भी होता है। यद्यपि इस काल के कवियों ने अलंकारों की योजना जानबूझ कर नहीं की है—और सम्भवतः वे जानते भी न होंगे कि उन्होंने किन-किन अलंकारों का प्रयोग किया है—फिर भी भाषा की शक्ति और सामर्थ्य के रूप में उनकी कविता में अनेकानेक अर्थालंकारों की योजना स्वतः हो गई है। विश्व-साहित्य, विशेषकर प्राचीन भारतीय काव्य-साहित्य के अध्ययन

के कारण अलकार संस्कार रूप में उनके मन की भाषा में समाये हुये थे। अतः काव्य-रचना में कवियों ने उनका पर्याप्त उपयोग किया है। इसीलिये छायावादी कवियों में भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही प्रकार के अर्थालंकारों का विधान दिखलाई पड़ता है। ध्यान देने की बात यह है कि पुराने अलंकारों में भी इन कवियों ने नये अप्रस्तुतों का प्रयोग ही अधिक किया है, पुराने परिपाटीविहित अप्रस्तुतों का नहीं। सादृश्यमूलक और विरोधमूलक दोनों ही प्रकार के अलंकारों में यह प्रवृत्ति प्रचुर मात्रा में दिखलाई पड़ती है। सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दृष्टान्त आदि का प्रयोग अधिक हुआ है। वैषम्यमूलक अलंकारों में विरोधाभास की ओर छायावादी कवियों की प्रवृत्ति सबसे अधिक है। इनके अतिरिक्त सन्देह, अन्योक्ति, यथासंख्य, सहोक्ति, तद्गुण, पर्याय, स्मरण आदि अलंकारों का प्रयोग भी यत्रतत्र दिखलाई पड़ता है। पश्चिमी ढंग के अलंकारों में विशेषण-विपर्यय, ध्वन्यात्मकता और मानवीकरण अलंकार भी प्रधान रूप से अपनाये गये हैं। यद्यपि लाक्षणिकता और ध्वनि-सिद्धान्त की दृष्टि से देखा जाय तो ये प्रयोग भी भारतीय ही कहलायेंगे। उनके कारण छायावादी काव्य का सौन्दर्य अवश्य बढ़ा है, इसलिये उनका ग्रहण किसी भी तरह अनुचित नहीं कहा जायेगा।

यों तो छायावादी कविता में सभी अलंकार प्रचुर मात्रा में मिलते हैं किन्तु उनमें भी सबसे अधिक उपमा का ही प्रयोग किया गया है। उपमा एक ऐसा अलंकार है जिसके बिना कवि ही क्या किसी भी व्यक्ति का काम नहीं चल सकता। कविता में प्रस्तुत को पूर्ण रूप से स्पष्ट करने के लिये उसके समान जाति, द्रव्य, रूप, गुण, प्रभाव वाले अप्रस्तुत का विधान किया जाता है और समानता-वाचक शब्द 'सा', 'जैसा', 'सदृश' आदि का प्रयोग किया जाता है। छाया वादी कविता में उपमा का प्रयोग तो अधिक अवश्य दिखलाई पड़ता है किन्तु साथ ही विशेष बात यह दिखलाई पड़ती है कि अप्रस्तुत या उपमान अधिकतर नवीन हैं और वाचक भी काव्य के संगीत और लय में योगदान करने वाले हैं। 'पल्लव' में 'सा' 'सी' 'से' का प्रयोग बहुत अधिक हुआ है और वह भाषा के माधुर्य को बढ़ाने वाला है। 'छाया' शीर्षक कविता में 'पंत' ने उपमाओं की माला सी गूँथ दी है। छायावादी उपमा की विशेषता यह भी है कि उसमें मूर्त प्रस्तुत के लिये अमूर्त अप्रस्तुत और अमूर्त प्रस्तुत के लिये मूर्त प्रस्तुतों का विधान भी निस्संकोच रूप से किया गया है। कभी-कभी अमूर्त प्रस्तुत के लिये अमूर्त अप्रस्तुत भी प्रयुक्त होता है। पंत और प्रसाद दोनों में यह प्रवृत्ति

अधिक दिखलाई पड़ती है। 'छाया' के लिये पन्त अमूर्त अप्रस्तुत उपस्थित करते हुये कहते हैं:—

गूढ़ कल्पना सी कवियों की
अज्ञाता के विस्मय सी,
ऋषियों के गंभीर हृदय सी,
बच्चों के तुतले भय सी।

इसमें उपमाओं की माला होने के कारण मालोपमा अलंकार है। 'सी' की आवृत्ति से छन्द में सरसता आ गई है। प्रसाद ने 'लज्जा' की अमूर्त भावना के लिये अनेक मूर्त-अमूर्त अप्रस्तुतों की माला उपस्थित की है:—

कोमल किसलय के अंचल में नन्हीं कलिका ज्यों छिपती सी,
गोधूली के धूमिल पट में दीपक के स्वर में दिपती सी।
मंजुल स्वप्नों की विस्मृति में मन का उन्माद निखरता ज्यों,
सुरभित लहरों की छाया में बुल्ले का विभव बिखरता ज्यों,
वैसी ही माया में लिपटी अधरों पर अँगुली धरे हुये,
माधव के सरस कुतूहल का आँखों में पानी भरे हुये,
नीरव निशीथ में लतिका सी तुम कौन आ रही हो बढ़ती?

उपर्युक्त उद्धरण में उपमा का प्रयोग बिल्कुल नये ढंग से हुआ है। 'लज्जा' को दीपशिखा, कलिका और लतिका के रूप में तो देखा ही गया है, उसे मायाविनी नारी का रूप भी दिया गया है साथ ही उन उपमानों के रूप, गुण, धर्म और क्रिया का भी वर्णन किया गया है। इससे भाषा चित्रमयी और भाव संश्लिष्ट हो गये हैं। इसमें कवि ने कल्पना-कौशल द्वारा अप्रस्तुतों का विधान नहीं किया बल्कि भावना और कल्पना के सम्यक् योग से वे स्वयं ही उपस्थित होते गये हैं। ऐसे अप्रस्तुतों के कारण काव्य में मूर्तिमत्ता आती है और रंग, रूप, ध्वनि, स्पर्श, रस आदि ऐन्द्रियिक धर्मों और उनके विषयों का प्रत्यक्षीकरण पाठक को हो जाता है।

उपमा के बाद उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकारों का ही प्रयोग अधिक हुआ है। ये सब अलंकार प्रारम्भिक छायावादी कविता में ही अधिक पाये जाते हैं जब कि कवियों में निर्वैयक्तिकता अधिक थी। उत्तरकालीन छायावाद में जब व्यक्तिगत सुख-दुख की भावना की सीधी अभिव्यक्ति होने लगी तो उसमें अलंकारों के प्रयोग के लिये अधिक अवसर नहीं रहा। अतः उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकार, 'पंत' 'प्रसाद', 'निराला', 'महादेवी' आदि की कविताओं में ही अधिक दिखलाई पड़ते हैं। रूपक का विधान इस युग में नये प्रकार से हुआ है।

पुरानी कविता में सादृश्य न रहते हुए भी तर्क द्वारा रूपकों का आयोजन कर लिया जाता था, किन्तु इस युग में अधिकतर सादृश्य और साधर्म्यमूलक अप्रस्तुतों का प्रतीकवत व्यवहार किया गया और रूपक के वाचक पदों के स्थान पर लक्षक पदों का प्रयोग किया गया। उसी तरह वर्ण्यवस्तु के स्थान पर उसकी व्यंजना करनेवाले अप्रस्तुत चित्रों का भी प्रयोग हुआ। इस प्रकार रूपक, रूपकातिशयोक्ति, अन्योक्ति आदि अलंकारों का छायावादी कविता में अधिक व्यवहार दिखलाई पड़ता है। ये अलंकार प्रभावसाम्य पर विशेष ध्यान रखकर प्रयुक्त हुए हैं। रूपकों में भी सांग रूपक का विधान अधिक नहीं हुआ है, निरंग रूपक ही अधिक दिखलाई पड़ते हैं।

निरंग रूपक—व्योमवेलि, ताराओं की गति, चलते अचल, व्योम के गान।
हम अपलक तारों की तन्द्रा, ज्योत्स्ना के हिम, शशि के यान।
[पन्त]

तरल मोती से नयन भरे!
मानस से ले उठे स्नेह-घन,
कसक विद्यु, पुलकों में हिमकन,
सुधि स्वाती की छाँह,
पलक की सीपी में उतरे।
[महादेवी]

तापस बाला-गंगा निर्मल, शशि मुख से दीपित मृदु करतल;
लहरें उर पर कोमल कुन्तल!
गोरे अंगों पर सिहर-सिहर, लहराता तार तरल सुन्दर,
चंचल-अंचल सा नीलाम्बर!
[पन्त]

अन्योक्ति और रूपकातिशयोक्ति—

छायावाद-रहस्यवाद की कविताओं में रूपकातिशयोक्ति और अन्योक्ति अलंकारों की प्रचुरता है क्योंकि इनमें प्रतीकों और लाक्षणिक प्रयोगों के लिये अधिक अवकाश रहता है। प्रभावसाम्य पर दृष्टि होने के कारण कवि अप्रस्तुत की आकृति, गुण आदि की समानता पर ध्यान नहीं देता। इससे रूपकातिशयोक्ति या अन्योक्ति अलंकार की योजना के लिये कवि को बहुधा विवश हो जाना पड़ता है। अन्योक्ति में प्रस्तुत का प्रतिनिधित्व करने वाले अप्रस्तुत के वर्णन द्वारा ही प्रस्तुत की ओर संकेत किया जाता है; रूपकातिशयोक्ति में प्रस्तुत का उल्लेख किये बिना ही अप्रस्तुत से उसका अभेद दिखलाया जाता है अर्थात उप-

मान के द्वारा ही उपमेय का बोध कराया जाता है। रहस्यवादी कविताओं में अधिकतर अन्योक्ति पद्धति ही अपनाई गई है।

अन्योक्ति—

पहचाना—अब पहचाना—
हाँ, उस कानन में खिले हुये तुम
चूम रहे थे झूम-झूम
ऊषा के स्वर्ण कपोल,
अठखेलियाँ तुम्हारी प्यारी-प्यारी,—
व्यक्त इशारे से ही सारे बोल मधुर अनमोल।

× × ×

तुम्हारा इतना हृदय उदार,
वह क्या समझेगा माली निष्ठुर—
निरा गँवार,
स्वार्थ का मारा यहाँ भटकता,

× × ×

तोड़ लिया लचकाई ज्योंही डाली।

[परिमल—निराला]

इसमें फूल और माली शब्द सुन्दर स्त्री और उसके सौन्दर्य को बुरी दृष्टि से देखने वाले पुरुष की ओर संकेत करते हैं। पूरी कविता अन्योक्ति है। निराला की 'जलद के प्रति', बच्चन की 'मधुशाला', माखनलाल चतुर्वेदी की 'फूल की चाह' और प्रसाद की 'लहर' आदि कवितायें इसी प्रकार की हैं।

रूपकातिशयोक्ति—

कमल पर जो चारु खंजन थे प्रथम
पंख फड़काना नहीं थे जानते
चपल चोखी चोट कर अब पंख की
ये विकल करने लगे हैं भ्रमर को।

[ग्रन्थि—पन्त]

झंझा, झंकोर, गर्जन है, बिजली है, नीरद-माला।
पाकर इस शून्य हृदय को सबने आ घेरा डाला।
बाँधा है विधु को किसने इन काली जंजीरों से।
मणिवाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से।

[आँसू—प्रसाद]

इनके अतिरिक्त स्मरण, मुद्रा, यथासंख्य, सहोक्ति, पर्याय आदि अलंकारों का व्यवहार भी यत्रतत्र हुआ है। विरोधाभास और स्मरण पन्त के प्रिय अलंकार हैं। उनकी 'आँसू' शीर्षक कविता में रूपक और स्मरण अलंकार का सुन्दर सांकर्य दिखलाई पड़ता है--

खैंच ऐंचीला भ्रू-सुरचाप शैल की सुधि यों बारम्बार
हिला हरियाली का सुदुकूल, झुला झरनों का झलमल हार,
जलद-पट से दिखला मुख-चन्द्र, पलक पल-पल चपला के मार
भग्न उर पर भूधर सा हाय, सुमुखि धर देती है साकार।

['आँसू'—पल्लव]

छायावाद-युग की कविता में प्रभावसाम्यमूलक अप्रस्तुतों के अतिरिक्त तुलना और विरोधमूलक अप्रस्तुतों की भी कमी नहीं है। भाव और उक्ति के चमत्कार के लिये विरोधाभास अलंकार की योजना बहुधा की जाती है और लाक्षणिक या व्यंजक पदों द्वारा उसकी योजना होती है। वस्तुतः उसमें विरोध नहीं, विरोध का आभास ही दिखलाई पड़ता है, जिससे काव्य का चमत्कार बढ़ जाता है। रीतिकालीन कवियों में घनानन्द ने विरोध का चमत्कार सबसे अधिक दिखलाया है। उर्दू कवियों में भी विरोध द्वारा चमत्कार उत्पन्न करने की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। बहुधा श्लिष्ट पदों के प्रयोग से ही विरोधजन्य चमत्कार उत्पन्न होता है। प्रसाद और महादेवी में यह प्रवृत्ति बहुत अधिक दिखलाई पड़ती है :—

शीतल ज्वाला जलती है, ईंधन होता दृग-जल का ?

['आँसू'—प्रसाद]

नाश भी हूँ मैं अनन्त विकास का क्रम भी,
त्याग का दिन भी चरम आसक्ति का तम भी,
तार भी आघात भी, झंकार की गति भी,
पात्र भी, मधु भी, मधुप भी, मधुर विस्मृति भी,
अधर भी हूँ और स्मिति की चाँदनी भी हूँ।

['नीरजा'—महादेवी]

यहाँ शब्दों के कारण विरोध तो अवश्य मालूम पड़ता है किन्तु संश्लिष्ट और सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति बहुत अधिक हो सकी है। प्रथम तो विरोध के कारण पाठक का ध्यान कविता की ओर आकृष्ट होता है पर जब वह उसके अर्थ की ओर प्रवृत्त होता है तो विरोध केवल ऊपरी मालूम पड़ता है। ऊपर की कविता में 'शीतल ज्वाला' विरह की वेदना का प्रतीक है जो दुखद

और सुखद दोनों होता है। उसी तरह महादेवी की उद्धृत कविता में भी आत्मा के अलौकिक और लौकिक पक्ष का अर्थबोध हो जाने पर विरोध का शमन हो जाता है।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रचलित अलंकारों के भी उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं:—

मुद्रालंकार—(प्रसंगगर्भत्व)

करुणे क्यों रोती है ? 'उत्तर' में और अधिक तू रोई।
मेरी विभूति है जो उसको 'भवभूति' क्यों कहे कोई ?

[साकेत—मैथिलीशरण गुप्त]

संभावना—

चंचला स्नान कर आवे, चन्द्रिका पर्व में जैसी।
उस पावन तन की शोभा आलोक मधुर थी ऐसी।

[आँसू—प्रसाद]

परिकरांकुर—(साभिप्राय विशेष्य)

नटवर तेरा नाट्यग्रन्थ निज शान्ति-सन्धि निर्वाहे !

[द्वापर—गुप्तजी]

उस ओर शक्ति शिव की जो दशस्कन्ध-पूजित !

× × ×

वह नहीं हुआ शृंगार-युग्म-गत महावीर।

[राम की शक्तिपूजा—निराला]

परिकर—(साभिप्राय विशेषण)

हिम परिमल की रेशमी वायु,

[पन्त]

मुक्ति-जल की वह शीतल बाढ़, जगत की ज्वाला करती शान्त।
तिमिर का हरने को दुखभार, तेज अमिताभ अलौकिक कान्त।

[प्रसाद]

सहोक्ति—(सहभाव)

तरणि के ही संग तरल तरंग में
तरणि डूबी थी हमारी ताल में।

[पन्त]

× × ×

तुल्ययोगिता—(धर्मैक्य)

निज पलक मेरी विकलता साथ ही
अवनि से, उर से मृगेक्षणि ने उठा।

[ग्रन्थि—पन्त]

विषमालंकार—(विरूपकार्योत्पत्ति)

सदियों का दैन्य तमिस्र-तूम
धुन तुमने कात प्रकाश-सूत।

[बापू के प्रति—पन्त]

संदेह—

मद भरे ये नलिन-नयन मलीन हैं,
अल्प जल में या विकल लघु मीन हैं ?

[नयन—निराला]

व्याजस्तुति—(स्तुति द्वारा निन्दा)

चिल्लाया किया दूर दानव !
बोला मैं—"धन्य श्रेष्ठ मानव !"
× × ×
ऐसे शिव से गिरिजा-विवाह
करने की मुझको नहीं चाह !

[अनामिका—निराला]

भारतीय अलंकारों के अतिरिक्त छायावादी कविता में पाश्चात्य ढंग के कुछ अलंकारों का व्यवहार भी हुआ है जिनकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। उनमें सबसे महत्वपूर्ण मानवीकरण अलंकार है जो अलंकार से अधिक एक दृष्टिकोण है। सर्वात्मवादी दर्शन और व्यक्तिवादी कल्पनातिरेक के कारण इस दृष्टिकोण का प्रसार यहाँ भी हुआ। अतः काव्य में भी उसका आ जाना स्वाभाविक था। इसलिये छायावादी कविता में चित्रमयी भाषा में प्रस्तुतों और अप्रस्तुतों की मूर्त्ति चित्रित करने के प्रयत्न में मानवीकरण का विधान स्वतः हो गया है। पहले कहा जा चुका है कि रस-सिद्धान्त की दृष्टि से निर्जीव प्राकृतिक वस्तुओं में रति-भाव का चित्रण रसाभास कहलाता है। किन्तु इस युग में निर्जीव और निरीन्द्रिय पदार्थों में चेतना का आरोप करके उनका मानवीकरण किया गया है। कुछेक उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं :—

पाश्चात्य अलंकार

[१]

रूपसि ! तेरा घन-केशपाश !
श्यामल-श्यामल, कोमल-कोमल,
लहराता सुरभित केशपाश
[नीरजा—महादेवी]

[२]

इस सोते संसार बीच, जगकर सजकर रजनी बाले,
कहाँ बेचने ले जाती हो ये गजरे तारोंवाले ?
[रामकुमार वर्मा]

प्राकृतिक वस्तुओं के अतिरिक्त छायावादी कवियों ने मनोवृत्तियों को भी सजीवता प्रदान करके मूर्तरूप में चित्रित किया है। कामायनी के सभी पात्र मनोवृत्तियों के मानवीकृत रूप ही हैं। 'लज्जा' सर्ग में लज्जा का मानवीकृत रूप चित्रित करते हुए कवि कहता है :—

वैसी ही माया में लिपटी, अधरों पर अँगुली धरे हुये,
माधव के सरस कुतूहल का आँखों में पानी भरे हुये।
नीरव निशीथ में लतिका सी तुम कौन आ रही हो बढ़ती ?
कोमल बाँहें फैलाती सी आलिंगन का जादू पढ़ती।
[प्रसाद]

विशेषणविपर्यय—मानवीकरण की तरह ही विशेषणविपर्यय भी छायावादी कवियों का एक प्रिय अलंकार है। लाक्षणिक प्रयोगों के भीतर यह भी समाविष्ट हो जाता है। किन्तु अंग्रेजी में यह एक अलंकार है इसलिये अलंकार रूप में भी इस पर विचार कर लेना उचित होगा:—

सुरीले ढीले अधरों बीच, अधूरा उसका लचका गान।
['उच्छ्वास'—पन्त]

तब शिथिल सुरभि से धरणी में बिछलन न हुई थी सच कहना
[कामायनी—प्रसाद]

बच्चों के तुतले भय सी। [पन्त]

वेदना के ही सुरीले हाथ से। [ग्रन्थि—पन्त]

थके हुए दिन के निराशा भरे जीवन की [लहर—प्रसाद]

पहली पंक्ति में सुरीले और लचका विशेषण अधरों और गान के लिए प्रयुक्त हुए हैं जब कि वे अन्य वस्तुओं के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होते हैं। विशेषणविपर्यय के कारण शब्दों के अर्थ में विशिष्ट चमत्कार उत्पन्न हो गया है। उसी तरहः—'करुण भौंहें', 'तरल आकांक्षा', 'भीगी तान', 'गीला गान' आदि में विशेषण विपर्यय का चमत्कार दिखलाई पड़ता है। ध्वन्यात्मकता अँग्रेजी का एक अलंकार अवश्य है और छायावादी कविता में उसका प्रयोग भी हुआ है, किन्तु मेरे विचार से ध्वन्यात्मकता शब्द का गुण है, अलंकार नहीं। अतः उसका विचार शब्दचयन वाले अध्याय में किया जायेगा।

चित्रण-कला

काव्य में चित्रण-कला का बहुत अधिक महत्व है। काव्य भाव या वस्तु का शब्दचित्र है। शब्दों द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति करके कवि अपनी अनुभूति को दूसरों तक पहुँचाता है। उपन्यासकार और नाटककार तथा दार्शनिक और वैज्ञानिक भी शब्दों के माध्यम से ही अपने भावों को अभिव्यक्त करते हैं पर आज के युग में, जब कि प्रेस के कारण लेखकों और विद्वानों को भाषणशक्ति का सहारा नहीं लेना पड़ता, काव्य और नाटक के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार का साहित्य (दृष्टि-आश्रित) होने के कारण एक प्रकार से दृश्य साहित्य हो गया है अर्थात् पाठक उसको छपी पुस्तकों में पढ़ लेता है। इस तरह कथा, निबन्ध आदि का लेखक अपनी रचनाओं को छपा कर निश्चिन्त हो जाता है कि पाठक उसे पढ़ेंगे। वह पाठकों की दृष्टि पर ही भरोसा रखता है, कान, नाक, त्वचा आदि अन्य इन्द्रियों पर नहीं। परन्तु कवि-नाटककार को पाठक की दृष्टि ही नहीं, उसकी श्रवणेन्द्रिय पर भी भरोसा रखना पड़ता है। जब लिखने और छापने की कला का आविष्कार नहीं हुआ था उस समय भी दृश्य और श्रव्य काव्य का वर्गीकरण था और आज के इस वैज्ञानिक युग में भी नाटक, सिनेमा, कवि-सम्मेलन, काव्य-पाठ आदि का महत्व अक्षुण्ण दिखलाई पड़ता है। इसका मतलब यही है कि काव्य दृष्टि पर ही नहीं, श्रवणेन्द्रिय पर भी आश्रित है, उसमें चित्रकला और संगीतकला के तत्व पर्याप्त मात्रा में मिले हुए हैं। कवि काव्य-रचना करते समय वर्ण्यवस्तु या भाव को दृश्यरूप में देखता या ध्वनिरूप में सुनता है। उसी तरह पाठक भी कविता पढ़ते समय वर्ण्यवस्तु या भाव को मूर्त-रूप में मानस-प्रत्यक्ष करता या करना चाहता है। यही नहीं, कवि बहुधा गुन-गुनाते हुए कविता लिखते हैं ताकि शब्दों का स्वर उनके कानों तक पहुँचता रहे और वे उनकी कलात्मकता की जाँच करते रहें। पाठक भी कविता को उच्चारण के साथ पढ़ता या मन ही मन उसे गाता चलता है।

इससे यह स्पष्ट है कि काव्य रूपाश्रित और शब्दाश्रित दोनों ही है। किन्तु अन्य इन्द्रियों के विषयों की भी वह उपेक्षा नहीं करता। रूप और शब्द के अतिरिक्त रस-गन्ध-स्पर्श का प्रत्यक्षीकरण भी काव्य द्वारा होता है, किन्तु ये

भी शब्दाश्रित ही होते हैं। श्रोता या पाठक शब्द को सुनते समय केवल अपने श्रवणेन्द्रिय से ही काम नहीं लेता; वह वर्ण्यवस्तु का रूप-रंग भी अपनी कल्पना की आँखों से देखता चलता है और यदि गन्ध, स्पर्श, रस का भी शब्दों में वर्णन किया गया है तो पाठक या श्रोता कल्पना द्वारा घ्राणेन्द्रिय, त्वगिन्द्रिय और रसेन्द्रिय का अभ्यास करता चलता है। वर्णन की पूर्णता या काव्य की चित्रणकला की उत्कृष्टता इसी में है कि वर्णन या चित्रण सभी या अनेक इन्द्रियों के विषयों से आश्लिष्ट हो। वर्णन शब्द से काव्य के श्रवणाश्रित होने और चित्रण से उसके नयनाश्रित होने का बोध होता है। किन्तु घटना या दृश्य को जानने में कान और आँख ही नहीं, अन्य ज्ञानेन्द्रियाँ भी काम करती हैं*। इसलिए वर्णन या चित्रण द्वारा सभी ज्ञानेन्द्रियों के विषयों का मानस चित्र उपस्थित होता है। ये मानस-चित्र (Mental images) लेखक या वक्ता की संवेदना के नहीं, संवेदनाओं से सम्बद्ध वस्तुओं और व्यापारों के चित्र होते हैं। इन चित्रों को प्रेषित या प्रत्यक्ष करने वाले शब्द ऐन्द्रियिक या मूर्त अर्थों की अभिव्यक्ति करनेवाले होते हैं; सूक्ष्म या पारिभाषिक अर्थों की अभिव्यक्ति करने वाले नहीं। काव्य में अतिव्याप्त, अतीन्द्रिय और पारिभाषिक अर्थों से काम नहीं चलता; शास्त्र या ज्ञान-विज्ञान में इनकी आवश्यकता पड़ती है। काव्य में तो ऐसे ही अर्थों की अभिव्यक्ति होती है जो कवि के हृदय के स्पर्श से विशेषीकृत हो गये रहते हैं; जो इन्द्रियानुभूत और चित्रात्मक या मूर्त होते हैं। पाठक या श्रोता भी उन्हें उसी रूप में ग्रहण करता है जिस रूप में कवि ने उन्हें जगत और जीवन से ग्रहण किया था। कहने का तात्पर्य यह है कि कवि वस्तु, घटना या भाव के ऐन्द्रियिक और मूर्त चित्रों का व्यापार करता है, अमूर्त, बुद्धिव्यायामसाध्य और क्रमहीन तथ्यों का नहीं, अर्थात जिन भावों का चित्रण किया जाता है वे निस्संग नहीं, इन्द्रियों के विषयों पर

---

* "'दृश्य' शब्द के अन्तर्गत केवल नेत्रों के विषय का ही नहीं अन्य ज्ञानेन्द्रियों के विषयों (जैसे शब्द, गन्ध, रस) का भी ग्रहण समझना चाहिये। 'महकती हुई मंजरियों से लदी और वायु के झकोरों से हिलती हुई आम की डाली पर काली कोयल बैठी मधुर कूक सुना रही है।" इस वाक्य में यद्यपि रूप, शब्द और गन्ध तीनों का विवरण है, पर इसे एक दृश्य ही कहेंगे। बात यह है कि कल्पना द्वारा अन्य विषयों की अपेक्षा नेत्रों के विषयों का ही सबसे अधिक आनयन होता है; और सब विषय गौणरूप से आते हैं। बाह्य करणों के सब विषय अन्तःकरण में चित्र-रूप से प्रतिबिम्ब हो सकते हैं। इसी प्रतिबिम्ब को हम दृश्य कहते हैं।" [काव्य में प्राकृतिक दृश्य—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल]

आश्रित होते हैं। उन विषयों के सामंजस्य और औचित्य पर ही काव्य की प्रेषणीयता और प्रभावोत्पादकता निर्भर करती है। कवि का काम चित्र का संघटन करके श्रोता या पाठक में भाव का संचार करना है न कि उपदेश देना या तर्कपूर्ण शैली में विषय का विश्लेषण करना। इसी बात को आचार्य रामचंद्र शुक्ल यों कहते हैं :—'रस-विधायक कवि का काम श्रोता या पाठक में भाव-संचार करना नहीं, उसके समक्ष भाव का रूप प्रदर्शित करना है जिसके दर्शन से श्रोता के हृदय में भी उक्त भाव की अनुभूति होती है जो प्रत्येक दशा में आनन्द स्वरूप ही रहता है।" (रस-मीमांसा-पृष्ठ, ८९)। वस्तुतः किसी के कहने या उपदेश देने से बुद्धि भले ही अभिभूत हो जाय, हृदय तो स्वरूप-चित्रण से ही प्रभावित होता है। इसलिये मात्र बुद्धि-संचालित क्रिया में स्थायित्व या आनन्द नहीं रहता; इच्छा या भावना के योग से ही स्थायी और आनन्दप्रद क्रियाशीलता का प्रादुर्भाव होता है। कवि यदि सूक्तियों में नीति की बातें करे या जनता को क्रान्ति करने के लिये ललकारे अथवा अर्थशास्त्र या गणितशास्त्र का पाण्डित्य दिखा कर तथ्यचित्रण करे तो पाठकों पर उसका उतना प्रभाव नहीं पड़ेगा जितना सामाजिक बुराइयों या अन्याय-अनाचार का स्वरूपचित्रण करने से पड़ेगा। कहने का तात्पर्य यह कि काव्य में चित्रण ही प्रधान है और यह चित्रण भी कलात्मक और सामंजस्यपूर्ण होना चाहिये।

कलात्मक चित्रण से तात्पर्य यह है कि १—उसमें शब्द-योजना के कारण पाठकों या श्रोताओं का ध्यान आकृष्ट करने की शक्ति होनी चाहिए, २—उसमें बिम्बचित्रण द्वारा भावों के स्वरूप के प्रत्यक्षीकरण की शक्ति होनी चाहिए, ३—उसमें इन्द्रियों के विषयों का औचित्यपूर्ण सामंजस्य होना चाहिए अर्थात् अनुपात के अनुसार ऐन्द्रियिक विषयों का चित्रण होना चाहिए, ४—वर्ण्यवस्तु के विभिन्न अंगों के चित्रण में भी सामंजस्य (Harmony), अन्विति (Unity), और सौष्ठव (Symetry) होना चाहिए। ५—उसमें आनुषंगिकता और अनुक्रम होना चाहिए। और ६—परिपार्श्व या परिवेश से उसका अनुबन्ध और प्रकृत सम्बन्ध प्रत्यक्ष होना चाहिए। इन नियमों के व्यतिक्रम से चित्रण में दोष आ जाते हैं। चित्रण सम्बन्धी इन्हीं त्रुटियों को पुराने आचार्यों ने अपुष्टत्व, दुष्क्रमत्व, ग्राम्यत्व, व्याहतत्व, अश्लीलत्व, कष्टत्व, आदि अर्थ दोष कहा है।*

---

* अपुष्टदुष्क्रमग्राम्यव्याहताऽश्लील कष्टताः।
अनवीकृतनिर्हेतुप्रकाशितविरुद्धता ॥

शब्दयोजना द्वारा चित्रण को किस प्रकार आकर्षक बनाया जाता है, इस सम्बन्ध में शब्दचयन वाले अध्याय में विचार किया जायगा। यहाँ चित्रण-कला के अन्य आवश्यक तत्वों पर विचार किया जा रहा है। चित्रण की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता उसकी चित्रात्मकता है। इसी विशेषता के कारण पाठक या श्रोता कवि की अनुभूतियों का दृश्य रूप में आनयन करता है। पहले कहा जा चुका है कि उपदेश या तथ्य-कथन से भावानुभूति का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता। शब्द तो अर्थों के संकेत या प्रतीक मात्र हैं। अतः शब्दों के प्रयोग द्वारा अर्थ को प्रकट कर देना मात्र काव्य नहीं है। कवि अर्थग्रहण नहीं करता, वह तो चित्र रूप में वर्ण्यवस्तु का प्रत्यक्षीकरण करता है अर्थात शब्दों के माध्यम से चित्रयोजना करता है जिसका पाठक या श्रोता द्वारा बिम्बग्रहण होता है। एक ही शब्द से विभिन्न पाठकों के मन में विभिन्न अर्थप्रतीति होती है। 'वन' शब्द को सुनकर कोई साखू-सागौन के वन की कल्पना कर सकता है और कोई पलाश-वन या बबूल-वन की। अतः कवि जातिवाचक शब्दों के व्यवहार से ही नहीं सन्तुष्ट होता, वह अपने मन के अनुरूप वन का चित्र उपस्थित करता है, अर्थात सामान्य को वह विशेष बनाकर पाठकों के सामने रखता है। अतः वह ऐसे शब्दों का व्यवहार नहीं करता जो मात्र अर्थग्रहण कराते या सामान्य अर्थ के बोधक होते हैं*। अनुभूतियों के प्रत्यक्षीकरण के लिए वह ऐसी शब्दयोजना करता है

संदिग्धपुनरुक्तत्वे ख्यातिविद्याविरुद्धते।
साकाँक्षता सहचरभिन्नतास्थानयुक्तता॥
अविशेषे विशेषश्चानियमे नियमस्तथा।
तयोर्विपर्ययौ विध्यनुवादायुक्तते तथा॥
निर्मुक्तपुनरुक्तत्वमर्थदोषाः प्रकीर्तिताः।
[विश्नाथ कविराज—साहित्यदर्पण—सप्तम परिच्छेद, ९-१०-११]

* "यह तो स्पष्ट है कि 'प्रतिबिम्ब' या 'दृश्य' का ग्रहण अभिधा द्वारा ही होता है। पर अभिधा द्वारा ग्रहण एक ही प्रकार का नहीं होता। हमारे यहाँ आचार्यों ने संकेत-ग्रह के जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा ये चार विषय तो बताये, पर स्वयं संकेतग्रह के दो रूपों का विचार नहीं किया। अभिधा द्वारा ग्रहण दो प्रकार का होता है—बिम्बग्रहण और अर्थग्रहण। किसी ने कहा 'कमल'। अब इस कमल पद का ग्रहण कोई इस प्रकार भी कर सकता है कि ललाई लिये हुए सफेद पंखड़ियों और नाल आदि के सहित एक फूल का चित्र अन्तःकरण में थोड़ी देर के लिए उपस्थित हो जाय; और इस प्रकार भी कर

जो 'बिम्बग्रहण' कराने में सक्षम होती है। सशक्त कल्पना द्वारा ही भावों के आधार या विषय का पूर्ण और संश्लिष्ट चित्र उपस्थित किया जा सकता है।

रमणीयता या सौन्दर्य ही चित्रण का लक्ष्य है। कवि तीन प्रकार के सौन्दर्य का चित्रण किया करते हैं; १—रूप-सौन्दर्य २—भाव-सौन्दर्य और ३—कर्म-सौन्दर्य। रूप-सौन्दर्य में भाव के विषय या आलम्बन के बाह्य आकृति-सौन्दर्य पर कवि का ध्यान रहता है। रीतिकालीन सामंती कवियों में रूप-सौन्दर्य चित्रण की प्रवृत्ति अधिक थी। भाव-सौन्दर्य वस्तुगत नहीं आत्मगत होता है, अतः उसके चित्रण में कवि बाह्य आकृति की ओर बिलकुल नहीं या बहुत कम झुकता है। वस्तुतः भाव-सौन्दर्य कवि के अपने ही हृदय की सौन्दर्य-भावना का वर्ण्यवस्तु में आरोपमात्र है। छायावाद-युग में भाव-सौन्दर्य का ही चित्रण हुआ है यद्यपि रूप-सौन्दर्य की ओर से भी कवि विमुख नहीं रहे हैं। तीसरे प्रकार का सौन्दर्य है कर्म-सौन्दर्य। कर्म करते हुए मानव में जो सौन्दर्य होता है वह निष्क्रिय-निठल्ले नायक-नायिका के रूप या हृदय में कभी नहीं मिल सकता। कर्म की व्यापार-शृंखला में आद्यन्त नाना प्रकार के मनुष्यों, प्राणियों, प्राकृतिक दृश्यों और घटनाओं के प्रति व्यक्ति की जो मानसिक प्रतिक्रिया होती है, उसके उद्घाटन और प्रत्यक्षीकरण में कर्म-सौन्दर्य का दर्शन होता है। इसमें रूप-सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य दोनों का समावेश हो सकता है। अतः कर्म-सौन्दर्य क्रियाशील और गत्यात्मक सौन्दर्य है। पर प्रबन्ध काव्यों में ही इसके चित्रण के लिए अधिक अवकाश रहता है, गीत और प्रगीत मुक्तकों में नहीं। छायावाद-युग में प्रबन्ध काव्यों की रचना कम हुई और इस युग के अधिक कवि कर्ममय सामाजिक जीवन से पराङ्मुख भी रहे, अतः कर्म-सौन्दर्य का चित्रण छायावादी कविता में बहुत कम हुआ है। भाव-सौन्दर्य का जो चित्रण इन कवियों ने किया है उसमें भी गत्यात्मकता कम, स्थैर्य और शाश्वतता अधिक लाने का प्रयत्न किया गया है।

रूप-सौन्दर्य और भावसौन्दर्य का चित्रण छायावादी कविता में पर्याप्त मात्रा में हुआ है। रूप-सौन्दर्य के चित्रण में इन्द्रियों के सभी विषयों का सामंजस्य

सकता है कि कोई चित्र उपस्थित न हो, केवल पद का अर्थ मात्र समझकर काम चल जाय। व्यवहार में तथा शास्त्रों में इसी दूसरे प्रकार के संकेत-ग्रह से काम चलता है।...पर काव्य के दृश्य-चित्रण में संकेत-ग्रह पहले प्रकार का होता है। उसमें कवि का लक्ष्य 'बिम्ब-ग्रहण' कराने का होता है, केवल अर्थ-ग्रहण कराने का नहीं।" [आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—चिन्तामणि, भाग २—पृष्ठ १-२]

रूप-सौन्दर्य का चित्रण

दिखलाई पड़ता है। निराला और प्रसाद ने रूप का संश्लिष्ट चित्रण अन्य कवियों की अपेक्षा अधिक किया है। पन्त के रूप-चित्रण में कलात्मक-सौष्ठव उतना अधिक नहीं है। निराला ने 'भारती-वन्दना' शीर्षक कविता में भारत-श्री अथवा लक्ष्मी का चित्र उपस्थित किया है, पर यह रेखाचित्र है जिसमें भाव-सौन्दर्य ही उभर कर सामने आता है :—

> भारति, जय, विजय करे,
> कनक-शस्य-कमल धरे !
>
> लङ्का पदतल शतदल
> गर्जितोर्मि सागर - जल
> धोता शुचि चरण युगल
> स्तव कर बहु अर्थ-भरे !
>
> तरु - तृण - वन - लता-वसन,
> अंचल में खचित सुमन,
> गंगा ज्योतिर्जल-कण,
> धवल धार हार गले !
>
> मुकुट शुभ्र हिम-तुषार,
> प्राण प्रणव ओङ्कार,
> ध्वनित दिशायें उदार,
> शतमुख-शतरव-मुखरे !

[गीतिका—निराला]

इसमें शब्दों द्वारा ही कवि भारतमाता की मूर्ति पाठकों के सामने ला देता है। 'भारतमाता' शब्द का प्रयोग जानबूझकर नहीं किया गया क्योंकि यह पश्चिम के अनुकरण पर गढ़ा गया शब्द है। भारती शब्द का प्रयोग करके कवि भारत भूमि की ओर ही संकेत करता है, पौराणिक लक्ष्मी या सरस्वती की ओर नहीं। पूरी कविता में जो चित्र उपस्थित हुआ है वह भारत की सांस्कृतिक परम्परा के अनुरूप है। लक्ष्मी जी की जैसी मूर्ति हमारे यहाँ बनती है उसी से मिलता हुआ यह चित्र है, यद्यपि यह पौराणिक लक्ष्मी नहीं, भारत-लक्ष्मी का चित्र है। इसलिए दूसरी पंक्ति में कनक, शस्य, कमल शब्दों से भारत के धन-धान्य और प्राकृतिक सौन्दर्य से पूर्ण होने की बात कही गयी है। पौराणिक चित्रों में लक्ष्मी को शस्य धारण किये नहीं दिखाया जाता। फसलों की पकी पीत बालियों के सोने के

रंग का होने के कारण कनक-शस्य कहा गया जिससे यह संकेत मिलता है कि भारत कृषि प्रधान देश है। कमल पुराने चित्रों में लीला-कमल के रूप में स्त्री के हाथ में दिखलाया जाता था, अतः यहाँ भी परम्परागत लीला-कमल वाला रूप तो सामने आता ही है, कमल शब्द का भारत की सौन्दर्य-भावना से जो अटूट सम्बन्ध है, वह भी व्यक्त हो जाता है। 'धरे' शब्द से यह व्यक्त होता है कि पीत बालियाँ और कमल भारती के हाथों में है, अर्थात' वह दो ही हाथों वाली है। इसके बाद के तीन पदों में भारती देवी के शरीर के निम्न, मध्य और शीर्ष भाग का चित्र रेखाओं द्वारा चित्रित किया गया है। पहले पद में चरणों का चित्र है। माता या देवी के पूज्य होने के कारण पहले उसके चरणों की ओर ही ध्यान जाता है; अतः कवि चरणों की ओर से ही वर्णन शुरू करता है। लंका शब्द से स्पष्ट हो जाता है कि भारत-भूमि का ही चित्र है। पदतल-शतदल कहने से कमल पर बैठी या खड़ी नारी मूर्ति का चित्र भी सामने आता है और यह भी प्रतीत होता है कि लंका उसके कमल-चरण की तरह है। सागर उन चरणों का अपनी ध्वनि से स्तवन करता है। 'बहु अर्थ भरे' श्लिष्ट पद है जिससे भाव भरे स्तवन और धन-सम्पत्ति का दान देकर स्तवन करने का संकेत मिलता है। दूसरे पद में भारती के वस्त्रों और हार का ही वर्णन किया गया है, उनके अंगो के उभार आदि का नहीं, क्योंकि देवी का नायिका जैसा वर्णन नहीं होना चाहिए; दूसरे, वस्त्र सुमन और हार ही पहले दिखते हैं। तरु-तृण-वन-लता-सुमन और गंगा शब्दों से भी स्पष्ट है कि यह भारतमाता का ही चित्र है। ज्योतिर्जल कहने से गंगा की पवित्रता के साथ-साथ भारतमाता की पवित्रता का भी भाव व्यक्त होता है। तीसरे पद में शीश-मुकुट और मुख से उच्चरित ओंकार ध्वनि का वर्णन किया गया है। हिमाच्छादित हिमालय ही शुभ्रमुकुट है, ओंकार ही प्राण-वायु से निर्मित ध्वनि है और भारतवासी ही भारती के मुख हैं। इस प्रकार इस गीत में भारती का पूरा चित्र खड़ा हो गया है। यह एक रेखाचित्र है परन्तु रेखाओं में रंग भी स्पष्ट उभरा हुआ है, कनक और कमल लाल या पीत वर्ण को, गंगा और हिम श्वेत वर्ण को और वनलता हरे रंग को व्यक्त करते हैं। गर्जितोर्मि और शतरव शब्दों से ध्वनि का चित्रण किया गया है। कमल और सुमन से गन्ध का चित्रण भी हो गया है। इस तरह रंग-रेखाओं से आकृति चित्रित है। गन्ध और शब्द का वर्णन आ जाने से चित्र जीवन्त हो उठा है। अनावश्यक वर्णनों में कवि नहीं उलझा है; रेखा-आकृति में ही उसने सांस्कृतिक और भौगोलिक तथ्यों को भी चित्रित कर दिया है। आलम्बन का यह एक पूर्ण शब्द-चित्रण कहा जायगा जिसमें प्रत्येक शब्द सार्थक, आवश्यक

और अभिव्यंजक है। चित्रण में क्रमबद्धता, अवांछित का त्याग, संयम और सौष्ठव पूर्ण मात्रा में हैं।

रूप-सौन्दर्य कहीं तो रेखाओं द्वारा ही चित्रित किया जाता है, जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, और कहीं छाया और प्रकाश की कला द्वारा आकृति का अस्पष्ट किन्तु भावव्यंजक चित्र अंकित किया जाता है। यह सभी अंगों को उभार कर रखने वाला चित्र नहीं होता पर प्रभावान्विति में संश्लिष्ट चित्रों से किसी प्रकार भी कम नहीं होता। प्रसाद जी की 'कामायनी' के श्रद्धा सर्ग का यह चित्र इसी प्रकार का है :—

छायाचित्र

हृदय की अनुकृति बाह्य उदार एक लम्बी काया, उन्मुक्त;
मधु पवन क्रीड़ित ज्यों शिशु शाल, सुशोभित हो सौरभ संयुक्त।
मसृण गान्धार देश के नील रोम वाले मेषों के चर्म,
ढँक रहे थे उसका वपु कान्त, बन रहा था वह कोमल वर्म।
नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा मुदुल अधखुला अंग;
खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।
आह वह मुख, पश्चिम के व्योम बीच जब घिरते हों घनश्याम;
अरुण रविमंडल उनको भेद दिखाई देता हो छवि धाम।
घिर रहे थे घुँघराले बाल अंस-अवलंबित मुख के पास,
नील घन शावक से सुकुमार सुधा भरने को विधु के पास।

इसमें एक व्यक्ति की आकृति का छायाचित्र अंकित किया गया है। नील रंग का मेष-चर्म धारण करने के कारण सारा शरीर कृष्ण वर्ण का है, सिर पर काले घुंघराले बाल चन्द्रमा को घेर कर बिखरे काले बादलों जैसे हैं। काया लम्बी है, मुख गोरा और कुछ अधखुले अंग—जैसे हाथ-पाँव—भी कान्तिमान हैं जैसे बादलों के वन में बिजली के फूल खिले हों। इस चित्र में लम्बाई, मोटाई और कुछ अंगों के पतलेपन का संकेत है। दो ही रंगों से चित्र तैयार हुआ है, काला और सफेद या ललाई लिए हुए सफेद रंग। इस तरह यह एक सुन्दर छायाचित्र है जो रहस्य और कुतूहल उत्पन्न करके प्रभावित करता है। काले रंग से छाया और उज्वल रंग से प्रकाश या कान्ति का चित्रण किया गया है।

प्रकृति के छायाचित्र भी छायावादी कविता में बहुत मिलते हैं। सन्ध्या, रात्रि या उषा के समय के चित्र बहुधा इसी प्रकार के हैं। कहीं-कहीं तो एक ही रंग में पूरा चित्र आ गया है, दो रंगों की जरूरत ही नहीं पड़ी :—

मेघों का यह मण्डल अपार !
जिसमें पड़ कर तम एक बार ही
कर उठता है चीत्कार ।
ये काले-काले भाग्य अंक
नभ के जीवन में लिखे हाय,
यह अश्रु बिन्दु सी सरल बूँद भी
आज बनी है निराधार !
यह पूर्व दिशा जो थी प्रकाश
की जननी छविमय प्रभापूर्ण
निज मृत शिशु पर रख नमित माथ
बिखराती घन-केशान्धकार !

[चित्ररेखा—रामकुमार वर्मा]

इसमें काले रंग से कई छायाकृतियाँ चित्रित की गई हैं, मेघ भयावने काले राक्षस के रूप में दिखलाई पड़ते हैं जिनकी चपेट में पड़कर अंधकार भी चीत्कार कर रहा है, अन्धकार में गिरने वाली बूँदें भी काली मालूम पड़ रही हैं, प्रकाश मरे हुये बच्चे की तरह मृत्यु के अन्धकार में विलीन हो गया है और उसकी मां पूर्व दिशा बादलों के बाल बिखराकर रो रही है। इस तरह इसमें काले रंग की गहराई और हलकेपन द्वारा चित्रण किया गया है। कहीं-कहीं केवल सफेद रंग के कम और अधिक उभार द्वारा ही चित्र अंकित किया गया है। पंत की चांदनी शीर्षक कविता इसका उदाहरण है:—

नीले नभ के शतदल पर वह बैठी शारदहासिनि
मृदु करतल पर शशिमुख धर नीरव अनिमिष एकाकिनि।

× × ×

वह फूली बेला की वन जिसमें न नाल, दल, कुड्मल,
केवल विकास चिर निर्मल जिसमें डूबे दश दिशिदल !

× × ×

अपनी छाया में छिपकर वह खड़ी शिखर पर सुन्दर
हैं नाच रहीं शतशत छवि सागर की लहर-लहर पर !

× × ×

वह शशि-किरणों से उतरी चुपके मेरे आंगन पर,
उर की आभा में खोई अपनी ही छवि से सुन्दर।

इसमें चाँदनी के अनेक खण्डचित्र दिखलाई पड़ते हैं जो सफेद रंग से

ही अङ्कित हैं। यद्यपि एक ही कविता में अनेक चित्र देने में कोई भी चित्र पूर्ण रूप से उभर कर सामने नहीं आता किन्तु सब का समष्टिगत प्रभाव एक पड़ता है। इसका कारण सर्वत्र उज्वल रंग की व्याप्ति है।

संश्लिष्ट चित्रण

बिम्बग्रहण के लिये चित्र का संश्लिष्ट होना आवश्यक है। संश्लिष्ट चित्रण से केवल आलम्बन के बाह्य रूप और उसके अवयवों का ही चित्र परिस्फुट नहीं होता बल्कि भाव के ठहरने के लिये भी अवसर प्राप्त होता है। रेखाचित्र, खण्डचित्र और छायाचित्र में वह प्रभावान्विति नहीं होती जो संश्लिष्ट चित्रों में। निराला ने जो चित्र दिये हैं वे अधिकतर संश्लिष्ट, सामंजस्य और सौष्ठवपूर्ण तथा सन्तुलित हैं और उनमें क्रमबद्धता और अखण्डता भी दिखलाई पड़ती है। एक कविता का कुछ अंश दिया जा रहा है—

बहुत दिनों बाद खुला आसमान,
निकली है धूप, हुआ खुश जहान।
दिखीं दिशायें झलके पेड़—
चरने को चले ढोर-गाय-भैंस-भेड़,
खेलने लगे लड़के छेड़-छेड़—
लड़कियां, घरों को कर भासमान।
लोग गांव - गांव को चले,
कोई बाजार कोई बरगद के पेड़ के तले,
जांघिया—लंगोटा ले संभले
तगड़े-तगड़े सीधे नौजवान।

[खुला आसमान—निराला]

इसमें कई दिनों बाद आसमान खुलने पर ग्रामीण जनता का कर्ममय प्रसन्न जीवन चित्रित किया गया है। जनता का जीवन गत्यात्मक और विविध रूप वाला है। उन सब रूपों को कुछ पंक्तियों में चित्र रूप में बद्ध कर देने का प्रयत्न कवि ने किया है। चित्रण में 'कनवास' बड़ा है; पूरे गाँव का। क्रमबद्धता शुरू से अन्त तक है। आसमान खुलने के बाद सबसे पहले बादलों में छिपी दिशायें दिखने लगीं और पेड़ प्रकाश में झलकने, अपना रूप स्पष्ट करने लगे, ढोर चरने के लिए गाँव से बाहर निकले; लड़के-लड़कियाँ, युवक-वृद्ध सभी प्रसन्न होकर कार्य-रत हो गये; कोई खेलने लगा, कोई कुश्ती लड़ने निकल पड़ा और वृद्ध बाजार की ओर चल पड़े क्योंकि उन्हें घर की चिन्ता रहती है। इस प्रकार यह

एक संश्लिष्ट चित्र है जिसमें अनेक वस्तुओं और घटनाओं का ऐसा संघटन हुआ है कि सब मिलाकर पूर्ण चित्र बन गया है।

ऊपर का चित्र बहुत सादा है, इसमें रंगों की बारीकी या विविधता नहीं है, गन्ध-शब्द आदि का चित्रण है। केवल प्रकाश में उभरे दृश्य अंकित हैं। किन्तु निराला ने बहुत ही सूक्ष्म विकास-क्रम, गति और रंगों तथा ध्वनियों का सामंजस्य दिखलाने वाले चित्र भी अंकित किये हैं :—

सखि, वसन्त आया!
भरा हर्ष वन के मन, नवोत्कर्ष छाया!

किसलय-वसना नववय-लतिका
मिली मधुर प्रिय-उर तरु-पतिका

मधुप-वृन्द बन्दी, पिक स्वर नभ सरसाया!
लता—मुकुल—हार—गन्ध—भार भर

बही पवन बन्द मन्द मन्दतर
जागी नयनों में वन यौवन की माया!

आवृत सरसी-उर सरसिज उठे
केशर के केश कली के छुटे

स्वर्ण-शस्य अंचल पृथ्वी का लहराया!

[गीतिका]

इस गीत में वसन्त ऋतु का एक दृश्य अंकित है। इसमें रूप, गन्ध और शब्द तीनों विषयों का समावेश हो गया है। पवन की गति का चित्र भी ध्वन्यात्मक शब्दों 'बन्द मन्द मन्दतर' द्वारा अंकित किया गया है, 'छुटे' और 'लहराया' शब्दों द्वारा भी पवन की गति और प्रकृति की चंचलता का चित्रण हुआ है। एक ही साथ वृक्ष में लिपटी किसलययुक्त लता, मंद पवन, मधपों और कोकिल की ध्वनि, तालाब में खिले कमल, उनके बिखरे पराग, और पृथ्वी की पकी फसलों की बालियों के झुक-झुककर झूमने की क्रिया का यह संश्लिष्ट चित्र है। इस तरह इसमें रूप-रस, गन्ध-स्पर्श सभी विषयों का सुन्दर सामंजस्य हुआ है।

निराला ने उषा के सन्धिकाल का एक सर्वांगपूर्ण चित्र खींचा है जिसमें रात्रि का नायिका के रूप में मानवीकरण किया गया है :—

(प्रिय) यामिनी जागी!
अलस पंकज-दृग, अरुण मुख, तरुण अनुरागी!

खुले केश अशेष शोभा भर रहे,
पृष्ठ—ग्रीवा—बाहु—उर पर तिर रहे,
बादलों में घिर अपर दिनकर रहे,
ज्योति की तन्वी, तड़ित-द्युति ने क्षमा माँगी !

हेर उर-पट फेर मुख के बाल
लख चतुर्दिक चली मन्द मराल
गेह में प्रिय स्नेह की जयमाल
वासना की मुक्ति, मुक्ता त्याग में तागी !

[गीतिका]

यह सो कर उठी हुई अस्त-व्यस्त युवती का स्वाभाविक और संश्लिष्ट चित्र है, विश्लेषण करने की आवश्यकता नहीं। इसमें वेशभूषा और बाह्याकृति के साथ वातावरण और आँगिक चेष्टाओं का चित्र भी बड़ी बारीकी के साथ अंकित किया गया है।

संश्लिष्ट चित्रण कवि के सूक्ष्म निरीक्षण का परिणाम है। उसमें वह आवश्यक वस्तुओं को चित्र के अंग रूप में चित्रित करता और अनावश्यक को छोड़ देता है। इस तरह वह छोटे 'कनवास' में ही अनेक वस्तुओं का अत्यन्त बारीक तूलिका से आलेखन करता है। ऐसे चित्र पूर्ण और अखण्ड होते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि जब अलंकारों या अप्रस्तुतों की अधिक सहायता ले कर चित्र तैयार होता है या उपदेश और ज्ञान का मोह भी कवि के ऊपर हावी हो उठता है तो उसके चित्र विकृत और विकलांग हो जाते हैं। सुमित्रानन्दन पंत के चित्रों में संश्लिष्टता होते हुए भी ये दोष बहुधा देखे जाते हैं। उनकी 'नौका विहार' 'संध्यातारा' आदि ऐसी ही कवितायें है :—

नीरव संध्या में प्रशान्त
डूबा है सारा ग्राम प्रान्त
पत्रों के आनत अधरों पर सो गया निखिल वन का मर्मर,
ज्यों वीणा में तारों के स्वर।
खग-कूजन भी हो रहा लीन, निर्जन गोपथ अब धूलि-हीन,
धूसर भुजंग सा जिह्म क्षीण।
झींगुर के स्वर का प्रखर तीर, केवल प्रशान्ति को रहा चीर
संध्या प्रशान्ति को कर गँभीर।

× × ×

अब हुआ सान्ध्य स्वर्णाभ लीन
सब वर्ण-वस्तु से विश्व हीन।
गंगा के चल जल में निर्मल, कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल
है मूँद चुका अपने मृदु दल
लहरों पर स्वर्ण रेख सुन्दर पड़ गयी नील ज्यों अधरों पर
अरुणाई प्रखर शिशिर से डर।

× × ×

पश्चिम नभ में हूँ रहा देख उज्ज्वल अमन्द नक्षत्र एक
अकलुष अनिन्द्य नक्षत्र एक, ज्यों मूर्तिमान ज्योतित विवेक
उर में हो दीपित अमर टेक

× × ×

दुर्लभ रे दुर्लभ अपनापन, लगता यह निखिल विश्व निर्जन
वह निष्फल इच्छा से निर्धन!
आकांक्षा का उच्छ्वसित वेग, मानता नहीं बन्धन-विवेक।

[संध्या-तारा—पन्त]

इसमें सन्ध्याकाल की नीरवता, धूमिलता, झींगुर की झंकार, बढ़ता हुआ अन्धकार, सूर्यास्त के बाद गंगा की लहरों का नीली पड़ जाना और पश्चिम-नभ में एक तारा का दिखलाई पड़ना इन सबका संश्लिष्ट चित्रण हुआ है। यहाँ कवि की सूक्ष्म दृष्टि दिखलाई पड़ती है। पर जब वह तारे को देख कर दर्शन का उपदेश करने लगता है और अपनेपन की दुर्लभता और आकांक्षा के उच्छ्वसित वेग की चर्चा करता है तो चित्र विकलांग हो जाता है। पाठकों का ध्यान प्रस्तुत से हट कर कवि के उपदेश पर चला जाता है जिसे मानने के लिए वे बाध्य नहीं हैं। अलंकारों की अधिकता के कारण भी चित्र की स्वाभाविकता कम हो गयी है। *

*इस सम्बन्ध में निराला की ये पंक्तियाँ विचारणीय हैं जिन्हें उन्होंने अपनी काव्यकला की विवेचना करते हुए लिखी हैः—"यह बात पन्त जी की कविता में नहीं। हर बन्द अपना राग अलग अलाप रहा है। उनकी अधिकांश रचनायें ऐसी हैं। सब जगह एक-एक उपमा, रूपक या उत्प्रेक्षा काव्य को कला में परिगणन कराने के लिए है, और इसे ही उनके आलोचकों ने अपूर्व कला समझ लिया है। उनकी दो एक रचनायें सम्बद्ध हैं पर वे भी उत्तम श्रेणी की नहीं बन सकीं; उनके विषय की विशदता वैसी नहीं जैसी अलंकारों की चमक-दमक है। मैं लिख चुका हूँ, केवल रस, अलंकार या ध्वनि कला नहीं। अगर है तो

कवि सदैव पूर्ण चित्र के माध्यम से ही अपनी अनुभूतियों को नहीं व्यक्त करता। वस्तुतः संश्लिष्ट चित्रण के लिए सर्वत्र अवसर रहता भी नहीं। अतः कविता के बीच में वह अनेक खण्डचित्रों का विधान करता है जो एक दूसरे से असम्बद्ध रहते हैं यद्यपि सब का भाव एक ही होता है। पन्तजी की कविताओं में ऐसे खण्डचित्र ही अधिक मिलते हैं। कहीं-कहीं एक ही भाव को व्यक्त करने के लिए अनेक चित्रों का आलेखन होता है जो सिनेमा के गत्यात्मक चित्रों की तरह अपनी झलक दिखा कर तिरोहित हो जाते हैं। पन्त की 'मौन निमंत्रण' कविता में इसी तरह के अनेक खण्डचित्र हैं:—

सघन मेघों का भीमाकाश, गरजता है जब तमसाकार,
दीर्घ भरता समीर निश्वास, प्रखर झरती जब पावस-धार।
न जाने तपक तड़ित में कौन
मुझे इंगित करता तब मौन ?

× × ×

क्षुब्ध जल-शिखरों को जब वात सिन्धु में मथकर फेनाकार,
बुलबुलों का व्याकुल संसार बना, बिथुरा देती अज्ञात;
उठा कर लहरों से कर कौन
न जाने मुझे बुलाता मौन।
कनक-छाया में जब कि सकाल खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभिपीड़ित मधुपों के बाल तड़प बन जाते हैं गुँजार;
न जाने ढुलक ओस में कौन
खींच लेता मेरे दृग मौन !

[पल्लव—पन्त।]

यहाँ मेघाच्छन्न आकाश, क्षुब्ध सागर और सुनहरे प्रभात के तीन प्रकार के तीन चित्र अंकित हैं। (पूरी कविता में और भी चित्र हैं।) ये तीनों ही खण्डचित्र हैं और परस्पर असम्बद्ध हैं, पर निमंत्रण देने की, आकर्षण की शक्ति तीनों में है। यह इस कविता की असफलता नहीं बल्कि सफलता है क्योंकि इस तरह से ही कवि विश्ववैचित्र्य की विविधता का पूरा परिचय दे सका है।

कला के खण्डार्थ में है, पूर्णार्थ में नहीं। खण्डार्थ में पन्तजी की कला बहुत ही सुन्दर बन पड़ी है। उनके प्रशंसकों की दृष्टि इन्हीं खण्डरूपों में बँध गयी है।"

['मेरे गीत और कला'—प्रबन्ध-प्रतिमा—निराला]

महादेवी वर्मा की कविताओं में संश्लिष्ट चित्रण से अधिक फिल्म जैसी गत्यात्मक चित्रमाला दिखलाई पड़ती है जिनमें चटकीले रंगों के साथ विषाद का गहरा नीला रंग मिल जाने से धूपछाँही चित्रों की योजना हो जाती है। ये इतने जल्दी-जल्दी बदलते हैं कि ठहर कर किसी एक को देखने का अवकाश पाठक को नहीं मिलता। इसी कारण महादेवी के चित्र अस्पष्ट और अपरिस्फुट प्रतीत होते हैं। उनके चित्रों में इन्द्रियों के विषयों का समावेश भी प्रर्याप्त मात्रा में हुआ है:—

रागभीनी तू सजनि, निःश्वास भी तेरे रँगीले!
लोचनों में क्या मदिर नव?
देख जिसको नीड़ की सुधि फूट निकली बन मधुर रव
झूलते चितवन गुलाबी में चले घर खग हठीले!

× × ×

आज इन तन्द्रिल पलों में
उलझतीं अलकें सुनहली असित निशि के कुन्तलों में,
सजनि नीलम रज भरे रँग चूनरी के अरुण-पीले!
रेख सी लघु तिमिर लहरी
चरण छू तेरे हुई है सिन्धु सीमाहीन गहरी!
गीत तेरे पार जाते बादलों की मृदु तरी ले!
कौन छायालोक की स्मृति
कर रही रंगीन प्रिय के द्रुत पदों की अंक-संसृति?
सिहरती पलकें किये देतीं विहँसते अधर गीले!

यह संध्या का धूपछाँही और गत्यात्मक चित्र है। पूरी कविता में लाल-पीले, धुँधले-काले रंगों का सुन्दर सामंजस्य हुआ है। चित्र भी अनेक हैं, दी-जल्दी बदलने वाले। सन्ध्या का मूर्तरूप, चिड़ियों का बोलते हुए अपने नीड़ों को लौटना; सन्ध्या के रंग-विरंगे बादलों की चुनरी; प्रकाश-अन्धकार का मिलन, सुनहले और काले बालों के गुम्फन की तरह; बढ़ता हुआ अन्धकार; गीत के स्वर; उड़ते हुए बादल—ये विविध चित्र एक के बाद एक सरकते हुए सिनेमा की रील के चित्रों जैसे मालूम पड़ते हैं। चित्रों की अननुरूपता (Contrast) दिखाने वाली कवितायें भी महादेवी ने लिखी हैं:—

सब आँखों के आँसू उजले सबके सपनों में सत्य पला!
जिसने उसको ज्वाला सौंपा
उसने इसमें मकरन्द भरा,

आलोक लुटाता वह घुल घुल
देता झर यह सौरभ बिखरा,
दोनो संगी, पथ एक, किन्तु कब दीप खिला, कब फूल जला ?

वह अचल धरा को भेंट रहा
शत-शत निर्झर में हो चंचल,
चिर परिधि बना भू को घेरे
इसका नित उर्मिल करुणाजल,
कब सागर-उर पाषाण हुआ, कब गिरि ने निर्मम तन बदला ?

इसमें फूल और दीपक तथा पर्वत और समुद्र के रूपों की झलक दिखाकर उनकी तुलना की गई है और इस तरह विविधता में एकता का समन्वित प्रभाव उत्पन्न करने वाला चित्र उपस्थित किया गया है।

भावसौन्दर्य

रूप-चित्रों के सहारे भी भावनाओं का ही चित्रण किया जाता है किन्तु कहीं-कहीं भावनाओं को मूर्तरूप में भी चित्रित किया जाता है। छायावादी कविता में इस तरह के भाव-सौन्दर्य का ही चित्रण अधिक हुआ है। कामायनी में प्रसाद ने अनेक मनोभावों को मूर्त्तरूप में चित्रित किया है। सौन्दर्य शरीर और आत्मा का एक गुण है किन्तु उसका भी मूर्तचित्र प्रसाद ने इस प्रकार उपस्थित किया है :—

अम्बरचुम्बी हिमश्रृंगों से कलरव कोलाहल साथ लिये,
विद्युत की प्राणमयी धारा बहती जिसमें उन्माद लिये,
मंगल कुंकुम की श्री जिसमें निखरी हो ऊषा की लाली,
भोला सुहाग इठलाता हो ऐसी हो जिसमें हरियाली,

× × × ×

जो गूंज उठे फिर नस-नस में मूर्च्छना समान मचलता सा,
आंखों के सांचे में आकर रमणीय रूप बन ढलता सा,

× × × ×

उज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं,
जिसमें अनन्त अभिलाषा के सपने सब जगते रहते हैं !

[कामायनी-लज्जासर्ग]

सौन्दर्य का एक दूसरा चित्र प्रसाद ने इस प्रकार उपस्थित किया है :—

तुम कनक-किरण के अन्तराल में लुकछिपकर चलते हो क्यों ?
नत मस्तक गर्व वहन करते,
यौवन के घन रसकन ढरते,
हे लाजभरे सौन्दर्य बता दो मौन बने रहते हो क्यों ?
अधरों के मधुर कगारों में
कलकल ध्वनि की गुंजारों में,
मधुसरिता सी यह हंसी तरल अपनी पीते रहते हो क्यों ?

इन चित्रों में सौन्दर्य का मानवीकरण नहीं किया गया है बल्कि उसके आश्रय—सुन्दर व्यक्ति—का चित्र उपस्थित किया गया है। इस चित्रण की विशेषता यह है कि इसमें सौन्दर्य की परिभाषा देने अथवा बौद्धिक विवेचन करने का प्रयत्न नहीं किया गया, चित्रों द्वारा ही सौन्दर्य को मूर्त किया गया है।

भावसौन्दर्य के चित्रण के लिये अधिकतर भावनाओं का मनोवैज्ञानिक वर्णन ही पर्याप्त होता है। उदाहरणार्थ प्रेम का चित्रण प्रेम-व्यापार वर्णन द्वारा ही किया जा सकता है। जीवन के मार्मिक स्थलों का चुनाव करके ही कवि भावनाओं का चित्रण किया करते हैं। प्रबन्धकाव्यों में क्रिया और घटना की योजना के कारण भावसौन्दर्य छिपा रहता है किन्तु प्रगीत मुक्तक और गीतों में उसकी अभिव्यक्ति के लिये अधिक अवसर मिलता है। इनमें स्थायी भावों के अतिरिक्त संचारी भावों का भी चित्रण विस्तृत रूप में दिखलाई पड़ता है। भावप्रधान कविताओं में आलम्बन और उद्दीपन का रूपचित्रण नहीं होता, आलम्बन तो बहुधा अप्रकट ही रहता है। छायावादी कवियों में प्रसाद और महादेवी ने इस तरह के भावचित्रों की योजना बहुत अधिक की है। उत्तरकालीन छायावादी कवियों नें भावचित्रण ही अधिक किया है। मैथिलीशरण गुप्त ने भी अपनी बाद की कविताओं में भावसौन्दर्य का सुन्दर चित्रण किया है :—

सजनि रोता है मेरा गान !
प्रिय तक नहीं पहुँच पाती है उसकी कोई तान !

× × ×

अपना पानी भी नहीं रखता अपनी बात,
अपनी ही आँखें उसे ढाल रहीं दिन रात।
जना देते हैं सभी अजान।
दुख भी मुझसे विमुख हो करे न कहीं प्रयाण,
आज उन्हीं में तो तनिक अटके हैं ये प्राण ?
विरह में आजा, तू ही मान !

इसमें दुःख की अनुभूति का मार्मिक चित्रण किया गया है। भगवतीचरण वर्मा, बच्चन, नरेन्द्र, सुभद्राकुमारी चौहान, नेपाली, जानकीवल्लभ शास्त्री आदि नये कवियों ने जीवन के अभाव, दुःख, प्रेम की असफलता या सफलता, पारिवारिक सम्बन्ध आदि की रागात्मक अनुभूतियों का सुन्दर चित्रण किया है। प्रेम में मनुहार की भावना का चित्र सुभद्राकुमारी चौहान ने इस प्रकार दिया है:—

यह मर्म कथा अपनी ही है औरों को नहीं सुनाऊँगी,
तुम रूठो सौ-सौ बार तुम्हें पैरों पड़ सदा मनाऊँगी।
बस, बहुत हो चुका, क्षमा करो, अवसाद हटा दो अब मेरा।
खो दिया जिसे मद में मैंने, लाओ दे दो वह सब मेरा!

['मनुहार'-सुभद्राकुमारी चौहान]

मस्ती का चित्र भगवतीचरण वर्मा इस प्रकार खींचते हैं:—

हम दीवानों की क्या हस्ती, हैं आज यहाँ कल वहाँ चले!
मस्ती का आलम साथ चला, हम धूल उड़ाते जहाँ चले!

× × ×

हम हंसते-हंसते आज यहाँ प्राणों की बाजी हार चले,
हम भला-बुरा सब भूल चुके, नतमस्तक हो मुख मोड़ चले!

× × ×

अब अपना और पराया क्या आबाद रहें रुकने वाले,
हम स्वयं बँधे थे और स्वयं अपने बन्धन हम तोड़ चले!

['प्रेमसंगीत'-भगवतीचरण वर्मा]

दुनिया के रूप-रस को देखकर बच्चन के मुँह में पानी भर आता है पर उन्हें न पाकर वे क्रुद्ध होकर नियति को कोसने लगते हैं:—

मेरे साथ अत्याचार!
प्यालियाँ अगणित रसों की
सामने रख राह रोकी
पहुँचने दी अधर तक बस आँसुओं की धार?
भावना अगणित हृदय में,
कामना अगणित हृदय में,
आह को ही बस निकलने का दिया अधिकार?

[आकुल अन्तर—बच्चन]

इन कविताओं में भावोच्छ्वास तो अवश्य दिखलाई पड़ता है किन्तु भावों का क्रमबद्ध और सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण नहीं दिखाई पड़ता। अतः कलात्मक दृष्टि से उत्तरकालीन छायावाद की कविता में चित्रण-सौन्दर्य कम मिलता है। नरेन्द्र को अन्य कवियों की अपेक्षा भाव-सौन्दर्य के चित्रण में अधिक सफलता मिली है :—

बन्धन कोई बाँधे हजार पर रुक न सकी यह हृदय-धार !
उद्गम है छोटा सा ही मन
पथ आंखों में, बूँदों में गति,
पर बूँदों से बन महासिन्धु
यह ग्रस लेती सारी संसृति;
सागर में जग दृगद्वीप बना देखा करता उसका प्रसार ?
मृदु पलकों के दो पुलिन बने
लघु लहरें स्मिति की चटुल क्षीण,
पर क्षण में ही बन जाती है
फिर यह प्रवाहिनी कूलहीन,
सबको तराशती चलती है यदि रोके गति इसकी कगार !

[प्रेमनदी-'प्रभातफेरी'—नरेन्द्र]

इसमें रूपक के सहारे प्रेम की उद्दाम गति का चित्रण किया गया है।

कर्मसौन्दर्य

कर्मसौन्दर्य के चित्रण के लिये प्रबन्धकाव्यों में ही अधिक अवसर रहता है, किन्तु प्रगीत मुक्तकों और मुक्त छन्द में भी उसका चित्रण यत्रतत्र दिखलाई पड़ता है। जिन कविताओं में प्रबन्धात्मक अथवा महाकाव्यात्मक गुण होते हैं उनमें क्रियाशीलता के बीच सौन्दर्य का दर्शन होता है। 'साकेत' के अष्टम सर्ग में सीता का कर्मरत रूप गुप्तजी ने सफलतापूर्वक चित्रित किया है:—

अंचल पट कटि में खोंस कछोटा मारे,
सीता माता थीं आज नयी छवि धारे।
थे अंकुर-हितकर कलश पयोधर पावन,
जन-मातृ-गर्वमय कुशलवदन मनभावन !

× × × ×

क्षोणी पर जो निज छाप छोड़ते चलते,
पद पद्मों में मंजीर मराल मचलते।

रुकने-झुकने में ललित लंक लच जाती,
पर अपनी छवि में छिपी आप बच जाती।

निराला ने 'राम की शक्ति-पूजा' 'सरोज-स्मृति' 'नाचे उस पर श्यामा' 'दान' आदि कविताओं में कर्मसौन्दर्य का सुन्दर चित्रण किया है। 'वह तोड़ती पत्थर' में सर्वहारावर्ग की स्त्री का कर्मरत रूप चित्रित किया गया है। यहाँ कर्म-सौन्दर्य के साथ ही रूप और भावसौन्दर्य का भी सुन्दर समन्वय हुआ है :—

कोई नहीं छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार;
श्याम तन, भर बँधा यौवन,
नत नयन, प्रिय-कर्मरत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ,
करती बार-बार प्रहार :—
सामने तरु-मालिका अट्टालिका, प्राकार।

× × ×

देखते देखा मुझे तो एक बार
उस भवन की ओर देखा छिन्नतार;
देख कर कोई नहीं देखा मुझे उस दृष्टि से
जो मार खा रोई नहीं,
सजा सहज सितार,
सुनी मैंने वह नहीं जो थी सुनी झंकार।
एक छन के बाद वह कांपी सुघर,
ढुलक माथे से गिरे सीकर,
लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा—
'मैं तोड़ती पत्थर।'

इसमें सड़क पर धूप में बैठ कर पत्थर तोड़ती हुई स्त्री का रूप और वहाँ के वातावरण तथा उसके हृदय में उठते हुए भावों का संकेत द्वारा चित्रण किया गया है। इस चित्र में समाज के आर्थिक और वर्गीय वैषम्य का भाव भी स्पष्ट झलक रहा है।

१९३० के बाद सामाजिक और राष्ट्रीय संघर्ष की भावना व्यक्त करने वाली कवितायें अधिक लिखी जाने लगीं। ऐसी कवितायें तीन प्रकार की हैं—वर्णनात्मक, उद्बोधनात्मक और विचारात्मक। विचारात्मक शैली की कविताओं में चित्रणकला का अभाव है किन्तु वर्णनात्मक और उद्बोधनात्मक शैली की कवि-

ताओं में यत्रतत्र अच्छा चित्रण हुआ है। माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन, नरेन्द्र शर्मा, अंचल, केदारनाथ अग्रवाल आदि की कविताओं में कर्मसौन्दर्य के ऐसे चित्र दिखलाई पड़ते हैं। 'कैदी और कोकिला' कविता में माखनलाल चतुर्वेदी ने जेल के संघर्षमय जीवन का सुन्दर चित्रण किया है :—

क्या देख न सकती जंजीरों का पहना ?
हथकड़ियाँ क्यों ? यह ब्रिटिशराज का गहना !
गिट्टी पर ? अंगुलियों ने लिक्खे गान !
कोल्हू का चरखा चूँ ?—जीवन की तान !
हूँ मोट खींचता लगा पेट पर जूँआ,
खाली करता हूँ ब्रिटिश अकड़ का कूँआ !

× × × ×

टोपी काली, कमली काली मेरी लौह शृंखला काली,
पहरे की हुँकृति की व्याली, तिसपर है गाली ऐ आली !
इस काले संकट-सागर पर मरने की मदमाती कोकिल बोलो तो ?
अपने चमकीले गीतों को किस विधि हो तैराती, कोकिल बोलो तो ?

इसमें स्वतंत्रता के सैनिकों के जेल के संघर्ष और कष्ट के जीवन का चित्रण किया गया है जिसमें व्यक्त कर्मसौन्दर्य उनके प्रति श्रद्धा और सहानुभूति की भावना उत्पन्न करता है। दिनकर ने भी 'दिल्ली', 'नयी दिल्ली', 'हिमालय', 'आलोक-धन्वा', 'हाहाकार', 'दिगम्बरि', 'विपथगा' आदि अनेक वर्णनात्मक और उद्बोधनात्मक कवितायें लिखी हैं जिनमें सामाजिक वैषम्य, वर्ग-संघर्ष और क्रान्ति का चित्रण किया गया है। 'विपथगा' (क्रान्ति) का एक चित्र यहाँ दिया जा रहा है :—

झन झन झन झन झन झनन झनन !
मेरी पायल झंकार रही तलवारों की झंकारों में,
अपनी आगमनी बजा रही मैं आप क्रुद्ध हुंकारों में !

× × ×

पायल की पहली झमक, सृष्टि में कोलाहल छा जाता है,
पड़ते जिस ओर चरण मेरे भूगोल उधर दब जाता है !
श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं,
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं !

× × ×

मुझ विपथगामिनी को न ज्ञात किस रोज किधर से आऊँगी !
मिट्टी से किस दिन जाग क्रुद्ध अम्बर में आग लगाऊँगी !

इसमें क्रान्ति द्वारा होने वाली उथल-पुथल का काल्पनिक चित्र खींचा गया है। भगवतीचरण वर्मा ने 'भैंसागाड़ी', 'ट्राम' आदि कविताओं में कर्म-कोलाहल-मय यथार्थ जीवन के चित्र खींचे हैं। 'भैंसागाड़ी' का एक चित्र दर्शनीय है:—

चरमर चरमर चूँ चरर मरर जा रही चली भैंसागाड़ी !
उस ओर क्षितिज के कुछ आगे कुछ पाँच कोस की दूरीपर,
भू की छातीपर फोड़ों से हैं उठे हुये कुछ कच्चे घर।
मैं कहता हूँ खंडहर उसको पर वे कहते हैं उसे ग्राम,
जिसमें भर देती निज धुंधलापन असफलता की सुबह-शाम !

× × ×

इस राजकाज के वही स्तम्भ, उनकी पृथ्वी, उनका ही धन,
ये ऐश और आराम उन्हीं के और उन्हीं के स्वर्ग-सदन !
उस बड़े नगर का राग-रंग हंस हरा निरन्तर पागल सा,
उस पागलपन से ही पीड़ित कर रहे ग्राम अविकल क्रन्दन !

× × ×

दानवता का सामने नगर, मानव का कृश कंकाल लिये—
चरमर चरमर चूँ चरर मरर जा रही चली भैंसागाड़ी !

इस कविता में शोषक जमीदार-पूँजीपति वर्ग के अत्याचारों का यथार्थ चित्रण किया गया है। प्रगतिवादी कही जाने वाली कविताओं में ऐसे मार्मिक चित्र बहुत कम आ सके हैं जिससे उनमें प्रभावोत्पादकता कम है। जो चित्र हैं भी उनमें कलात्मक सौष्ठव नहीं है। वस्तुतः चित्रण सौन्दर्य छायावाद-युग के पूर्वार्द्ध में ही अधिक दिखलाई पड़ता है; उत्तरार्द्ध में वर्णनात्मकता, बौद्धिकता और उपदेशात्मकता अधिक होने से चित्रण सम्बन्धी कलात्मकता का अभाव दिखलाई पड़ता है।

शैलीगत विशेषताएँ

इस खण्ड के प्रथम अध्याय में शैली का विश्लेषण करते हुए परिवेश के परिवर्तन के साथ शैली के परिवर्तन की बात कही जा चुकी है। काव्य-रूप, अलंकार, चित्रण-कला आदि शैली के विभिन्न पहलू हैं। इनके अतिरिक्त भारतीय अलंकारवादियों ने औचित्य, गुण, रीति आदि को भी शैली का आवश्यक अंग मान कर उनके सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया है। छायावादी कविता के सम्बन्ध से विचार करते समय शैली के इन पहलुओं पर एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक है। जैसा पहले कहा जा चुका है, शब्द और अर्थ मे चमत्कार या विशिष्टता उत्पन्न करने वाली रीति को ही शैली कहते हैं। कवि की विशिष्ट भावानुभूति या विचारों को दूसरों तक सफलतापूर्वक पहुँचाने के लिए शैली अत्यन्त आवश्यक होती है। जब विचारों का प्राधान्य होता है तो शैली गद्यात्मक होती है और जब भावना प्रधान होती है तो वह काव्यात्मक होती है। तात्पर्य यह कि छन्दोबद्ध विचार काव्य नहीं हो सकते और न गद्य में अभिव्यक्त भावानुभूतियाँ अकाव्यात्मक होती हैं। शैली में पूर्णता तब आती है जब कवि की रचना में प्रेषणीयता की शक्ति पूर्ण मात्रा में होती है। प्रो० मिडिलटन मरी के मत के अनुसार काव्य की उत्कृष्ट शैली के लिए तीन आवश्यक शर्तें हैं :— *

---

*"I examined two qualities of style which are not infrequently put forward as essential, namely, the musical suggestion of the rythm, and the visual suggestion of the imagery, and I tried to show that these were subordinate. On the positive side, I tried to show that essential quality of style was precision; that this precision was not itellectual, not a precision of definition but of emotional suggestion;"

[J. Middleton Murry--The Problem of style—Page 95.]

१—लय की संगीतात्मक अभिव्यंजना ।
२—प्रस्तुत और अप्रस्तुत की रूपमयी (चित्रात्मक) अभिव्यंजना ।
३—सानुरूप भावाभिव्यंजना । (Precise expression)

इन तीनों में सानुरूप भावाभिव्यंजना ही सब से प्रधान है। लय की संगीतात्मक अभिव्यक्ति के विषय में 'छन्द और लयतत्व' शीर्षक अध्याय में विचार किया जायगा। रूपमयी अभिव्यंजना के सम्बन्ध में पिछले दो अध्यायों में विचार किया जा चुका है। यहाँ शैली की इस तीसरी विशेषता के सम्बन्ध में कुछ विस्तार से विचार किया जायगा।

प्रो० मरी के मत के अनुसार सानुरूप भावाभिव्यंजना (Precise communication) पर ही शैली की उत्कृष्टता निर्भर करती है। जहाँ अभिव्यक्ति में औचित्य अथवा अनुरूपता नहीं है वहाँ शैली भी नहीं मानना चाहिये। औचित्य का तात्पर्य यह नहीं है कि कवि को बौद्धिक विश्लेषण और तर्क द्वारा वर्ण्यवस्तु की जाति-गुण-क्रिया आदि की परिभाषा लिखनी चाहिये। गद्य में इस प्रकार की पद्धति अवश्य काम देती है किन्तु काव्य में यह शैली अनौचित्यपूर्ण मानी जायगी। कारण यह है कि कवि तथ्य का निरूपण नहीं करता, वह सत्य का साक्षात्कार और प्रत्यक्षीकरण करता है। तथ्य तो जगत का प्रपंच, उसकी विविधता है; वह भेद-बुद्धि को जन्म देता है; किन्तु जगत की विविधता के भीतर जो एकता निहित है, भेद में जो अभेद स्थित है—वही सत्य है। कवि उसी का साक्षात्कार और प्रत्यक्षीकरण करता है। अतः वह वस्तु की भेदमूलक आकृति को छोड़कर अभेदमूलक छायाकृति या सूक्ष्म रूप की ओर अग्रसर होता है। तथ्य बाह्य वस्तु है और सत्य उसकी आत्मा। पर तथ्य सत्य का आश्रय लेकर ही ज्ञात होता है। कोई सुन्दर वस्तु तथ्य है पर उसका सौन्दर्य सत्य है जो एक, अखण्ड और भेद-रहित है। काव्य का सम्बन्ध इसी सत्य से है। वह श्रोता या पाठक को व्यक्तिगत सीमाओं और धरातल से ऊपर उठाकर सामान्य भावभूमि पर पहुँचाता है जहाँ व्यक्तिगत सम्बन्धों का तिरोभाव हो जाता है और तब सत्यगत सम्बन्धों का लोक ही शेष रह जाता है।* यह सत्य शाश्वत या नित्य नहीं होता और न वह अलौकिक या

---

* "हमारा मन जिस ज्ञान-राज्य में विचरण कर रहा है वह दोमुहाँ पदार्थ है। उसके एक ओर है तथ्य और दूसरी ओर सत्य। जैसा है वैसे ही भाव को तथ्य कहते हैं और वह तथ्य जिसका आश्रय करके टिका है वह सत्य है। मुझ में जो 'मैं' बँधा हुआ है वही मेरा व्यक्ति रूप है। यह तथ्य अंधकार का निवासी है,

निरपेक्ष्य ही है। वह सर्वथा लौकिक और सापेक्ष्य है। फिर भी तथ्य की तुलना में वह अधिक चिरस्थायी और व्यापक है। काव्य तथ्य से अधिक सत्य का ही साक्षात्कार कराता है।

सत्य महनीय है पर तथ्य से विच्छिन्न नहीं है। अतः सत्य के प्रकाशन के लिए कवि को तथ्य का सहारा लेना ही पड़ता है। मनुष्य के मनुष्यत्व का चित्रण करने के लिए हमें 'व्यक्ति' मनुष्य को लेना पड़ेगा, समष्टिगत 'मनुष्य' या मनुष्य जाति को नहीं। उसी तरह कवि बिलकुल तटस्थ हो कर काव्य रचना नहीं कर सकता, वह 'व्यक्ति' रूप में अपनी अनुभूति, कल्पना और भावना की अभिव्यक्ति करता हुआ सत्य का प्रकाशन करता है। जितनी ही गहराई के साथ वह सत्य का साक्षात्कार करता है, उतना ही महनीय और विशिष्ट उसका व्यक्तित्व बन जाता है। इस तरह व्यक्तित्व की विशिष्टता का सत्य के साक्षात्कार के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है। कवि की शैली उसके व्यक्तित्व की ही काव्यात्मक अभिव्यक्ति है, अतः शैली का भी सत्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ता है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि गद्य में विचारों की और कविता में भावनाओं की अभिव्यक्ति विशेष रूप से होती है। विचार बहुधा तथ्यमूलक होते हैं। साहित्य या काव्य तथ्य की माप-तोल करके उसकी परिभाषा नहीं बनाता न वैज्ञानिक की तरह उसका विश्लेषण ही करता है। अतः काव्य की शैली, शास्त्र और विज्ञान की शैली से भिन्न होती है। वह सत्याश्रित तथ्य की रागात्मक अभिव्यक्ति करती है। वह अभिव्यक्ति सत्य है पर तथ्यपूर्ण (Factual) उसे नहीं कह सकते। उस सत्य के कारण ही काव्य का साधारणीकरण होता है। छन्द, अलंकार, चित्रण, शब्द-योजना, शब्द-शक्तियाँ आदि उस सत्य के प्रत्यक्षी-

---

वह अपने को स्वयं प्रकाशित नहीं कर सकता है। जभी इसका परिचय पूछा जायगा, तभी वह ऐसे बड़े सत्य के द्वारा दिया जायगा जिसे आश्रय करके वह टिका हुआ है।···तथ्य खण्डित और स्वतंत्र है; सत्य के भीतर ही वह अपने बृहत् ऐक्य को प्रकाशित करता है। मैं व्यक्तिगत 'मैं' हूँ, इस छोटे से तथ्य के भीतर 'मैं मनुष्य हूँ' इस सत्य का जब मैं प्रकाश करता हूँ, तभी उस विराट एक के आलोक से नित्यता के भीतर उद्भासित होता हूँ। तथ्य के सत्य का प्रकाश ही प्रकाश है। चूँकि साहित्य और ललित-कला का काम ही प्रकाश करना है, इसलिये तथ्य के पात्र को आश्रय करके हमारे मन को सत्य का स्वाद देना ही उनका काम है।"

—रवीन्द्रनाथ टाकुर ['साहित्य का साथी'—हजारी प्रसाद द्विवेदी]

करण के साधन हैं अर्थात शैली के अवयव हैं। इस विश्लेषण से हम निम्नलिखित निष्कर्ष निकालते हैं :—

१—काव्य की शैली कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है।

२—व्यक्तित्व का निर्माण सत्य के साक्षात्कार से होता है।

३—कवि सत्य को तथ्य के सहारे प्रत्यक्ष या मूर्त करता है, तथ्य का निरूपण नहीं करता।

४—व्यक्तित्व की भिन्नता के कारण प्रत्येक कवि की शैली भिन्न होती है।

५—विभिन्न युगों में सत्य का साक्षात्कार विभिन्न रूपों में होने से काव्य की शैली बदलती रहती है और काव्य-धारा अनादि से अनन्त की ओर प्रवाहित होती रहती है।

६—सानुरूप भावाभिव्यंजन या सत्य की औचित्यपूर्ण अभिव्यक्ति के कारण ही काव्य-शैली में उत्कृष्टता उत्पन्न होती है।

सत्य की औचित्यपूर्ण अभिव्यक्ति की मात्रा के अनुसार विभिन्न कवियों की शैली में अन्तर दिखलाई पड़ता है। औचित्य युग और समाज सापेक्ष्य तत्व है और सौन्दर्य की सामान्य भावना इसीपर निर्भर करती है उसके रूप-सौष्ठव, गुण, शक्ति आदि का मूल्यांकन इसी युग-सापेक्ष्य औचित्य के अनुसार होता है। काव्य का औचित्य भी युग-सत्य के साक्षात्कार, तथ्य की स्वाभाविकता, छन्द, भाषा, शब्द आदि के संघटन के ऊपर निर्भर करता है। इसीलिये भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने औचित्य पर बहुत अधिक जोर दिया है। क्षेमेन्द्र ने तो 'औचित्य विचार-चर्चा' में औचित्य को ही रससिद्ध काव्य की आत्मा मान लिया है।* उन्होंने औचित्य के अनन्त भेद-प्रभेद मानते हुए उनमें से २७ भेदों की चर्चा की है जिनमें पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, छन्द, अलंकार, काल, देश, अभिप्राय, स्वभाव, अवस्था, नाम आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार क्षेमेन्द्र ने काव्य के अन्य सभी तत्वों को औचित्य का वशवर्ती माना है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि औचित्य का मानदण्ड प्रत्येक युग में बदलता रहता है। अतः

औचित्य-विचार

---

* औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना ॥ श्लोक ३
अलंकारास्त्वलंकाराः गुणा एव गुणा सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितं ॥ [पृष्ठ—११५]
[क्षेमेन्द्र—'औचित्य विचार-चर्चा']

संस्कृत साहित्य में औचित्य का जो स्वरूप मान्य था वह आज के युग को स्वीकार्य नहीं होगा। किन्तु आज के युग में भी किसी न किसी प्रकार का औचित्य काव्य के लिए अनिवार्य है क्योंकि उसके बिना काव्य में मनोज्ञता नहीं आ सकती जो साधारणीकरण के लिए आवश्यक है। छायावादी कविता पूँजीवादी समाज की व्यक्तिवादी कविता है, अतः उसमें व्यक्ति के अहंभाव, बन्धनों से मुक्ति की कामना, पौराणिकता और अवैज्ञानिकता के विरोध की भावना, लोकतंत्रात्मक विचार आदि की अभिव्यक्ति में ही औचित्य का स्वरूप दिखलाई पड़ता है। सामंती कविता में अख्यातवृत्त कल्पितवृत्त) और अज्ञात कुलशील व्यक्ति प्रबन्ध काव्य में अग्राह्य थे, पर इस युग में इन्हीं का महत्व अधिक हो गया। अचेतन में चेतना का आरोप भी छायावाद-युग में उचित माना जाता रहा। रस और अलंकारों के औचित्य सम्बन्धी परिवर्तित धारणा की चर्चा पिछले दो अध्यायों में हो चुकी है। यहाँ शैली सम्बन्धी औचित्य के सम्बन्ध में ही विचार किया जायगा।

काव्य का औचित्य गद्य-साहित्य के औचित्य से भिन्न होता है, यह बात पहले कही जा चुकी है*। कवि को अपने 'स्व' की अभिव्यक्ति के लिए जितनी

---

* "Style is a quality of language which communicates precisely emotions or thoughts, or a system of emotions or thoughts, peculiar to the author. Where thought predominates, there the expression will be in prose; where emotion predominates, the expression will be indifferently in prose or poetry, except that in the case of overwhelming immediate personal emotion the tendency is to find expression in poetry. Style is perfect when the communication of the thought or emotion is exactly accomplished; its position in the scale of absolute greatness, however, will depend upon the comprehensiveness of the system of emotions and thoughts to which the reference is perceptible."

[Stendhal;—quoted by Middleton Murry in the "problem of Style." Page—71]

स्वतंत्रता और सुविधा रहती है उतनी उपन्यासकार या निबन्धकार को नहीं। छायावाद-युग में आत्माभिव्यक्तिपूर्ण कवितायें अधिक लिखी गयीं; अतः उनमें न तो जगत और जीवन का अधिक वस्तुगत चित्रण हुआ, न उनके तथ्यों का ब्योरा ही उपस्थित करने की कोशिश की गयी, किन्तु सामान्य सत्य का उद्घाटन उनमें अवश्य हुआ है। यह सत्य व्यक्ति की मानसिक दशा और तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों से सम्बद्ध है। सामन्ती सामाजिक और धार्मिक बन्धनों से मुक्ति की कामना एक सत्य है जो विविध रूपों में छायावादी कविता में दिखलाई पड़ता है और पूँजीवादी समाज में व्यक्ति की काल्पनिक स्वतंत्रता के भ्रम से उत्पन्न अध्यात्म, प्राकृतिक दर्शन, मधुचर्या आदि में लीन होने की प्रवृत्ति एक दूसरा सत्य है जो उसमें पर्याप्त मात्रा में मिलता है। देश-काल के औचित्य से यही तात्पर्य है कि किसी युग की कविता में तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप व्यक्ति के 'स्व' की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। छायावादी कविता में यह औचित्य है, इसमें कोई सन्देह नहीं। कुछ लोग कह सकते हैं कि छायावादी कविता पूँजीवाद की कविता है, अतः वह प्रतिक्रियावादी और हेय है। पर यह विचार स्वयं अनैतिहासिक, संकीर्ण और कुत्सित समाजशास्त्रीय ज्ञान पर आधारित है। छायावाद-युग में समाजवादी यथार्थवाद की कविता नहीं लिखी जा सकती थी। स्थूल के प्रति अवज्ञा की भावना और सूक्ष्म का गाढ़ आकर्षण, अचेतन में चेतना का आरोप और सर्वैकता में आस्था, ये प्रवृत्तियाँ तत्कालीन सत्य को व्यक्त करती हैं, अतः उनकी अभिव्यक्ति औचित्यपूर्ण ही मानी जायगी। हाँ, उत्तरकालीन छायावाद की कविता में जो अति साधारणता, अश्लीलता, संकीर्ण वैयक्तिकता और अनुत्तरदायित्व की भावना मिलती है, वह अवश्य अनौचित्य पूर्ण कही जायगी।

छायावाद-युग के पूर्वार्द्ध की कविता की शैली में जो विशदता (Magnificence) दिखलाई पड़ती है, वह औचित्य के कारण ही। औचित्य अन्य बातों के अतिरिक्त विषय के चुनाव और कवि की प्रतिभा पर भी निर्भर करता है। प्रतिभाशाली कवि सत्य का साक्षात्कार कर के जब उसका प्रत्यक्षीकरण करता है तो उसकी शैली में स्वभावतः विशदता आ जाती है, 'कनवास' बड़ा होने से वह विराट और व्यापक, गम्भीर और सूक्ष्म चित्रों का निर्माण करता है। किन्तु साधारण प्रतिभा का कवि छोटे घेरे में ही सीमित रह जाता और तथ्य का ब्योरा उपस्थित करने लगता है; अतः उसकी शैली में विशदता नहीं होती। छायावाद-युग के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध की एक एक कविता लेकर तुलना करने से यह बात स्पष्ट हो जायगी :—

(१) शलभ मैं शापमय वर हूँ, किसी का दीप निष्ठुर हूँ।
ताज है जलती शिखा, चिनगारियाँ श्रृंगारमाला,
ज्वाल अक्षय कोष सी, अंगार मेरी रंगशाला,
नाश में जीवित किसी की साध सुन्दर हूँ!

× × ×

हो रहे झर कर दृगों से अग्निकण भी क्षार शीतल
पिघलते उर से निकल निश्वास बनते धूम-श्यामल
एक ज्वाला के बिना मैं राख का घर हूँ!

× × × ×

शून्य मेरा जन्म था, अवसान है मुझको सबेरा,
प्राण आकुल के लिये संगी मिला केवल अँधेरा,
मिलन का मत नाम ले, मैं विरह में चिर हूँ।

[महादेवी-आधुनिक कवि]

(२) यह दीपक है, यह परवाना!
ज्वाल जगी है, उसके आगे जलने वालों का जमघट है,
भूल करे मत कोई कहकर यह परवानों का मरघट है!
एक नहीं हैं दोनों, मरकर जलना औ जलकर मर जाना!
इनकी तुलना करने को कुछ देख न हे मन अपने अन्दर,
वहाँ चिता चिन्ता की जलती, जलता है तू शव सा बनकर
यहाँ प्रणय की होली में हैं खेल जलाना या जल जाना!
लेनी पड़े अगर ज्वाला ही तुझको जीवन में मेरे मन,
तो न मृतक ज्वाला में जल तू, कर सजीव में प्राण-समर्पण,
चिता-दग्ध होने से बेहतर है होली में प्राण गँवाना।

[बच्चन—आकुल अन्तर]

ये दोनों कवितायें एक ही विषय पर लिखी हुई हैं किन्तु दोनों कवियों की प्रतिभा में अन्तर होने के कारण पहली कविता की शैली विशदतापूर्ण है और दूसरी की अतिसाधारण। दोनों ही में वैयक्तिक भावना की अभिव्यक्ति हुई है किन्तु महादेवी ने शलभ और दीपक के प्रतीक द्वारा अपनी आत्मा के अडिग विश्वास तथा दुख की महानता की जो अभिव्यक्ति की है उसका स्पर्श भी बच्चन की कविता में नहीं दिखलाई पड़ता। महादेवी ने स्वेच्छापूर्वक दुख का वरण किया है और उसे वरदान मानकर विश्व की कल्याण-साधना में लीन प्रतीत होती हैं; वह स्वयं जलता हुआ तथा प्रकाशमान दीपक बन गई हैं।

इस तरह उन्होंने अव्यक्त प्रियतम की विरह-साधना का विशद चित्र उपस्थित किया है। किन्तु बच्चन ने अपने को दीपक से भिन्न मानकर उससे अपनी तुलना की है और अपने दुख को अभिशापपूर्ण मानकर अपनी व्याकुलता, चिन्ता और तुच्छता की अभिव्यक्ति की है, अतः इसमें सत्य का वह सौन्दर्य नहीं दिखलाई पड़ता जो भेद में अभेद उत्पन्न करता है। यहाँ तो कुछ विशृंखलित तथ्यों का संग्रह कर दिया गया है जो कवि की साधारण प्रतिभा का परिचायक है।

प्रतिभा के अतिरिक्त विषय की भिन्नता के कारण भी शैली में अन्तर आ जाता है। इसका कारण यह है कि तथ्य पर आधारित कविता की शैली उतनी विशद नहीं होती जितनी सत्य पर आधारित कविता की। विज्ञान और शास्त्र के क्षेत्र से लिये गये विषय बहुधा तथ्य होते हैं, सत्य नहीं। वे काव्य के सत्य से भिन्न होते हैं; उनसे सामान्य पाठकों का रागात्मक सम्बन्ध नहीं होता। अतः उनपर लिखी गई कविता भावप्रधान नहीं, बुद्धिप्रधान होती है। ऐसे विषयों की सानुरूप भावाभिव्यंजना नहीं हो सकती क्योंकि कवि यदि विषय के प्रति ईमानदार है तो पाठक उससे दूर हो जाते हैं और यदि वह पाठकों के लिये विषय को प्रेषणीय बनाना चाहता है तो विषय उसके हाथ से छूट जाता है। इसी कारण अत्यन्त प्रतिभाशाली कवि भी विषय के चुनाव में गलती करने के कारण अपनी शैली में अनौचित्य दोष उत्पन्न कर सकता है। कविता कवि और सामाजिकों के बीच के सेतु की तरह है जिसपर से भावनाओं का आना-जाना होता है। कवि की भावनायें या तो सामान्य पाठकों की भावनाओं से मिलती-जुलती होती हैं या उनसे बिलकुल भिन्न होती हैं। समान भावनाओं को पाठक आसानी से ग्रहण कर लेता और इसप्रकार कवि के साथ तादात्म्य भाव का अनुभव करता है। जहाँ कवि की भावनायें विशिष्ट होती हैं, उसके विश्वास बिलकुल अपने और अन्य लोगों से भिन्न होते हैं और उसकी काव्य की परिस्थितियाँ भी असामान्य होतीं हैं, वहाँ कवि अपनी शैली में ऐसी शक्ति उत्पन्न करता है जिससे पाठक कवि की तरह देखने और सोचने के लिये विवश हो जाते हैं। जहाँ यह शक्ति नहीं होती वहाँ कविता असफल होती है। इस दृष्टि से भी छायावादी कविता पर विचार कर लेना समीचीन होगा।

छायावाद-युग के पूर्वार्द्ध में व्यक्तिवादी स्वतंत्रता की भावना का जोर अधिक होने के कारण तथा पिछले युगों की स्थूल, इतिवृत्तात्मक और तथ्यवादी कविता की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप कवि सामान्य विषयों किन्तु विशिष्ट भावनाओं की ओर अधिक झुके थे। सामान्य से यहाँ यह तात्पर्य है कि जिन विषयों की पिछले युगों में उपेक्षा की गई थी या जो हेय और महत्वहीन समझे जाते थे

उनकी तरफ इस युग के कवियों का ध्यान गया। विशिष्ट भावनाओं की अभिव्यक्ति का तात्पर्य यह है कि ये भाव कवि के बिलकुल अपने और नवीन थे। इन विषयों और भावनाओं को लेकर कवियों ने एक नई, विशद और आकर्षक शैली को जन्म दिया। इस शैली में वह शक्ति अवश्य थी जिसने नई पीढ़ी के लोगों को कवियों के समान ही सोचने-विचारने के लिये मजबूर किया; अर्थात छायावादी कवियों ने अपनी शैली द्वारा लोकरुच का परिवर्तन और परिष्कार किया। प्रकृति-चित्रण पहले अधिकतर उद्दीपनरूप में ही होता था किन्तु इन्होंने उसे आलम्बनरूप में चित्रित किया। आध्यात्मिक चिन्तन और भावना के लोक की ओर भी इन्होंने मार्ग-प्रदर्शन किया और व्यक्ति को सामाजिक बन्धनों से मुक्त करने की कामना पाठकों के मन ने उत्पन्न की। इसप्रकार की कविता में जिन परिस्थितियों का चित्रण था वे भी आकर्षण थीं जिससे पाठकों का उसकी ओर आकर्षण बढ़ा। ऐसे विषयों, भावनाओं और परिस्थितियों को अनौचित्य पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

सफल कवि असामान्य भावनाओं को व्यक्त करते समय भी कुछ ऐसी भावनायें अवश्य व्यक्त करता है जो सामान्य सत्य पर आधारित होती हैं और जिनके कारण पाठक कवि की विशिष्ट या असामान्य भावनाओं को भी ग्रहण करने में समर्थ होता है। जहाँ इस सामान्य सत्य का आधार छोड़ दिया जाता है वहाँ कविता दुर्बोध्य, अस्पष्ट और दुरूह हो जाती है। ऐसे कवि रहस्यवादी या प्रयोगवादी हो जाते हैं जिन्हें इस बात की बिलकुल चिन्ता नहीं रहती कि पाठक उनकी रचनाओं का आस्वादन कर सकेंगे या नहीं। इसप्रकार की कवितायें भी छायावाद युग में पर्याप्त लिखी गईं। रहस्यवादी कविताओं में जहाँ लौकिक वस्तुओं और व्यापारों के प्रतीक अपनाये गये हैं वहाँ तो उनमें बोधगम्यता है किन्तु जहाँ कवि और अज्ञात प्रियतम के बीच का गोपनीय सम्बन्ध ही व्यक्त हुआ है वहाँ स्वभावतः दुर्बोधता आ गई है। कहीं-कहीं आध्यात्मिक साधना के सूक्ष्म मार्गों और अनुभूतियों की भी अभिव्यक्ति हुई हैं जो सामान्य जन की अनुभूतियों से भिन्न हैं। अतः सामान्य जन के लिये वे दुर्बोध्य हैं। निराला और महादेवी की कविता में इसतरह की दुरूह और कष्टसाध्य भावाभिव्यंजना बहुत अधिक हुई है। उदाहरण के लिये महादेवी की यह कविता देखिये:—

टूट गया वह दर्पण निर्मम!
उसमें हँस दी मेरी छाया,

मुझमें रो दी ममता माया,
अश्रुहास से विश्व सजाया,
रहे खेलते आँखमिचौनी प्रिय जिसके परदे में 'मैं' 'तुम' !
अपने दो आकार बनाने,
दोनों का अभिसार दिखाने,
भूलों का संसार बसाने,
जो झिलमिल झिलमिल सा तुमने हँसहँस दे डाला था निरुपम !

× × ×

किसमें देख सँवारूँ कुन्तल
अंगराग पुलकों का मल मल
स्वप्नों से आँजूँ पलकें चल
किसपर रीझूँ, किसपर रूठूँ, भर लूँ किस छवि से अन्तरतम ?
आज कहाँ मेरा अपनापन,
तेरे छिपने का अवगुण्ठन ?
मेरा बन्धन तेरा साधन,
तुम मुझमें अपना सुख देखो, मैं तुममें अपना दुख प्रियतम !

[महादेवी]

इस कविता में ब्रह्म और जीव का अद्वैतरूप दिखलाया गया है। माया के कारण जो द्वैतरूप दिखलाई पड़ता है वह भ्रमपूर्ण है। ज्ञान के बाद जीव का वह भ्रम टूट जाता है। माया ब्रह्म का ही अविद्यारूप है और जीव उसी के कारण सुख-दुख के बन्धनों में फँसता है। इस आध्यात्मिक तथ्य का चित्रण महादेवी ने प्रतीक और अन्योक्ति की पद्धति से किया है। आत्मसाक्षात्कार या ज्ञान होने के बाद माया के कारण उत्पन्न द्वैतभाव के मिट जाने की अनुभूति इस कविता में व्यक्त हुई है। यह अनुभूति सामान्य पाठकों की अनुभूति से भिन्न, कवयित्री की अपनी विशिष्ट अनुभूति है। पाठक जब तक अद्वैतवाद के दर्शन को अच्छी तरह नहीं समझ लेता, इस कविता को नहीं समझ सकता। किन्तु जहाँ रूपक, अन्योक्ति, रूपकातिशयोक्ति आदि पद्धतियों द्वारा लोक-सामान्य अनुभूतियों के सहारे विशिष्ट आध्यात्मिक या दार्शनिक अनुभूतियाँ अभिव्यक्त की जाती हैं वहाँ पाठकों का कवि के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित हो जाता है क्योंकि अप्रस्तुत बहुधा लौकिक और लोकपरिचित होते हैं। ऐसी कविताओं को समझने के लिये दर्शन या साहित्यशास्त्र की पुस्तकें पढ़ने की आवश्यकता नहीं होती। विद्वान और दार्शनिक किसी कविता से अपने

मतलब का अर्थ निकाल सकते हैं, पर उस कविता की सफलता और महानता तो इसी बात पर निर्भर करती है कि साधारण पाठक के लिए भी वह बोधगम्य और रमणीय है या नहीं। उदाहरणार्थ पन्त की 'प्रथमरश्मि' कविता का एक अंश यहाँ दिया जा रहा है :—

प्रथम रश्मि का आना रंगिनि, तूने कैसे पहिचाना ?
कहाँ-कहाँ हे बाल विहंगिनि, सीखा तूने यह गाना ?
सोई थी तू स्वप्न-नीड़ में पंखों के सुख में छिप कर,
झूम रहे थे घूम द्वार पर प्रहरी से जुगनू नाना !
शशि-किरणों से उतर-उतर कर भू पर कामरूप नभचर,
चूम नवल कलियों का मृदु मुख सिखा रहे थे मुसकाना !
स्नेहहीन तारों के दीपक, श्वास-शून्य थे तरु के पात,
विचर रहे थे स्वप्न अवनि में, तम ने था मण्डप ताना !
कूक उठी सहसा तरुवासिनि, गा तू स्वागत का गाना !
किसने तुमको अन्तर्यामिनि, बतलाया उसका आना ?

इस कविता को साधारण पाठक प्रकृति-चित्रण के रूप में ग्रहण करेगा। पक्षियों के सहज ज्ञान का कवि ने सफलता पूर्वक चित्रण किया है। साथ ही रात्रि के अन्तिम प्रहर के प्राकृतिक वातावरण का सूक्ष्म चित्रण भी सफलता पूर्वक किया गया है। साधारण पाठक के मन को रमाने के लिए इतना ही पर्याप्त है। किन्तु इसमें ऐसे प्रतीकात्मक शब्दों, सार्थक विशेषणों और संकेतात्मक परिस्थितियों की योजना हुई है जिनके कारण मनोविज्ञान, सौन्दर्यशास्त्र और दर्शनशास्त्र तीनों ही के जानकार अपने-अपने ढंग का अर्थ निकाल सकते हैं। 'रश्मि' शब्द प्रतीकवत व्यवहृत हुआ है जो प्रातिभ ज्ञान, प्रेरणा और ज्ञान तीनों के लिए है। उसी तरह 'रंगिनि' शब्द विहंग, कवि और साधक तीनों का बोध कराता है; 'स्वप्न-नीड़' नीद, कल्पनालोक तथा भ्रम या अज्ञान की दशा का भाव व्यक्त करता है, 'कूक उठने' से पक्षियों के चहक उठने, कवि-कलाकार के रचना करने और ज्ञानी के ज्ञान-दान करने का अर्थ ध्वनित होता है। इस प्रकार यह कविता अपनी विशद और पूर्ण शैली के कारण साधारण पाठकों और विद्वानों के लिए समान रूपसे आस्वाद्य और रमणीय है। प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी के अधिकांश काव्य-साहित्य में महानता और सौन्दर्य का ऐसा सामंजस्य दिखलाई पड़ता है जिसमें पाठकों के मन को लौकिक भावभूमि में रमाने और साथ ही उससे ऊपर उठाकर अलौकिक सत्य की ओर अग्रसर करने की क्षमता है।

विषय-वस्तु से शैली का वैसा ही सम्बन्ध है जैसा शरीर से उसके गुण-धर्म का। विषय-वस्तु में परिवर्तन का अर्थ है कवि के परिवेश और उसके प्रति कवि के दृष्टिकोण में परिवर्तन। अतः विषय-वस्तु के बदलने के साथ काव्य-शैली में अनिवार्यतः परिवर्तन हो जाता है। रीतिकालीन काव्य-शैली में छायावादी काव्य नहीं लिखा जा सकता और न छायावादी शैली में यथार्थवादी काव्य की रचना हो सकती है। द्वितीय खण्ड में विषय-वस्तु के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा जा चुका है कि १९२९–३० के बाद किस तरह छायावादी कविता की विषय-वस्तु धीरे-धीरे बदलने लगी और कवि कल्पना-लोक और प्रकृति के क्षेत्र से जीवन की ठोस धरती की ओर अग्रसर होने लगे। मानव का दुख-सुख उनके चिन्तन का विषय बना, व्यक्तिवाद अहंवाद और यथार्थवाद का रूप ग्रहण करने लगा और नये कवि आध्यात्मिकता का आवरण छोड़ कर अपनी निजी समस्याओं का लेखा-जोखा उपस्थित करने लगे। फलस्वरूप छायावाद-युग के उत्तरार्द्ध की काव्य-शैली बहुत कुछ बदल गयी। विषयानुरूप होना ही शैली का औचित्य है। अतः इस काल की काव्य-शैली में औचित्य किस मात्रा में है, यह भी देख लेना चाहिये।

इस काल में पुराने छायावादी कवियों में पन्त और निराला को छोड़ कर अन्य किसी की शैली में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ क्योंकि उनकी विषय-वस्तु भी अधिक नहीं बदली। पन्त तत्वचिन्तन और समन्वयात्मक मानवतावाद की ओर झुके। अतः उनकी शैली उत्तरोत्तर बुद्धिभार से बोझिल होती गयी, उसमें पहले जैसी ताजगी और उत्फुल्लता नहीं रह गयी। 'गुंजन', 'ज्योत्स्ना' और 'युगान्त' में तत्वचिन्तन की अधिकता होते हुए भी भावात्मकता का त्याग नहीं किया गया है, पर 'युगवाणी' में अति बौद्धिकता के कारण शैली गद्यात्मक हो गयी है। कवि ने स्वयं उस पुस्तक की भूमिका में कहा है ; "युगवाणी में मेरी युगान्त के बाद की रचनायें संगृहीत हैं, जिसमें मैंने युग के गद्य को वाणी देने का प्रयत्न किया है। यदि युग की मनोवृत्ति का किंचिन्मात्र आभास इसमें मिल सका तो मैं अपने प्रयास को विफल नहीं समझूँगा।" इसमें ध्यान देने की बात यह है कि कवि ने प्रयास पूर्वक ये कवितायें लिखी हैं और भावुकता को छोड़ कर बौद्धिक बातों की गद्यात्मक विवेचना की है। पहले ही कहा जा चुका है कि भावात्मकता या रागात्मक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति काव्य की अनिवार्य शर्त है। अतः युगवाणी की तथा तत्कालीन अन्य प्रगतिवादी कवियों की कविताओं को यदि काव्य माना भी जाय तो शैली के कारण ही उनकी असफलता सिद्ध है। इन कविताओं में पुनरुत्थान-युग की उपदेशात्मक, वर्णनात्मक

या तथ्यकथन वाली शैली दिखलाई पड़ती है। इनमें विषय परिवर्तन के कारण जो नई शैली आयी, उसमें औचित्य का अभाव दिखाई पड़ता है क्योंकि इन कवियों की दृष्टि तथ्याश्रित सत्य की ओर नहीं, मात्र तथ्य की ओर थी। इस प्रकार के विषयों पर लिखी गयी कविता की शैली छायावादी शैली से भिन्न होगी, यह निराला की अनेक कविताओं से स्पष्ट है। भिक्षुक दान, वह तोड़ती पत्थर, खुला आसमान, सरोजस्मृति, वन-बेला, कुकुरमुत्ता आदि कवितायें उन्होंने यथार्थवादी विषयों पर यथार्थवादी शैली में लिखी हैं जिनमें भावुकता के साथ व्यंग का अद्भुत मिश्रण हुआ है। 'वन-बेला' में तो छायावादी और यथार्थवादी दोनों शैलियाँ एक के बाद एक दिखलाई पड़ती हैं:—

वर्ष का प्रथम
पृथ्वी के उठे उरोज मंजु पर्वत निरुपम
किसलयों बँधे
पिक-भ्रमर-गुंजभर मुखर प्राण रच रहे सधे
प्रणय के गान,
सुन कर सहसा,
प्रखर से प्रखरतर हुआ तपन यौवन सहसा,
ऊर्जित, भास्वर
पुलकित शतशत व्याकुल कर भर
चूमता रसा को बार बार चुम्बित दिनकर।

× × ×

फिर लगा सोचने यथासूत्र—"मैं भी होता
यदि राजपुत्र—मैं क्यों न सदा कलंक ढोता
ये होते—जितने विद्याधर—मेरे अनुचर,
मेरे प्रसाद के लिए विनतसिर उद्यत-कर,
देश की नीति के मेरे पिता परम पण्डित
एकाधिकार रखते भी धन पर, अविचल चित
होते उग्रतर साम्यवादी, करते प्रचार
चुनती जनता राष्ट्रपति उन्हें ही सुनिर्धार,
पैसे में दस राष्ट्रीय गीत रच कर उन पर
कुछ लोग बेचते गा गा गर्दभ-मर्दन स्वर

[वन-बेला— अनामिका]

इस कल्पना में छायावादी कवि के कल्पना-लोक और उसके यथार्थ सामा-

जिक परिवेश की तुलनात्मक अभिव्यक्ति कवि ने शैली के परिवर्तन द्वारा की है। जहाँ वह अन्तर्मुखी और कल्पनाशील है, वहाँ शैली गम्भीर और गुम्फित है, पर जहाँ सामाजिक यथार्थ का चित्रण हुआ है वहाँ वह सरल, प्रवाहपूर्ण और व्यंगात्मक है। ऊपर के दोनों उदाहरणों में दोनों शैलियाँ स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ जाती हैं। शैलीगत अननुरूपता के कारण इस कविता का सौन्दर्य बहुत बढ़ गया है। यथार्थ-चित्रण में स्वाभाविकता और हार्दिकता है, कृत्रिमता और बौद्धिकता नहीं। इसलिए उस अंश की भाषा अलङ्कारपूर्ण और प्रतीकात्मक नहीं है। परन्तु पन्त तथा अन्य प्रगतिवादी कवियों की कविता में यह कलात्मक सौष्ठव कम मिलता है। 'युगवाणी' की एक कविता लीजियेः—

इस क्षुद्र लेखनी से केवल करता मैं छायालोक सृजन?
पैदा हो मरते जहाँ भाव, बुदबुद विचार औ स्वप्न सघन?
निर्माण कर रहे वे जग का जो जोड़ ईंट, चूना पत्थर
जो चला हथौड़े, घन, क्षण क्षण हैं बना रहे जीवन का घर?
जो कठिन हलों की नोकों से अविराम लिख रहे धरती पर
जो उपजाते फल फूल अन्न, जिन पर मानव जीवन निर्भर?
इस अमर लेखनी से प्रतिक्षण मैं करता मधुर अमृत-वर्षण,
जिससे मिट्टी के पुतलों में भर जाते प्राण अमर जीवन!

× × ×

मैं जन जीवन का शिल्पी हूँ, जीवित मेरी वाणी के स्वर,
जन-मन के मांसखण्ड पर मैं मुद्रित करता हूँ सत्य अमर!

[शिल्पी—पन्त]

इस कविता में कवि ने अपनी तुलना श्रमजीवियों से की है और बताया है कि श्रमजीवी शारीरिक आवश्यकता की सामग्री का निर्माण और सृजन करता है पर कवि मानव-आत्मा का शिल्पी है, वह सत्य का दर्शन कराता है। यह कथन अपने तईं बिलकुल सही है किन्तु यह विवेचना तो आलोचक करता है, कवि यह नहीं कहता कि मैं यह करता हूँ। वह उदाहरण उपस्थित करता है, सिद्धान्त नहीं। इस कविता में पन्तजी ने प्रभावात्मक आलोचना लिखी है। तथ्य-निरूपण और बौद्धिक विवेचन के कारण शैली गद्यात्मक है। कवि के विचार अर्जित हैं, अनुभूत नहीं; अतः उसकी शैली में औचित्यजन्य प्रभविष्णुता का अभाव है। इन्हीं तथ्यों का संश्लिष्ट चित्रण करके रागात्मक भावनाओं की अभिव्यक्ति करने पर शैली प्रभावपूर्ण हो जाती। दिनकर, भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र, बच्चन, सोहनलाल द्विवेदी, नेपाली आदि कवियों में बौद्धिकता की जगह अतिशय भावुकता

है जिससे वे भी यथार्थ से दूर जा पड़े हैं; अतः उनकी कविता में अति साधारणत्व-दोष है। यदि कवि वही बात कहता है जिसे सब जानते हैं, और उसी ढङ्ग से कहता है जैसे सभी भाषण देने वाले, कथावाचक या धर्मगुरु और पुरोहित कहा करते हैं तो ऐसी कविता में पाठक या श्रोता की रुचि नहीं होगी। ऐसी कविताओं में एक विशेषता होती है कि सुनाई जाने पर तो वे प्रभाव डालती हैं पर पढ़ने पर उनमें तत्वहीनता दिखाई पड़ती है। ऐसे कवियों में अच्छे वक्ता या व्यास का गुण होता है और उनकी शैली व्यास-शैली होती है। भाषण में कुछ शब्दों पर बार-बार जोर देना, उन्हें दुहराना, एक ही बात को कई तरह से कहना, वाग्विस्तार करना, स्वर को चढ़ाना-उतारना आदि बातों को गुण रूप में माना जाता है, पर काव्य के लिए ये बातें अधिकतर दोष मानी जाती हैं। दिनकर की कविता की व्यास-शैली का एक उदाहरण यह है:—

> कब्र-कब्र में अबुध बालकों की भूखी हड्डी रोती है!
> 'दूध-दूध' की कदम कदम पर सारी रात सदा होती है!
> 'दूध-दूध!' ओ वत्स मन्दिरों में बहरे पाषाण यहाँ हैं!
> 'दूध-दूध!' तारे बोलो इन बच्चों के भगवान कहाँ हैं?
> 'दूध-दूध!' दुनिया सोती है, लाऊँ दूध कहाँ किस घर से?
> 'दूध-दूध!' हे देव गगन के, कुछ बूँदे टपका अम्बर से!

इन कवियों की राष्ट्रीय कविताओं की शैली भी बहुत कुछ इसी प्रकार की भावुकतापूर्ण, आवेशमयी और विवृत दिखलाई पड़ती है।

इस काल के जिन कवियों ने अपनी व्यक्तिगत और पारिवारिक समस्याओं जैसे असफल प्रेम, मिलन-विरह, आशा-निराशा, शोक आदि के सम्बन्ध में कवितायें लिखी हैं उनकी काव्य-शैली पूर्ववर्ती छायावादी कविता की विशद शैली से भिन्न, साधारण और सीधी है। ऐसी कविताओं में महानता और विराटता के दर्शन तो नहीं होते पर मनोवैज्ञानिक सत्य का प्रत्यक्षीकरण उनमें अवश्य हुआ है, अर्थात उनमें सामान्य मानव के गुण-दोषों की अभिव्यक्ति हुई है। अतः उनकी शैली कहीं साधारण, कहीं ललित और कहीं उदात्त है। विराटता (grandure) और विशदता उनमें कम है पर भावनाओं की सचाई और तीखापन अधिक है। अतः उनकी शैली अधिकतर प्रभावपूर्ण है। इन कविताओं में कवि और पाठक के बीच की दूरी बहुत कम हो गई है और कवि अपने दिल की बात निस्संकोच होकर पाठकों से कह देता है। यह प्रवृत्ति कहीं-कहीं शिष्टता की सीमा भी लाँघ जाती है। अतः इन कविताओं की शैली में कृत्रिम साज-सज्जा, कल्पनातिरेक, कलात्मक पच्चीकारी आदि का अभाव है। जहाँ जुगुप्सा-

जनक और अति साधारण तथ्यों का कथन मात्र रहता है वहाँ शैली आकर्षण की जगह विकर्षण उत्पन्न करती है। इन कवियों की प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी और सामाजिक कविताओं में भी स्वच्छता, सरलता और सीधापन है जिससे वे बोध-गम्य और आकर्षक हो गयी हैं। नवीन, बच्चन, दिनकर, नरेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, सुभद्राकुमारी चौहान, नेपाली, केदारनाथ अग्रवाल, केसरी, चन्द्रप्रकाशसिंह आदि की कवितायें इसी शैली में लिखी गई हैं। कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं:—

लुट रहा हास,
रे पके सुनहले खेतों में लुट रहा हास !
नीली ओढ़नी सँभाल सुघर,
गाँव की बधू कुछ हलके कर
काटती खेत, हंसिया सर-सर
चुरियां रन-रन, तिरती मिठास ?
खलिहान बसे, गार पर गार
गेरे घेरे सब बाग-हार
भुरहरी रात पछुआ बयार
बहती महुए की लिए बास !

[मेघमाला—कुँवर चन्द्रप्रकाशसिंह]

सामने पुरी काशी की रे, संकीर्ण सघन सुन्दर अपार,
नीचे प्रयाग से आ आकर कर जाती है गंगा दुलार !
मैं खड़ा यहाँ पर उत्सुक हो, इस बेला सब कुछ देख रहा,
पर नहीं मानती, हठ करती, खींचती मुझे चंचल बयार !
देखो वह वन की हरियाली आ रही उधर अंचल पसार !
रुक गई किन्तु वह रेत देख रह गयी राह में उसी पार !
कब आती है कब खिलती है, मेरे आँगन में हरियाली,
इस आशा में थरहरा रहा रे अपलक नयनों से निहार !

[उमंग—नेपाली]

दोनों ही वातावरणप्रधान कवितायें हैं जिनमें चतुर्दिक की प्रकृति के खंड दृश्यों (Landscapes) का सूक्ष्म निरीक्षण शब्दचित्र के रूप में किया गया है। कोई गूढ़, असाधारण, कल्पना-प्रसूत बात इसमें नहीं कही गयी है। भाषा अति सरल, व्यावहारिक और प्रांजल है, भावों में उलझन नहीं है। इस प्रकार शैली में स्वच्छता और सरलता है। वस्तुगत और आत्मगत शैली का

यहाँ सुन्दर सामंजस्य हुआ है। दूसरी कविता में अचेतन पदार्थों में चेतनता का आरोप करके प्रकृति के प्रति तादात्म्य भाव व्यक्त किया गया है जिससे पर्याप्त भावात्मकता आ गई है। अलंकारों का प्रयोग नहीं हुआ है। कथन की शैली वक्र नहीं है। प्रकृति-चित्रण के अतिरिक्त अन्य प्रकार की कविताओं में भी इसी प्रकार की स्वच्छ और सरल शैली अपनायी गयी है। बच्चन ने अपने आसपास की साधारण से साधारण बातों और घटनाओं पर भी दृष्टि डाली है और हर जगह मनोवैज्ञानिक तथ्यों का तर्कपूर्ण चित्रण किया है:—

त्राहि त्राहि कर उठता जीवन !
जब रजनी के सूने क्षण में,
तन-मन के एकाकीपन में,
कवि अपनी विह्वल वाणी से अपना आकुल मन बहलाता,
त्राहि त्राहि कर उठता जीवन !

जब उर की पीड़ा से रोकर,
फिर कुछ सोच समझ चुप होकर
बिरही अपने ही हाथों से अपने आँसू पोंछ हटाता
त्राहि त्राहि कर उठता जीवन।

पंथी चलते चलते थककर
बैठ किसी पथ के पत्थर पर
जब अपने ही थकित करों से अपना विथकित पांव दबाता,
त्राहि त्राहि कर उठता जीवन !

[बच्चन—एकान्त संगीत]

इसमें एकाकी जीवन के तीन खण्ड-दृश्यों का चित्रण किया गया है। तीनों ही मार्मिक दृश्य हैं जिनकी अभिव्यक्ति अत्यन्त सरल और स्वच्छ शैली में हुई है। कवि का ध्यान अपनी भावना को पाठकों तक पहुँचाने की ओर है, कथन में वैचित्र्य या अनूठापन उत्पन्न करने की ओर नहीं। इसलिये अनलंकृत और अति साधारण होते हुए भी यह कविता मार्मिक है। बच्चन ने अधिकांश कविताओं में तर्क, उदाहरण और विश्लेषण की पद्धति अपनायी है और निष्कर्षवादी शैली का सहारा लिया है।

विभाजित करती मानव जाति धरापर देशों की दीवार,
जरा ऊपर तो उठकर देख, वही जीवन है इस—उस पार।

घृणा का देते हैं उपदेश यहाँ धर्मों के ठीकेदार,
खुला है सबके हित सब काल हमारी मधुशाला का द्वार।
करें आओ विस्मृत वे भेद, रहे जो जीवन में विष घोल,
क्रान्ति की जिह्वा बन कर आज रही बुलबुल डालों पर डोल।
सुरा पी, मद पी, कर मधुपान रही बुलबुल डालों पर बोल।

[बुलबुल—मधुबाला]

इस कविता में कवि ने मस्ती और मधुचर्या को ही संसार की सभी समस्याओं का एकमात्र समाधान मानकर अपने मत के समर्थन में अनेक प्रकार के तर्क और उदाहरण उपस्थित किये हैं। इसकी भी भाषा—शैली स्वच्छ और सरल है। शैली की दृष्टि से बच्चन ने छायावादी कविता में महत्वपूर्ण परिवर्तन किया है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

अंचल और नरेन्द्र ने आवेशमयी शैली का विधान किया है जो उनके शारीरिक रोमान्स की प्रवृत्ति के कारण स्थायी रूप नहीं ग्रहण कर सकी है। अंचल में नारी के प्रति उद्दाम आकर्षण और वासना भरी है जिसकी अभिव्यक्ति वे सशक्त वाणी में करते हैं:—

ठहर जाओ, घड़ी भर और तुमको देख लें आँखें!
अभी कुछ देर मेरे कान में गूंजे तुम्हारा स्वर,
बहे प्रति रोम से मेरे सरस उल्लास का निर्झर,
बुझा दिल का दिया शायद किरण सा खिल उठे जलकर।
तुम्हारे रूप का सित आवरण कितना मुझे शीतल!
तुम्हारे कंठ की मधुवंसरी जलधार सी चंचल!
तुम्हारी चितवनों की छांह मेरी आत्मा उज्वल!
उलकती तड़फड़ाती प्राणपंछी को• तरुण पाँखें।

[ठहर जाओ—अंचल]

इस कविता की शैली एक ओर छायावाद के पूर्ववर्ती कवियों की विशद शैली से भिन्न है तो दूसरी ओर बच्चन और नेपाली की अतिसरल स्वच्छ और मार्मिक शैली से भी भिन्न है। इसमें अलंकारों का प्रचुर प्रयोग हुआ है और भाषा आवेश और प्रवाह युक्त है; किन्तु अलंकारों के कारण कविता में दुरूहता नहीं आने पाई है और न वे कविता के लिये भारस्वरूप ही हैं।

नरेन्द्र में अंचल के समान विलासी पौरुष नहीं है। अतः उनकी शैली आवेशपूर्ण होते हुये भी ललित और कोमल है, भावनाओं के अनुरूप उनकी भाषा शैली में भी स्त्रैणता और रोमान्स के दर्शन होते हैं। अंचल की तरह

उनमें चित्रात्मकता की कमी है। उन्होंने बच्चन की तरह मार्मिक परिस्थितियों की तर्कपूर्ण व्याख्या भी नहीं की है। मानसिक घुटन, कुंठा और अस्वास्थ्य के कारण उनकी शैली में संयम और पौरुष का अभाव अधिक दिखलाई पड़ता है जिससे भावुकता का अतिरेक जगह-जगह दिखलाई पड़ जाता है। सामाजिक और राजनीतिक रचनाओं में उनकी शैली कुछ भिन्न अवश्य हुई है पर पौरुष का दर्प वहाँ भी नहीं दिखलाई पड़ता :—

बहुत दिनों तक दूर रह लिये आओ अंकमिलन कर लें।
विरह-व्यथा के दिन सुमिरन कर दृढ़तर आलिंगन भर लें।

अथवा—

आज न सोने दूँगी बालम, मेरे अधिक निदारे बालम।
अर्ध निशा है घिरी अंधेरी, जगरमगर निशि गूंज रही है,
चंचल है तारे, चंचल मन, अगजग मदिरा छलक रही है।
× × × ×
खोलो लोचन प्राण पियारे, मानो बलि बलि जाऊँ बालम।

['आज न सोने दूँगी बालम'—प्रभात फेरी]

इसकी शैली सरल और ललित है, पर अंकमिलन, सुमिरन, निदारे, बालम, पियारे, जगर-मगर आदि शब्दों के कारण भाषा स्त्रीजनोचित हो गई है। भाषा का यह रूप उनकी अधिकांश कविताओं में देखा जा सकता है।

दिनकर और सोहनलाल द्विवेदी सामाजिक भावनाओं को व्यक्त करनेवाले कवि हैं किन्तु वैयक्तिक कवितायें भी उन्होंने लिखी हैं। दिनकर की सामाजिक कविताओं में पौरुष का उबलता हुआ दर्प सर्वत्र दिखलाई पड़ता है जिससे उनकी शैली में आवेश, ओज और शक्ति आ गई है। वैयक्तिक रचनाओं में भी दिनकर ने आवेश और शक्ति का सहारा लिया है और इस प्रकार छायावादी शैली से अपने को कुछ अलग रखा है। किन्तु सच बात तो यह है कि दिनकर छायावाद-युग से अधिक पुनरुत्थान युग की काव्य-शैली को अपनाकर चलनेवाले हैं।* यद्यपि छायावादी शैली का प्रभाव भी उनपर अप्रत्यक्ष रूपसे

* "ऐसी रोमाण्टिक शैली जो धरती से दूर दूर उषा के कनकाभ प्रान्त से होकर चलने की आदी थी, अपने प्रेमियों को धूल में लोटने नहीं दे सकती थी; उन्हें उस कठोर सत्यके सामने खड़ा नहीं कर सकती थीं जो देखने में कुरूप था, जिसके ताप से हलके रंग उड़ जाते थे, जिसे चित्रित करने के लिये ठीक हृदय का लहू चाहिये था। रोमाण्टिक शैली के विशिष्ट पुजारी, जो आत्मबोध की कड़वाहट से घबड़ा कर सौन्दर्यबोध की रंगीनियों में अपने को

पड़ा है। वैयक्तिक अथवा उद्देश्यहीन कविताओं के बारे में दिनकर स्वयं कहते हैं, "रेणुका और हुंकार के विपरीत रसवन्ती की रचना निरुद्देश्य प्रसन्नता से हुई है और इसमें किसी निश्चित संदेश का अभाव सा है। इन गीतों में मैं अपने हाथ से छूट सा गया हूँ और प्रायः अकर्मण्य आलसी की भांति उस प्रगल्भ अप्सरी के पीछे पीछे भटकता फिरा हूँ जिसे कल्पना कहते हैं...........इन गीतों में जीवन के जो प्रतिबिम्ब उग आये हैं वे सीधे नहीं आ सके, उनका प्रतिफलन तिर्यक अथवा वक्र रहा है। सीधा इसलिये नहीं, चूंकि चित्र लेते समय मैं तटस्थ नहीं रह सका और दृश्यों के साथ तत्सम्बन्धी अपनी निजी भावनाओं को भी अंकित कर गया।" कवि के इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि वह अपनी राष्ट्रीय कविताओं में पुनरुत्थान-युग की वस्तुगत शैली को अपना कर चलता है और वैयक्तिक कविताओं में छायावादी शैली का पुट देता है किन्तु ओज और प्रवाह वहाँ भी बना रहता है। दिनकर की शैली में कोमलता और लालित्य का अभाव है।

मैं तरुण भानु सा अरुण भूमिपर उतरा रुद्र विषाण लिये,
सिर पर ले वह्नि-किरीट दीप्ति का तेजवन्त धनु बाण लिये!
स्वागत में डोली भूमि त्रस्त भूधर ने हाहाकार किया,
वन की विशीर्ण अलकें झकोर झंझा ने जयजयकार किया!

[पुरुष-प्रिया—रसवंती]

इस कविता की शैली में पौरुष की दीप्ति स्पष्ट दिखलाई पड़ती है, अलंकारों के कारण इसके प्रवाह में कोई बाधा नहीं उपस्थित होती। कहीं-कहीं विषय वस्तु का तद्रूप चित्रण करते हुए दिनकर की शैली अत्यन्त सरल और स्वच्छ हो जाती है :—

माथे में सेंदुर पर छोटी दो बिन्दी चमचम सी,
पपनी पर आँसू की बूँदे मोती सी शबनम सी!
× × ×
पीला चीर कोर में जिसकी चकमक गोटा जाली,
चली पिया के गाँव उमर के सोलह फूलों वाली!

भुला रहे थे, यह लहू नहीं दे सकते थे ....आखिर यह रक्त दिया भी गया लेकिन उनके द्वारा जिनके अन्दर का मनुष्य कवि की अपेक्षा अधिक बलवान था और जो अपने जीवन के तेज से छायावाद के कुहासे को भेद कर समय के आरपार देख सकते थे।"

[दिनकर—रसवन्ती की भूमिका पृष्ठ ७]

इस कविता में ग्रामीण बालिका की विवाहोपरान्त विदाई का सफल चित्रण किया गया है। भाषा सरल होते हुये भी सशक्त और प्रवाहयुक्त है। अलंकृत और वक्रशैली के कारण काव्य का सौन्दर्य बहुत बढ़ गया है। किन्तु दिनकर ने ऐसी सफल कलात्मक कवितायें अधिक नहीं लिखी हैं।

छायावाद-युग के अन्य लब्धप्रतिष्ठ कवियों में सर्वश्री माखनलाल चतुर्वेदी मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, मोहनलाल महतो 'वियोगी', रामकुमार वर्मा, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', गुरुभक्त सिंह 'भक्त', जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द', हरिकृष्ण 'प्रेमी', उदयशंकर भट्ट, केदारनाथ 'प्रभात', जनार्दन झा 'द्विज' और आरसी प्रसाद सिंह प्रमुख हैं। उनकी शैली के सम्बन्ध में अलग से विचार इसलिए नहीं किया गया है कि ऊपर जिन शैलीगत विशेषताओं की चर्चा हुई है उनमें इन कवियों की शैली भी अन्तर्भुक्त हो जाती है। कहा जा चुका है कि द्विवेदी-युग की काव्य-शैली को अपना कर चलने वालों ने भी इस युग में छायावादी-शैली को बहुत कुछ अपनाया, पर अपनी मूल शैली का उन्होंने सर्वथा त्याग नहीं किया। मैथिलीशरण गुप्त और सियारामशरण गुप्त के अतिरिक्त रामनरेश त्रिपाठी, दिनकर, गुरुभक्त सिंह और हरिकृष्ण 'प्रेमी' की कविता में यह बात स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। उत्तरकालीन छायावादी कविता, विशेष कर प्रगतिवादी कविता, में द्विवेदी-युग की तथ्यकथन वाली बौद्धिक, अभिधाप्रधान और उपदेशात्मक शैली का रंग स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। माखनलाल चतुर्वेदी, 'वियोगी', रामकुमार वर्मा, 'प्रभात', और 'द्विज' की काव्य-शैली प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी की शैली से मिलती जुलती है, अतः उनके सम्बन्ध में अलग से विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसी तरह 'नवीन', उदयशंकर भट्ट, 'मिलिन्द' और 'प्रेमी' की शैली दिनकर, बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र और अंचल की शैलियों से मिलती-जुलती है। छायावाद-युग के अन्तिम वर्षों में एक नवीन काव्य शैली का प्रारम्भ हुआ जिसे स्वच्छन्दतावादी यथार्थवाद की शैली कह सकते हैं। नये कवि अज्ञेय, जानकीवल्लभशास्त्री, कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह, चन्द्रप्रकाश वर्मा, चन्द्रकुँवर बर्तवाल, सुमित्राकुमारी सिनहा, हंसकुमार तिवारी, गिरिजाकुमार माथुर, भवानीप्रसाद मिश्र, केदारनाथ अग्रवाल और यात्री (नागार्जुन) की तत्कालीन कविता में यह शैली दिखलाई पड़ती है। ये कवि मानव को जीवन के केन्द्र में प्रतिष्ठित करके काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए। छायावाद के अशरीरी सौन्दर्य की जगह स्वस्थ मांसल सौन्दर्य की ओर इनकी रुचि अधिक थी। साथ ही बच्चन-नरेन्द्र-अंचल के वासनात्मक आवेश की जगह प्रेम की साधनात्मक दशा का मार्मिक

चित्रण इनकी विशेषता थी। अतः इनकी शैली में स्वच्छता के साथ गम्भीरता का सुन्दर समन्वय दिखलाई पड़ता है। इनकी कविता में व्यक्तिवाद और सामाजिकता तथा वस्तु-सत्य और भाव-सत्य का सुन्दर सामंजस्य हुआ है जिससे इनकी शैली में युग-सापेक्ष्य औचित्य का गुण मिलता है :—

धक्-धक् धक्-धक् ओ मेरे दिल !
तुझ में सामर्थ्य रहे जब तक
तू ऐसे सदा तड़पता चल !

अथवा

तेरी आँखों में पर्वत की झीलों का निस्सीम प्रसार
मेरी आँखों बसा नगर की गली-गली का हाहाकार !
तेरे उर में वन्य अनिल सी स्नेह-अलस भोली बातें,
मेरे उर में जनाकीर्ण मग की सूनी-सूनी रातें !

[अज्ञेय—इत्यलम्]

इन उद्धरणों में स्वच्छता और स्पष्टता के साथ-साथ भाव गाम्भीर्य भी उभर कर आया है। इन कवियों ने वातावरण के सूक्ष्म सौन्दर्य का भी स्पष्ट चित्र खींचा है और मनोवैज्ञानिक सत्य के मेल से अपनी भावनाओं को अभिव्यक्ति की नयी वाणी दी है :—

फैला चारों ओर सघन हिम का जड़ सागर,
लहर प्रकम्पन हीन, हीन बेला-स्वर-गर्जन,
चन्द्रलोक पर का सा फैल रहा सूनापन,
मड़राते हिमभरी घाटियों में उन्मद घन !

× × ×

मृत्यु संचरण करती, इन सूने शिखरों से
झुक कर देख रही नीचे गिरि की गहराई !

[भीषण सुन्दरता—चन्द्रकुँवर बर्त्वाल]

भारतीय साहित्यशास्त्र की दृष्टि से रस के प्रकाशक धर्म गुण हैं और उसके आकर्षक धर्म दोष।* भामह ने माधुर्य, प्रसाद और ओज को गुणरूप में

* रसस्यांगित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा।
गुणाः माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा ॥
साहित्य दर्पण (८–१)

गुण-विचार

स्वीकार किया। दण्डी ने गुणों की संख्या भरत की तरह दस मानी* किन्तु उनका यह विचार था कि श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि, ये दस वैदर्भी रीति के गुण हैं, काव्य के नहीं। † भामह और मम्मट ने इनमें से अनेक गुणों को माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन गुणों के भीतर ही समेट लिया है और शेष को दोषों के अभाव के रूप में स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ कान्ति और सुकुमारता के गुण ग्राम्यत्व और कष्टत्व दोष के अभाव मात्र हैं न कि गुण। इस प्रकार अधिकांश आचार्यों ने गुणों को रस का धर्म माना है और उनकी संख्या तीन—ओज, प्रसाद और माधुर्य—निश्चित की है। विश्वनाथ कविराज के अनुसार सम्भोग शृंगार, करुण, विप्रलम्भ शृंगार और शान्त रसों में माधुर्य गुण क्रमशः बढ़ा हुआ रहता है और माधुर्य गुणयुक्त काव्य की भाषा में ट ठ ड ढ से भिन्न वर्ण अपने वर्ग के पंचम वर्णों से युक्त होकर प्रयुक्त होते हैं; लघु र और ण को भी माधुर्य-व्यंजक माना गया है। माधुर्य गुण के लिये भाषा का समासरहित अथवा छोटे-छोटे समासों से युक्त होना आवश्यक है। ओज गुण के सम्बन्ध में उनका कहना है कि वह वीर, वीभत्स और रौद्र रसों में क्रमशः विकास पाता है और चित्त का विस्तार करने वाली दीप्ति उसका लक्षण है। इसमें भाषा संयुक्ताक्षर बहुला, ट, ठ, ड, ढ, श, ष और रेफ से युक्त होती है। प्रसाद गुण वह है जिसमें चित्त तुरन्त व्याप्त हो जाता है जैसे सूखी लकड़ी में आग। प्रसाद गुण युक्त काव्य की भाषा सरल और सुबोध पदवाली होती है।

विश्वनाथ का यह कहना उचित है कि इन तीनों गुणों को जिन आचार्यों ने शब्द और अर्थ का गुण कहा है उनका यह कथन लाक्षणिक है। जिस तरह शौर्य आत्मा का गुण होते हुये भी शरीर से अभिव्यक्त होता है उसी प्रकार गुण काव्य की आत्मा के धर्म होते हुये भी उसके शरीर, शब्द और अर्थ के भीतर से प्रस्फुटित होते हैं। इसी अर्थ में उन आचार्यों ने गुणों को

---

* श्लेषः प्रसादः समतासमाधिः माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्यव्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणाः दशैते।
नाट्यशास्त्र (१७–९६)

† श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यम् सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः
इति वैदर्भ मार्गस्य प्राणाः दश गुणाः स्मृताः
येषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि। काव्यादर्श (१–४१–४२)

शब्द अथवा अर्थ का धर्म माना है और उन्हें रीति के भीतर अन्तर्भुक्त किया है। वस्तुतः गुणों को रीति का अंग नहीं माना जा सकता। छायावाद-युग की कविता पर गुणों की दृष्टि से भी विचार कर लेना उचित होगा। जैसा कहा जा चुका है, गुण रस के धर्म हैं। रस के सम्बन्ध में विचार करते हुये हम देख चुके हैं कि छायावादी कविता में रस, रसाभास, भाव और भावाभास सबका स्वरूप दिखलाई पड़ता है। इस युग के कवियों ने रस, निष्पत्ति को उतना महत्व नहीं दिया जितना प्रभविष्णुता को। इसलिये रस के धर्म-गुण पर उनका ध्यान न जाना स्वाभाविक ही था। इसका यह अर्थ नहीं कि उनकी कविता में ओज, माधुर्य और प्रसाद गुणों का अभाव है। जहाँ रस-परिपाक हुआ है वहाँ उस रस का धर्म (गुण) भी स्पष्ट दिखलाई पड़ जाता है। जहाँ रसाभास, भाव या भावाभास मात्र हैं वहाँ भी उनके प्रकाशक गुण स्फुट या अस्फुट रूप में दिखलाई पड़ जाते हैं। गुणों के विभाजन और विश्लेषण का ऐसा कोई निश्चित मानदण्ड छायावादी काव्य में नहीं गृहीत हुआ जैसा प्राचीन संस्कृत साहित्यशास्त्र में मिलता है। फिर भी रस या भाव के अनुरूप शब्दों का चयन हुआ है जिनसे गुणों की अभिव्यक्ति होती है। उदाहरण के लिये यह कविता लीजिये—

> हिमाद्रि-तुङ्ग-शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती,
> स्वयं प्रभासमुज्वला स्वतंत्रता पुकारती।
> अमर्त्य वीर–पुत्र हो दृढ़प्रतिज्ञ सोच लो,
> प्रशस्त पुण्य पन्थ है—बढ़े चलो, बढ़े चलो!
> असंख्य कीर्ति-रश्मियाँ विकीर्ण दिव्य दाह सी,
> सपूत मातृभूमि के, रुको न शूर साहसी।
> अराति-सैन्य–सिन्धु में सुबाड़वाग्नि से जलो,
> प्रवीर हो, जयी बनो, बढ़े चलो, बढ़े चलो!
>
> [प्रसाद]

इस कविता में भारतीय साहित्यशास्त्र की दृष्टि से ओज गुण के सभी लक्षण वर्तमान हैं। अर्थ और शब्द दोनों ही में शिथिलता न होने से भाषा में वेगवती नदी का सा प्रवाह आ गया है, साथ ही उत्साह के आवेग और गम्भीरता के कारण भाषा में भी प्रभावोत्पादकता आ गई है। इस कविता में चित्त को उद्दीप्त करने का भी पर्याप्त गुण है। भाषा में ड ढ श तथा संयुक्त वर्णों का अधिक प्रयोग हुआ है तथा नीचे और ऊपर के रेफ की भरमार है। छन्द भी भावानुरूप गतिशील है। इस प्रकार इसमें शास्त्रसम्मत ओज गुण दिखलाई पड़ता है। इस युग में ऐसी कवितायें भी काफी लिखी गईं जिनमें

इसमें उत्साह की भावना व्यक्त हुई है, संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग भी हुआ है, फिर भी भाव और भाषा की सरलता और सुबोधता के कारण इसमें प्रसाद गुण पूर्णमात्रा में है। बच्चन के स्वर में स्वर मिलाते हुये शिवमंगल सिंह 'सुमन' अपनी प्रसाद गुण युक्त शैली में कहते हैं—

मुझको न सुख-संसार दो।
कुछ बात दिल की कह सकूँ,
उपहास जग का सह सकूँ,
सुख-दुःख में सम रह सकूँ,
इतना मुझे अधिकार दो!

× × ×

साहस हृदय में दो अमर,
चूमूँ तरंगों के अधर,
नौका भँवर में डाल कर,
चाहे न फिर पतवार दो!

[हिल्लोल]

ओज, माधुर्य और प्रसाद गुणों का प्रकाशन छायावादी कवियों ने जानबूझ कर नहीं किया है क्योंकि वे सचेष्ट होकर काव्य रचना करने में विश्वास नहीं करते थे और न प्राचीन शास्त्रीय नियमों से ही बँध कर चलने को तैयार थे। किन्तु भाव, भाषा और अभिव्यक्ति का परस्पर इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि सचेत होकर चेष्टा पूर्वक रचना न करने पर भी अभिव्यक्ति में भावानुरूप गुण आ ही जाते हैं। अतः इस युग के सभी कवियों में तीनों गुण किसी न किसी मात्रा में पाये जा सकते हैं।

भारतीय साहित्यशास्त्र में रीति को बहुत महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। रीतिवादी वामन तो रीति को ही काव्य की आत्मा मानते हैं*। किन्तु अधिकांश आचार्यों ने रीति को काव्य का बाह्य स्वरूप ही माना है।

रीति-विचार

वामन के ही अनुसार विशिष्ट प्रकार की पदरचना ही रीति है। आचार्यों ने रीति और गुण का सम्बन्ध स्थापित कर के इस बात का विचार किया था कि किस रीति में कौन से गुण होते हैं। इन रीतियों का विभाजन आचार्यों ने देशों के अनुसार किया था जैसे वैदर्भी, पाञ्चाली, गौड़ी, लाटी, मागधी, आवन्ती आदि। कम या अधिक समस्त पदों

---

* रीतिरात्मा काव्यस्य।—वामन

तथा कोमल अथवा कठोर वर्णों के प्रयोग के अनुसार इन रीतियों का विभाजन हुआ था। गुणों के अनुसार भी इनका विभाजन किया गया था जैसे वैदर्भी रीति में सभी गुणों की कल्पना की गई थी। किन्तु यथार्थरूप से किसी भी कवि ने अपने देश के अनुसार काव्यरीति का अवलम्बन नहीं किया। दण्डी ने शुरू में ही कह दिया था कि प्रत्येक कवि की अलग अलग रीति होती है जैसे ईख, दूध, गुड़ आदि की मिठास भिन्न-भिन्न होती है *। कुन्तक ने देश के अनुसार नहीं, कवि के स्वभाव के अनुसार रीतियों का विभाजन किया तथा सुकुमार, विचित्र और मध्यम, इन तीन मार्गों की उद्भावना की। कुन्तक का यह सिद्धान्त बहुत कुछ मान्य है। प्रत्येक कवि अपनी परिस्थितियों और संस्कारों के अनुरूप अपनी विशिष्ट शैली का निर्माण करता है; दूसरों की शैली का अनुकरण करने वाले सच्चे कवि नहीं होते †। पहले ही कहा जा चुका है कि रीति अथवा शैली कवि के व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करती है। छायावाद-युग व्यक्तिवाद का युग था, अतः इस काल के सभी कवियों ने अपनी अपनी विशिष्ट शैलियों का निर्माण किया। भौगोलिक आधार पर निर्मित संस्कृत साहित्य के रीतियों या मार्गों को हिन्दी कविता, विशेष कर छायावाद-युग की कविता में ढूँढ़ना उचित नहीं है। इसीलिये शैली का विचार करते समय वैदर्भी, पाञ्चाली, गौड़ी आदि रीतियों को छायावादी कविता में ढूँढ़ने का प्रयत्न यहाँ नहीं किया गया; औचित्य, विशदता, लालित्य, विराटता, स्पष्टता, सरलता आदि पर ही जो पाश्चात्य और भारतीय दृष्टि से काव्य के गुण माने गये हैं. इस अध्याय में विशेष रूप से विचार किया गया है।

---

* इति मार्गद्वयं भिन्नं, तत्स्वरूपनिरूपणात्।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रति कविस्थिताः ॥

इक्षुक्षीरगुडादीनां माधुर्यस्यान्तरं महत्।
तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्यापि शक्यते ॥

काव्यादर्श, १। १०१–१०२

† अन्धास्ते कवयो येषां पन्थाः क्षुण्णः परैर्भवेत।
परेषां तु यदा क्रान्तः पन्थास्ते कविकुञ्जराः ॥

गंगावतरण काव्य–१। १७

भाषा और शब्द-चयन

रचना-प्रक्रिया वाले अध्याय में कविता की प्रेषणीयता और भाषा के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया जा चुका है और बताया जा चुका है कि काव्यभाषा बोलचाल की साधारण भाषा से भिन्न और उत्कृष्ट (Heightened) होती है। यह भी कहा जा चुका है कि गद्य की, विशेष कर विज्ञान और शास्त्र के गद्य की भाषा में बौद्धिकता और तर्कबुद्धि के कारण संकेतग्रह वाले और पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग होता है, परन्तु कविता की भाषा में भावात्मकता की ही प्रधानता रहती है*। सूक्ष्म निरीक्षण और रागात्मकता के मेल से भाषा चित्रात्मक हो जाती है। कविता के लिए ऐसी ही भाषा उपयुक्त होती है। छन्द की लय की तरह भाषा में भी अपनी स्वतंत्र लय होती है जो उच्चारण, व्याकरण आदि के नियमों से नियंत्रित होती है। शब्द-चयन भी उस लय को नियमित बनाता है। इसी कारण विभिन्न देशों की भाषा

---

* The distinction which needs to be kept clear does not set up fictions in opposition to verifiable truths in the scientific sense A statement may be used for the sake of the reference, true or false, which it causes. This is the scientific use of language. But it may also be used for the sake of the effects in emotions and attitude produced by the reference it occasions. This is the emotive use of language. The distinction once clearly grasped is simple. We may either use words for the sake of the references they promote or we may use them for sake of the attitudes and emotions which ensue."

[*I. A. Richards—Principles of literary Criticism—Page 267*]

की लय (Cadence) विभिन्न होती है और एक ही देश की भाषा की लय भी विभिन्न युगों में भिन्न रूपों में दिखलाई पड़ती है। भाषा की लय युग और देश के जीवन की लय के मेल में रहा करती है। तात्पर्य यह कि जीवन्त भाषा सामाजिक होती है और समाज के जीवन की लय के अनुरूप होती है। भाषा की सामाजिकता का अर्थ यह है कि उसमें प्रेषणीयता की पूरी शक्ति है अर्थात उसमें समाज द्वारा मान्य वर्णों, शब्दों, पदों, मुहावरों और व्याकरण-नियमों को ग्रहण किया गया है; भाषा की लय के साथ उनका होना आवश्यक है। काव्यभाषा भी उस लय के बिना जीवन्त नहीं हो सकती। * काव्य की भाषा बोलचाल की भाषा से भी उसी प्रकार भिन्न होती है जिस प्रकार विज्ञान या शास्त्र की पारिभाषिक शब्दों वाली भाषा से। इसका कारण कवि की रागात्मकता या उसके व्यक्तित्व की विचित्रता है जो भाषा को उत्कृष्ट या विचित्र अर्थात बोलचाल की भाषा से भिन्न बना देती है।

भाषा का व्यवहार यों तो सभी करते हैं पर सच्चा कवि उसे अपनी वश-वर्तिनी बना कर रखता है। वह शब्द-शिल्पी और भाषा की प्रकृति से पूर्ण परिचित होता है। भाषा की प्रकृति से परिचित होने के कारण वह उसकी लय को पकड़ कर अपनी कविता को प्रेषणीय बनाता है। शब्द-शिल्पी होने के कारण वह काव्य भाषा में आकर्षण और सौन्दर्य उत्पन्न कर के उसे उत्कृष्ट बनाता है। अतः भाषा की प्रकृति या लय और उसकी शैली, दोनों ही दृष्टियों से यहाँ छायावादी काव्य के सम्बन्ध में विचार किया जायगा।

कविता को छायावादी कवियों ने नयी भाषा दी, इसमें दो मत नहीं हो सकते। ब्रजभाषा और बँगला की कोमलकान्त पदावली की तुलना में पुनरुत्थान-युग की काव्यभाषा अत्यन्त नीरस और गद्यात्मक थी। छायावादी कवियों ने

* "A living language analyses into idioms; idioms are the live organisms of speech—words are molecules and letters atoms. Now this organic unit, this idiom, is instinct with rhythm; it has irrefrangible intonation, and poetic rhythm is but the extension and the aggregation of these primary rhythms Even measured, regularly accented verse is successful only in so far as it makes use of or accomodates itself to these idioms."

[*Herbert Read—Collected Essays—Page* 55]

अपनी भावात्मकता और विद्रोही प्रवृत्ति के कारण सहज ही उसे बदल दिया। भाषा की प्रकृति के सम्बन्ध में उनका ज्ञान भी कम नहीं था जैसा 'पल्लव' और 'गीतिका' भी भूमिकाओं तथा 'प्रबन्ध-प्रतिमा' के निबन्धों से पता चलता है। भाषा की लय के सम्बन्ध में पन्त ने लिखा है :—

"भाषा का, और मुख्यतः कविता की भाषा का, प्राण राग है। राग ही के पंखों की अबाध उन्मुक्त उड़ान में लयमान होकर कविता सान्त को अनन्त से मिलाती है। राग ध्वनि-लोकनिवासी शब्दों के हृदय में परस्पर स्नेह तथा ममता का सम्बन्ध स्थापित करता है। संसार के पृथक्-पृथक् पदार्थ पृथक्-पृथक् ध्वनियों के चित्र मात्र हैं।·········राग का अर्थ आकर्षण है, यह वह शक्ति है जिसके विद्युत्स्पर्श से खिंच कर हम शब्दों की आत्मा तक पहुँचते हैं, हमारा हृदय उनके हृदय में पहुँच कर एकभाव हो जाता है। प्रत्येक शब्द एक संकेत मात्र, इस विश्वव्यापी संगीत की अस्फुट झंकार मात्र है। जिस प्रकार समग्र पदार्थ एक दूसरे पर अवलम्बित हैं, ऋणानुबन्ध हैं; उसी प्रकार शब्द भी।······जिस प्रकार शब्द एक ओर व्याकरण के कठिन नियमों से बद्ध होते, उसी तरह दूसरी ओर राग के आकाश में पक्षियों की तरह स्वतंत्र भी होते हैं। जहाँ राग की उन्मुक्त स्नेहशीलता तथा व्याकरण की नियम-वश्यता में सामंजस्य रहता है वहाँ कोमल माँ और कठोर पिता के घर में लालित-पालित सन्तान की तरह, शब्दों का भरण-पोषण, अंग-विन्यास, तथा मनोविकास स्वाभाविक और यथेष्ट रीति से होता है।" [पल्लव की भूमिका—पृष्ठ १७—१८]

इस उद्धरण से छायावाद के प्रतिनिधि कवि पन्त के भाषासम्बन्धी विचार स्पष्ट हो जाते हैं। उन्होंने अपनी काव्यात्मक और अलंकृत शैली में वही बात कही है जो भाषा की लय के बारे में ऊपर कही जा चुकी है। वर्ण, शब्द और वाक्य भाषा के अवयव हैं; अतः छायावादी कविता की भाषा के सम्बन्ध में इन्हीं तत्वों के आधार पर विचार करना उचित होगा।

वर्ण-संगीत

वर्ण वाग्धारा अथवा भाषा की लय का लघुतम अंश है। भाषा में उसका स्थान वही है जो संगीत में स्वर की मात्रा का है। किन्तु वर्ण लय का लघुतम अंश होते हुए भी अनन्त शक्ति वाला है क्योंकि वही शब्द या भाषा की आत्मा है। वह एक ऐसा श्रुत अनुभव या ध्वनिखण्ड है जिसका अपना व्यक्तित्व होता है। वर्णों के व्यक्तित्व के कारण ही वाग्धारा या भाषा की लय अर्थवती होती है और उनके स्थान-परिवर्तन से अर्थ-परिवर्तन भी हो जाता है। 'वह जा रहा है' और 'वह गा रहा है' इन दो ध्वनि-प्रवाहों में 'ज' वर्ण की जगह 'ग'

आ जाने से ध्वनि-प्रवाह या वाक्य का अर्थ बदल गया है। दूसरी बात यह है कि वर्ण ऐसा ध्वनि-खण्ड है जो मनुष्य की बुद्धि के प्रयत्न से उत्पन्न होता है, वह पशु-पक्षियों के ध्वनि-खण्ड की तरह सहजात-प्रवृत्ति की देन नहीं है। वह मनुष्य के उच्चारण-यन्त्र से उत्पन्न होता है और श्रवणेन्द्रिय द्वारा अनुभूत होता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है अतः उसकी भाषा और भाषा के ध्वनि-खण्ड भी सामाजिक मान्यता पर आधृत हैं। चूँकि मनुष्य-समाज और उसके परिवेश में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है अतः मनुष्य की भाषा भी युग-युग में बदलती रहती है; अर्थात एक युग की वाग्धारा में प्रयुक्त ध्वनिखण्डों का स्वरूप दूसरे युग की वाग्धारा में बदल जाता है। भाषाविज्ञान में ध्वनि-खण्डों के इसी रूप-परिवर्तन और अर्थ-परिवर्तन का अध्ययन किया जाता है।

भारतीय भाषाओं के विकास का इतिहास यह बताता है कि वैदिक भाषा, लौकिक संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में भाषा की लय और ध्वनिखण्डों के नियोजन में किस तरह निरन्तर परिवर्तन होता आया है। प्रत्येक युग की भाषा ने अपने पूर्ववर्ती युग की भाषा के ध्वनि-खण्डों के कुछ रूप स्वभावतः ग्रहण किये हैं और अनेक कारणों से कुछ रूपों को बदल भी दिया है। अतः एक युग में एक प्रकार के वर्ण भाषा की लय के आवश्यक अवयव होते हैं तो दूसरे युग में दूसरे प्रकार के। युगानुरूप परिवर्तित भाषा की लय को छोड़कर पुनरुत्थान या रूढ़िप्रियता के कारण कभी-कभी किसी पूर्ववर्ती भाषा की लय और ध्वनिखण्डों को अपनाने की प्रवृत्ति बलवती रहती है। ऐसी भाषा जाति या राष्ट्र की प्राण-शक्ति से संयुक्त नहीं होती। हिन्दी के ध्वनिखण्डों के प्रवाह का स्वाभाविक विकास अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी से व्रजभाषा-अवधी-राजस्थानी आदि भाषाओं की ओर हुआ है। द्विवेदी-युग में खड़ी बोली हिन्दी को पुनरुत्थान की प्रवृत्ति के कारण संस्कृत-गर्भित बनाने की प्रवृत्ति बढ़ी। इसलिए उस युग की खड़ी बोली हिन्दी के ध्वनिखण्डों के प्रवाह में वह सरसता और प्राणवत्ता नहीं थी जो व्रजभाषा में थी। यह खड़ी बोली का अस्वाभाविक विकास था। संस्कृत का ध्वनि प्रवाह खड़ी बोली की प्रकृति के सर्वथा अनुकूल नहीं है। इस सम्बन्ध में 'निराला' का यह मत बहुत सही है :—

"प्रकृति की स्वाभाविक चाल से भाषा जिस तरफ भी जाय—शक्ति-सामर्थ्य और मुक्ति की तरफ या सुखानुशयता, मृदुलता और छन्द-लालित्य की तरफ, यदि उसके साथ जातीय जीवन का भी सम्बन्ध है तो यह निश्चित रूप से कहा जायगा कि प्राण-शक्ति उस भाषा में है।......यहाँ, जातीय साहित्य के प्राणों की चर्चा करते हुए, यह कहना पड़ता है कि व्रजभाषा में भाषाजन्य जातीय जीवन था,

जो बुद्ध के बाद के संस्कृत कवि और दार्शनिकों में नहीं। इसलिए, यह निर्विवाद है कि ब्रजभाषा के बाद की जो भाषा होगी, उसमें ब्रजभाषा के कुछ चिह्न जीवन की शक्ति या रूप के तौर पर अवश्य होंगे। खड़ी बोली का उत्थान ब्रजभाषा के पश्चात होता है, इसलिए ब्रजभाषा के कुछ जीवन-चिन्ह उसमें रहने जरूरी हैं। हम देखते हैं कि ब्रजभाषा में 'श, स' दोनों 'स' बन गये हैं, 'ष' 'ख' हो गया है, 'ण, न' 'न'में ही आ गये हैं, बहुत जगह 'व' 'ब' बन गया है। खड़ी बोली में शुद्ध उच्चारण की ओर ध्यान रहने पर भी वर्णों की यह अशुद्धि ही जैसे अच्छी लगती है, इसकी विशेषता हम अच्छी तरह देख लेते हैं। जब कोई उर्दू मिली चलती जबान लिखता है, बस 'वश' की जगह, बेबस 'विवश' की जगह किरन 'किरण' की जगह आते हैं।......कुछ हो, यह मालूम हो जाता है कि वर्णों में 'श, ण, व' खड़ी बोली के प्राणों को खटकते हैं।"

[निराला—प्रबन्ध-प्रतिमा—पृष्ठ २७०-७१]

शैलीगत विशेषताओं का विवेचन करते हुए कहा जा चुका है कि गुण-रीति में वर्ण-योजना का विशेष महत्व है। देशकाल के अनुसार वर्ण-योजना का स्वरूप बदलता रहता है। उदाहरण के लिए पंजाबी या राजस्थानी भाषा बंगाल के लोगों को बहुत श्रुतिकटु प्रतीत होती है। उसी तरह संस्कृत के संयुक्ताक्षरों के उच्चारण में कष्ट होने के कारण प्राकृत-अपभ्रंश में संयुक्ताक्षर वाले पदों का रूप बदल गया था जैसे 'धर्म' का 'धम्म',कृष्ण का 'कण्ह' आदि। उस काल में ये रूप मुख-सुख के कारण सुकर और श्रुतिमधुर माने जाते थे, किन्तु हिन्दी के लिए प्राकृत-अपभ्रंश के वे रूप भी कटु हो गये अतः फिर उनका रूप बदल कर धरम और कान्ह या कन्हैया हो गया।

ढोल्ला मइँ तुहुँ वारिया मा कुरु दीहा माणु।
निद्दये गमिही रत्तडी दडवड होइ विहाणु॥

यह दोहा अपभ्रंश-भाषा-भाषियों के लिए चाहे जितना मधुर रहा हो, हिन्दी बोलने वालों को तो इसके शब्दों का उच्चारण करना भी कठिन प्रतीत होता है। संस्कृत का दुर्लभ अपभ्रंश में ढोल्ला और हिन्दी में दुल्लह या दुलहा, दूल्हा हो गया है। हिन्दी वालों को दूल्हा शब्द जितना मधुर लगता है उतना दुर्लभ या ढोल्ला नहीं। पुनरावर्तन की प्रवृत्ति के कारण हिन्दी में प्रान्तीय भाषाओं और बोलियों के परम्परागत तद्भव रूपों को छोड़कर संस्कृत के तत्सम रूपों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति इस तरह अस्वाभाविक प्रतीत होती है। अतः निराला जी का उपर्युक्त मत सर्वथा उचित है। छायावादी कवियों को उत्तराधिकार में द्विवेदी-युग की तत्सम-शब्दों वाली भाषा मिली जो जनता की भाषा अथवा हिन्दी की

बोलियों से दूर होती जा रही थी। द्विवेदी-युगीन कवियों को भाषा-संस्कार की धुन इतनी अधिक थी कि उन्होंने वर्ण-संगीत की ओर बहुत कम ध्यान दिया था। अतः उनकी भाषा में श्रुतिकटुत्व या दुःश्रवत्व दोष अधिक है। छायावादी कवियों ने काव्य-भाषा के गद्यात्मक स्वरूप को बदल कर उसे कोमल-कान्त पदावली से युक्त तो अवश्य किया, किन्तु सचेत रूप से वर्ण-संगीत या भावानुरूप ध्वनिखण्डों के प्रवाह की ओर कुछ ही कवियों ने ध्यान दिया। निराला और पन्त ने इस दिशा में सबसे अधिक प्रयत्न किया। पन्त ने 'पल्लव' की भूमिका में वर्ण-संगीत के सम्बन्ध में विचार करते हुए लिखा है :—

"काव्य-संगीत के मूल तन्तु स्वर हैं, न कि व्यंजन;......कविता में भी भावना का रूप स्वरों के सम्मिश्रण, उनकी यथोचित मैत्री पर निर्भर करता है; ध्वनि-चित्रण को छोड़कर (जिसमें राग व्यञ्जन प्रधान रहता, यथा—"घन घमंड नभ गरजन घोरा।") अन्यत्र व्यञ्जन-संगीत भावना की अभिव्यक्ति को प्रस्फुटित करने में प्रायः गौणरूप से सहायता मात्र करता है।"

स्पष्ट है कि पन्तजी भाषा की लय को भावानुरूप मोड़ने के लिए इतने सचेष्ट हैं कि वे व्यञ्जन और स्वर वर्णों का व्यवहार भी सोच समझ कर करते हैं। उन्हीं का दिया हुआ उदाहरण लीजिये :—

१—इन्द्रधनु सा आशा का छोर
अनिल में अटका अभी अछोर।
२—हमें उड़ा ले जाता जब द्रुत
दल-बल युत घुस वातुल चोर! [पल्लव]

पहले में 'आ' स्वर की आवृत्ति से आशा के फैलाव का स्वरूप व्यंजित होता है। दूसरे में लघु व्यंजन वर्णों की आवृत्ति से वातुल-चोर के घुस आने और उड़ा ले जाने की क्रिया व्यक्त हो जाती है।

छायावादी कवियों ने अधिकतर अपनी वैयक्तिक रुचि के अनुरूप वर्ण-संगीत की योजना की है। भारतीय साहित्यशास्त्र में परुष तथा संयुक्त वर्णों और रेफ की अधिकता को दुःश्रवत्व दोष माना गया था। उच्चारण और श्रवण की कठिनता को दूर करने के लिए हिन्दी में संयुक्ताक्षर वाले शब्दों का रूप बहुत कुछ बदल गया जैसे धर्म-कर्म का धरम-करम, कर्ण-पर्ण का कान-पान आदि। छायावादी कवियों ने अधिकतर संस्कृत के तत्सम शब्दों को ग्रहण किया अतः उनका वर्ण-संगीत हिन्दी भाषा की विकसित प्रकृति के अनुरूप नहीं था। फिर भी उन्होंने अपनी रुचि के अनुकूल वर्ण-संगीत लाने के लिए तत्सम रूपों में बहुत कुछ हेर-फेर किया। उन्होंने कहीं-कहीं 'ण' की जगह 'न' का भी प्रयोग

किया है जैसे गण, कण, बाण, प्राण, शरण, मरण, किरण की जगह गन, कन, बान, प्रान, सरन, मरन, किरन। यद्यपि भावानुकूल वर्ण-योजना के लिए सभी छायावादी कवियों ने सचेत प्रयत्न नहीं किया है फिर भी यह गुण उनकी कविता में बहुधा दिखलाई पड़ता है :—

प्राण-धन को स्मरण करते,
नयन झरते, नयन झरते!

[निराला]

इन दो पंक्तियों में न, ण और र की आवृत्ति से जलधारा की झरझर की ध्वनि निकलती है जिससे आँसू की झड़ी लगने का अर्थ व्यक्त हो जाता है। भयानकता या रौद्र दृश्य का चित्रण करने के लिये पन्त ने 'परिवर्तन' में परुष वर्णों के योजना द्वारा भावाभिव्यक्ति की है :—

लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षस्थल पर!
शत-शत फेनोच्छ्वसित स्फीत-फूत्कार भयंकर

इसमें क्ष, ण, श परुष वर्ण हैं। संयुक्त वर्णों की भी अधिकता है; अन्तिम पंक्ति में फ और त वर्ण की आवृत्ति से सर्प के फुफकारने की ध्वनि निकलती है। भावानुरूप वर्ण-संगीत या ध्वन्यात्मकता का गुण निराला की कविता में भी बहुत मिलता है :—

कण-कण कर कंकण, प्रिय
किण-किण रव किंकिणी,
रणन-रणन नुपुर उर-लाज,
लौट रंकिणी;
और मुखर पायल स्वर करे बार बार!

[गीतिका]

इसमें ण और र वर्णों के योग और आवृत्ति से आभूषणों की झनकार ध्वनित होती है।

निराला ने अपने निबन्ध 'मेरे गीत और कला' में यह शिकायत की है, 'अब वर्ण-विचार द्वारा काव्य-कला का रूप निर्णय करता हुआ कहता हूँ कि खड़ी बोली के कोमल कवि और किन्हीं-किन्हीं विचारों से सर्वश्रेष्ठ कवि श्री सुमित्रा-नन्दन जी पन्त के वर्ण-सौन्दर्य के मुख्य आधार यही श, ण, व और ल हैं।' इसका यह उदाहरण उन्होंने पन्त जी की कविता से दिया है :—

'कहाँ-कहाँ वह पूर्ण पुरातन वह सुवर्ण का काल ?'
'नीले नभ के शतदल पर वह बैठी शारद हासिनि ।'
'मृगेक्षिणि सार्थक नाम' आदि

यह सच है कि उपर्युक्त पंक्तियों में ही नहीं, पन्त की कविता में सर्वत्र श, ण, व, ल का प्रचुर प्रयोग दिखलाई पड़ता है किन्तु स्वयं निराला की कविताओं में सम्भवतः इन वर्णों की योजना कम नहीं हुई है :—

वीणा-निन्दित वाणी बोल !
संशय-अंधकारमय पथ पर भूला प्रियतम तेरा—
सुधाकर धवल विमल मुख खोल ।
प्रिये, आकाश प्रकाशित कर के
शुष्क कण्ठ कण्टकमय पथ पर
छिड़क ज्योत्स्ना-घट अपना भर के ।

[प्रलाप—अनामिका]

इनमें माधुर्य-भाव का चित्रण करते हुए कवि ने माधुर्य गुण के लिए वर्जित टवर्ग के परुष वर्णों, संयुक्ताक्षरों और रेफ का प्रयोग तो किया ही है अपने 'श, ण, व, ल' के सिद्धान्त की भी पूरी अवहेलना की है । निराला या पन्त में ही नहीं, इस युग के सभी कवियों ने तत्सम शब्दों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति अधिक होने से हिन्दी के लिए श्रुतिकटु माने जाने वाले वर्णों का प्रयोग भी निःसंशय हो कर किया है । जहाँ प्रसाद गुण की ओर उनकी वृत्ति रमी है वहाँ भाषा की लय अवश्य हिन्दी के अनुकूल हुई है :—

कुछ न हुआ, न हो
मुझे विश्व का सुख-श्री,
यदि केवल पास तुम रहो ! [उक्ति—निराला]
तुम्हे खोजता था मैं, पा नहीं सका,
हवा बन बहीं तुम जब मैं थका, रुका ।

[प्राप्ति—निराला]

इन पंक्तियों में न संस्कृत के शब्दों की ही भरमार है न तो श ण व ल या टवर्ग के परुष वर्णों की ही । छायावाद-युग के दूसरे दशक में भाषा को संस्कृत के अस्वाभाविक दबाव से मुक्त करने का प्रयत्न अधिकांश कवियों ने किया ; बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र, अंचल, नेपाली, गुरुभक्त सिंह आदि की भाषा में वर्ण-संगीत का विधान पहले से बिलकुल भिन्न प्रकार का दिखलाई पड़ता है :—

मधुप्यास बुझाने हम आये।
पग-पायल की झनकार हुई
पीने की एक पुकार हुई,
बस हम दीवानों की टोली
चल देने को तैयार हुई।

[बच्चन—मधुबाला]

इसमें एक भी अप्रचलित संस्कृत शब्द नहीं है; अतः प ब र स जैसे कोमल वर्णों की योजना स्वाभाविक रूप से हो गयी है।

शब्दालंकार से वर्ण-संगीत में चमत्कार उत्पन्न होता है। छायावादी कविता में अनुप्रास, यमक आदि का जानबूझ कर विधान नहीं हुआ है अतः अनुप्रास से अलकृत भाषा अधिक नहीं प्रयुक्त हुई है। प्रभावान्विति के लिए शब्दों के दुहरे प्रयोग से भी वर्ण-संगीत की सुन्दर योजना हो गयी है:—

वन वन उपवन
छाया उन्मन-उन्मन गुंजन
नव वय के अलियों से गुंजन।

अथवा

चमक-झमकमय मंत्र वशीकर
छहर-घहरमय विष-सीकर! [पन्त—पल्लव]

यहाँ वर्णों की आवृत्ति से ही भ्रमर की गुंजार और वर्षा की झमझम ध्वनि निकल रही है।

भेरी झररर झरर दमामे,
घोर नकारों की है चोप।
कड़-कड़-कड़, सन-सन बन्दूकें
अररर अररर अररर तोप,
× × ×
आग उगलती दहक-दहक दह
कँपा रही भू-नभ के छोर!

[नाचे उस पर श्यामा—निराला]

इसमें भेरी, बन्दूक और तोप की आवाजों का अनुकरण करके शब्द गढ़े गये हैं, अतः वर्णों की आवृत्ति सहज ही हो गयी है।

कुछ कवियों में कुछ वर्णों का मोह भी दिखलाई पड़ता है। पन्त का स और र का मोह सा सी और रे के रूप में सर्वत्र दिखलाई पड़ता है जैसे:—

तुम्हारी सुधि की सुरभित साँस ·
रूप का राशि राशि वह रास

[पल्लव]

पन्त का 'गुंजन' की भूमिका का वक्तव्य उनके वर्ण-मोह पर पर्याप्त प्रकाश डालता है; "पल्लव की कविताओं में मुझे 'सा' के बाहुल्य ने लुभाया था,.........'गुंजन' में 'रे' की पुनरुक्ति का मोह नहीं छोड़ सका, यथा:—

'तप रे मधुर मधुर मन !' इत्यादि ।

'सा' से जो मेरी वाणी का सम्वादी स्वर एकदम रे हो गया, यह उन्नति का क्रम संगीत प्रेमी पाठकों को खटकेगा नहीं, ऐसा मुझे विश्वास है ।"

इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि पन्त वर्ण-संगीत या भाषा की लय की योजना के लिये सचेत रहे हैं, यह दूसरी बात है कि उनका प्रयत्न उनकी अपनी रुचि के अनुरूप था, समाज की रुचि या भाषा की प्रकृति के अनुरूप नहीं ।

[२]

शब्द-शिल्प

वर्ण और शब्द का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है क्योंकि वर्णों के योग से ही पदों अथवा शब्दों का निर्माण होता है। शब्द का प्रयोग अर्थप्रतीति के लिये होता है किन्तु कभी-कभी ध्वन्यात्मक अथवा निरर्थक पदों से भी अर्थ ध्वनित होता है । साहित्यकार अथवा कवि का सम्पूर्ण व्यापार ही शब्दों का व्यापार है अतः जिस कवि का शब्द पर जितना अधिक अधिकार होता है वह उतना ही सफल कवि होता है । महाभाष्यकार ने तो यहाँ तक कह दिया है कि एक शब्द को भी अगर सम्यक् प्रकार से समझकर सुन्दर ढंग से प्रयोग किया जाय तो उससे मर्त्य और स्वर्ग लोक में वांछित फल की प्राप्ति होती है* । तात्पर्य यह कि कवियों के लिये अधिक से अधिक शब्दों का ज्ञान ही आवश्यक नहीं है, शब्दों की अन्तरात्मा को पहचानना भी जरूरी है । काव्य शब्द और अर्थ के साहित्य से उत्पन्न होता है अतः शब्द-शिल्प अर्थात शब्द और अर्थ का सम्यक संयोग ही कवि की विशेषता को प्रगट करता है । व्याकरणशास्त्र में प्रयोग के लिये उपयुक्त ऐसे शब्दों को पद कहते हैं । इसीलिये कवि भावों के अनुकूल पदावली का चयन करता है और वाणी द्वारा मूर्ति या चित्र कला की तरह ही वस्तु को रूपायित कर देता है । शब्द उसके लिये प्रस्तर या धातु के समान हैं जिनको वह अपनी सूझ, पहचान, काट-छांट और रूप-परिवर्तन द्वारा सजीव बना देता है । काव्य को शब्द और

* एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुष्ठुप्रयुक्तः स्वर्गेलोके च कामधुक् भवति ।

अर्थ से सहित कहने का (शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्) तात्पर्य यही है कि काव्य शब्दजाल मात्र नहीं है, वह सुन्दर अर्थ से समन्वित जीवन्त वस्तु है।

पहले कहा जा चुका है कि द्विवेदी-युग में पुनरुत्थान की प्रवृत्ति के कारण हिन्दी भाषा को समृद्ध और व्यवस्थित करने की ओर लेखकों का ध्यान जितना था उतना शब्द-शिल्प की ओर नहीं; इसी कारण खड़ी बोली की तत्कालीन कविता में व्रजभाषा अथवा उर्दू के काव्य जैसा लालित्य नहीं है। छायावाद युग के कवियों ने यद्यपि उत्तराधिकार रूप में द्विवेदी-युग की भाषा ही प्राप्त की किन्तु उन्होंने अपने शब्द-शिल्प के कौशल द्वारा भाषा के रूप को भी बहुत कुछ बदल दिया। निराला ने अपनी एक कविता में वर्ण और शब्द के चमत्कार का सुन्दर वर्णन किया है।

वर्ण-चमत्कार !
एक एक शब्द बँधा ध्वनिमय साकार
पद पद चल रही भावधारा,
निर्मल कल कल में बँध गया विश्व सारा,
खुली मुक्ति बन्धन से बँधी फिर अपार !
शत शत रंग खिला, मिला प्राण,
गूँजे गगनाङ्गण में ये अगण्य गान
दिखी रूप की छवि झंकृत कर स्वरतार। [गीतिका]

निराला ही नहीं अन्य छायावादी कवियों में भी शब्द-शिल्प का कौशल पूर्ववर्ती कवियों की अपेक्षा बहुत अधिक दिखलाई पड़ता है। इसका यह अर्थ नहीं कि छायावादी कविता में शब्द-शिल्प सम्बन्धी दोष हैं ही नहीं। प्रारम्भिक छायावादी कविताओं में ऐसे दोषों की अधिकता है किन्तु बाद की कविताओं में शब्द चयन और भाषा का सौष्ठव पर्याप्त मात्रा में दिखलाई पड़ता है।

कहा जा चुका है कि छायावादी कवियों ने भाषा को पहले से अधिक समृद्ध बनाया। इसका कारण यह था कि उनका शब्द-भाण्डार विशाल था और उन्होंने शब्दों की अन्तरात्मा का परिचय प्राप्त किया था। शब्द की आत्मा के ज्ञान का तात्पर्य यह है कि उनका उचित स्थान पर उपयुक्त रीति से प्रयोग होना चाहिये। एक ही अर्थ के वाचक अनेक शब्द हो सकते हैं; उनमें से किस जगह कौन शब्द अर्थ-चमत्कार को बढ़ाने वाला होगा यह जानना ही काव्य-कौशल है।

शब्द की आत्मा का ज्ञान

पर्यायवाची शब्द समानार्थी होते हुये भी अपनी विशिष्टताओं से युक्त होते हैं जैसे स्त्रीवाचक शब्द नारी कामिनी, वनिता, गृहिणी, महिला, तन्वी आदि में

यदि प्रसंग के अनुरूप भाव व्यक्त करने वाले शब्द का प्रयोग न किया जाय तो भाव सौन्दर्य नष्ट हो जायगा। कवि यदि इन शब्दों के सूक्ष्म भेद को नहीं जानता है तो उसकी कविता में पदगत अनौचित्य-दोष आ जायगा। प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त ने प्रकरण के अनुरूप नारी और अबला शब्दों का निम्नलिखित उद्धरणों में सुन्दर प्रयोग किया है :—

(१) नारी तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत नग-पग-तल में।

(२) अबला-जीवन हाय, तुम्हारी यही कहानी,
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।

शास्त्रीय दृष्टि से तन्वी शब्द का प्रयोग विरह-दुर्बल नायिका के लिये ही होना चाहिये। निराला ने अभिसार के आनन्द से उत्फुल्ल कान्तिमती स्त्री तथा अपनी कुमारी पुत्री के लिये इसका प्रयोग किया है जो अनुचित है :—

ज्योति की तन्वी, तडित द्युति ने क्षमा मांगी। [गीतिका]
बन जन्मसिद्ध गायिका तन्वि ! [सरोज-स्मृति]

पंत को शब्दों की अन्तरात्मा का ज्ञान बहुत अधिक है किन्तु उनमें भी कहीं-कहीं अनुपयुक्त शब्द-चयन दिखलाई पड़ता है। उन्होने बहुधा अनुप्रास-मोह के कारण अनुपयुक्त पर्यायवाची शब्दों का व्यवहार किया है।

अम्बुधि के जल में अथाह छवि
अम्बर में उज्वल आह्लाद। [अनंग, पल्लव]

यहाँ सौन्दर्य की अथाहता व्यक्त करने के लिए अम्बुधि से अधिक उपयुक्त शब्द जलनिधि होता; उसी तरह उज्वल आह्लाद की अभिव्यक्ति के लिये अम्बर शब्द अधिक उपयुक्त नहीं है। किन्तु उसी कविता के प्रथम बन्द में उपयुक्त शब्दों का चुनाव हुआ है।

अहे विश्व-अभिनय के नायक
अखिल सृष्टि के सूत्राधार!
उर-उर की कम्पन में व्यापक
ऐ त्रिभुवन के मनोविकार!
× × ×
मेरे मानस की तरंग में
पुनः अनंग बनो साकार।

यहाँ नायक, सूत्राधार (सूत्रधार), मनोविकार, अनंग, मानस आदि शब्दों का सार्थक और साभिप्राय प्रयोग हुआ है जिससे काव्य-सौन्दर्य बढ़ गया है। ध्वनिवाचक शब्दों का पन्त ने कहीं-कहीं मनमाना प्रयोग भी किया है :—

एकतामय है इसका नाद [पल्लव]
तेरी वीणा की गुंजार [ग्रन्थि]

यहाँ नाद की जगह स्वर का प्रयोग होना चाहिये था और गुंजार की जगह झंकार का, क्योंकि नाद संगीत या योग का शब्द है और गुंजार भौंरे की होती है, वीणा की नहीं।

प्रसाद ने अधिकतर साभिप्राय और व्यंजक शब्दों का प्रयोग किया है:—

ठहर भर आँखो देख नयी, भूमिका अपनी रंगमयी,
अखिल की लघुता आई बन, समय का सुन्दर वातायन
देखने को अदृष्ट नर्तन ! [लहर]

इसमें भूमिका, रंगमयी और अदृष्ट नर्तन का प्रयोग साभिप्राय है, अदृष्ट जो हमसे नाच नचाता है उसको देखने वाला समय के वातायन से देखता है।

चल चक्र वरुण का ज्योतिभरा
व्याकुल तू क्यों देता फेरी ? [कामायनी]

इसमें प्रत्येक शब्द तोल कर रखा गया है, पर्यायवाची शब्द यहाँ काम नहीं दे सकते। चक्र आकाश और पहिया का अर्थ व्यक्त करता है। क्षितिज को चक्रवाल कहते भी हैं। अशक्त कवियों को शब्दों का सूक्ष्म भेद ज्ञात न होने से उनकी कविता में मार्मिकता और चमत्कार नहीं आ पाता:—

दूर देश के अतिथि व्योम में छाये घन काले सजनी !
अंग-अंग पुलकित वसुधा के शीतल हरियाले सजनी !
[रसवंती—दिनकर]

यहाँ छाये की जगह आये होना चाहिये था, तभी दूर देश से आने का बोध होता। दूर देश से आने वाले अतिथि को 'काले घन' कहना ठीक नहीं है। ऐसे बादलों को मेचक मेदुर मेघ कहा है। व्योम शब्द विस्तार नहीं ध्वनि का बोधक है अतः यहाँ गगन शब्द का प्रयोग उचित था। उसी तरह वसुधा की जगह पृथ्वी या धरती का प्रयोग करना अधिक व्यंजक होता। 'हरियाले' का तो प्रयोग ही अशुद्ध है; हरियाली संज्ञा है जिससे हरा विशेषण बनता है, हरियाला नहीं। बाद के छायावादी कवियों में भावुकता और आत्मरति का अतिरेक हो जाने से शब्द-शिल्प का अभाव दिखलाई पड़ता है।

शब्द-भ्रम—

शब्द का समुचित ज्ञान न होने और शब्द की दरिद्रता के कारण छायावाद के अनेक कवियों को शब्द-भ्रम भी हो गया है और उन्होंने जहाँ-तहाँ गलत शब्दों का प्रयोग कर दिया है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं :—

आऊँगा जब तक एक नहीं होकर मिलते संघर्ष-**प्रणय**। [बच्चन]
आज आँख तेरी बिजली से **कौंध-कौंध** जाती है। [दिनकर]
भरी सेज **उमड़ी** फूलों से। [नरेन्द्र]
चबा चल अधर मरोर कमान, रोकती हूँ चंचल मुसकान। [नरेन्द्र]
रत्नाकर का भीषण प्रलाप,
बड़वानल का उत्ताप-ताप। [भगवतीचरण वर्मा]
किन घड़ियों में तुझको **झाँका**
तुझे **झाँकना** पाप हुआ। [माखनलाल चतुर्वेदी]
तुझे मिली **हरियाली** डाली [माखनलाल]
सूखे सुमनों के दल पर मैं-मधु हूँ **संचालन** करती [सुभद्राकुमारी]
नभ के दर्पण में **अंकित** है विमल तुम्हारा ही प्रतिबिम्ब।
[रामकुमार वर्मा]

तुमुल **तम** में जब एकाकार
ऊँघता एक साथ संसार। [पन्त]

उपर्युक्त उद्धरणों में बड़े अक्षरों में छपे शब्दों का प्रयोग या तो शब्दभ्रम के कारण हुआ है या जान बूझकर उन शब्दों में नया अर्थ भरने के लिए। प्रणय केवल दाम्पत्य प्रेम के अर्थ में प्रयुक्त होता है। आँखें कौंधती नहीं, चौंधिया जाती हैं। शय्या उमड़ेगी तो सोने वाला बह जायेगा। ओठों को क्रोध में चबाते हैं, परिहास या लाज में तो दबाते ही हैं। रत्नाकर धनयुक्त होने का अर्थ देता है यहाँ सिन्धु का कोई दूसरा पर्याय उचित होता। देखने के लिए झांकना शब्द अर्थ-संकोच उत्पन्न करता है। मधु का संचार होता है, संचालन नहीं। प्रतिबिम्ब तो केवल केमरा में अंकित होता है, दर्पण में वह बिम्बित होता है। तम तुमुल नहीं, निविड़ या गहन होता है। तुमुल विशेषण ध्वनिवाचक शब्दों के साथ ही आता है।

विशेषणों के प्रयोग द्वारा भी छायावादी कवियों ने काव्य-सौन्दर्य में वृद्धि की है। अलंकार वाले अध्याय में विशेषण-विपर्यय अलंकार की चर्चा हो चुकी है। पन्त द्वारा प्रयुक्त 'नील झंकार' में नील विशेषण से नीले आकाश का बोध होता है, अतः यहाँ आकाश के शब्द और रंग दोनों गुणों को सुन्दर ढंग से एक में मिला दिया गया है। परिकर अलंकार में साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग होता है, उसकी चर्चा पहले हो चुकी है। 'कामरूप नभचर' में कामरूप बादलों का सुन्दर और साभिप्राय विशेषण है। निराला साभिप्राय विशेषणों के प्रयोग में अत्यन्त कुशल हैं। प्रसाद और महादेवी ने भी विशेषणों के प्रयोग में

पर्याप्त कौशल दिखलाया है। विशेषणों में कहीं-कहीं सुन्दर लाक्षणिक प्रयोग भी हुआ है।

निराला—चण्ड दिवाकर, ज्योतिर्मयी लता, अपलक तप, स्निग्ध आलोक, शिथिल तंत्री, सोई तान आदि।

पन्त—नील झंकार, कामरूप नभचर, पीन पुकार। रेशमी वायु, ऐंचीला भ्रू, ज्योतिर्मय जीवन, नीली चुप्पी, मधुर रोर, निराकार तम, चमत्कृत चित्र, मनोरम मित्र, विकृत भूत, उज्वल आह्लाद, सुरीले अधर, कनक छाया, विचक बचपन, लचका गान आदि।

प्रसाद—मदकल मलय, अनन्त नीलिमा, किशोर सुन्दरता, उज्वल वरदान, सुरभित लहर, नीली किरणें, बीहड़ बेला, आलोकमधुर शोभा, सुप्तव्यथा, अलबेली बाहुलता, शीतल ज्वाला, शिथिल सुरभि, सजल संसृति, नील आवरण, ढीली साँस, मादन कम्पन आदि।

महादेवी—पुलकित स्वप्न, उन्मन निद्रा, हिम अधर, नीरव उच्छ्वास, अरुणगान, शापमय वर, निर्मम दर्पण, दीवानी चोट, सोने के सपने, बुझते प्राण, गाढ़ा विषाद, शीतल चुम्बन आदि।

दिनकर—अपरूप विभूति, भीगी तान, ओदी आँच, उद्दाम किरण, उबलता मन, शीतल तम, चकित पुकार, तृषित व्यथा, सगुण कल्पना, हरित स्रोत, कच्ची धूप, तेजवन्त धनुवाण, आदि।

बच्चन—मदिराभ अधर, कमनीय कमर, मादक दर्शन, तरल उन्माद, झिलमिल झाँकी, सिन्दूरी साड़ी, मानिक मदिरा, मंत्रित अंजन आदि।

इन विशेषणों के सुन्दर और चमत्कारपूर्ण होने का कारण यह है कि वे कहीं साभिप्राय हैं, कहीं उनमें विरोध का चमत्कार है और कहीं लाक्षणिकता है। इससे भाषा व्यञ्जक और चित्रमयी बन गई है। बाद के कवियों ने सरल सुबोध और बोलचाल की भाषा अधिक अपनायी, अतः उन्होंने ऐसे विशेषणों की योजना की तरफ अधिक ध्यान नहीं दिया। किन्तु कहीं कहीं छायावादी कविता में भी अतिसाधारण अथवा अनुपयुक्त विशेषणों का प्रयोग हुआ है। तुमुल तम, हरियाली डाली में तुमुल और हरियाली अनुपयुक्त और अशुद्ध विशेषण हैं। कुछ अन्य उदाहरण दिये जा रहे हैं।

(१) सूखे मरु में मा शिक्षा का
स्रोत छिपा..........। [वीणा—पंत]

(२) दुख पहुंचेगा उन्हें **अगार** [,, ,,]

(३) उन पद पद्मों का **प्रभ** रजकण [बच्चन]

(४)	पद्चाप **शीघ्र** पदराग **तीव्र**	[बच्चन]
(५)	कालानिल की **कुञ्चित** गति से	[पन्त]
(६)	**मृन्मरण** बाँध दो...	,,
(७)	लोटता **राशि-राशि** हिम हास	,,
(८)	**चिर** दिवस, **चिर** अनादि	[बच्चन]
(९)	बिन्दुओं की **छनती** छनकार	[पन्त]
(१०)	प्रिये **लालस** सालस वातास	[पन्त]

शब्द-अपव्यय और पुनरुक्ति

कविता में शब्दों का अपव्यय भी नहीं होना चाहिये। थोड़े शब्दों में अधिक अर्थ भर देने से काव्य-सौन्दर्य तो बढ़ता ही है, शब्दों का अपव्यय भी नहीं होता। शब्द-शिल्प के ज्ञाता कवि इसी कारण शब्दों के व्यवहार में बहुत सतर्क रहते हैं और इस बात का हमेशा ध्यान रखते हैं कि कहीं पादपूर्ति के लिये अनावश्यक शब्दों का प्रयोग न हो जाय अथवा एक ही अर्थ के वाचक कई शब्दों का प्रयोग या एक ही शब्द की पुनरुक्ति न हो जाय। छायावाद के कुछ कवि जैसे निराला, प्रसाद, महादेवी इस ओर विशेष सचेष्ट रहे हैं किन्तु अन्य कवियों में इस सतर्कता की कमी दिखलाई पड़ती है। पुनरुक्ति-दोष के कारण भाषा के गठन और भावों के सौष्ठव में बाधा उपस्थित हो जाती है। अनावश्यक और भरती के शब्दों के कारण भी यही होता है। पूर्ववर्त्ती छायावादी कवियों का ध्यान इस ओर अधिक था। इसीलिये पल्लव की भूमिका में पन्त ने लिखा है:—
"खड़ी बोली की कविता में क्रियाओं और विशेषतः संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग कुशलतापूर्वक करना चाहिये नहीं तो कविता का स्वर (expression शिथिल पड़ जाता है ; और खड़ी बोली की कविता में यह दोष सबसे अधिक मात्रा में विराजमान है। 'है' को तो जहाँ तक हो सके निकाल देना चाहिये। इसका प्रयोग प्रायः व्यर्थ होता है........समासों का भी अधिक प्रयोग अच्छा नहीं लगता, समास का काम तो व्यर्थ बढ़कर इधर उधर बिखरी तथा फैली हुई शब्दों की टहनियों को काट-छाँटकर उन्हें सुन्दर आकार-प्रकार देने तथा उनकी माँसल हरीतिमा में छिपे हुये भावों के पुष्पों को व्यक्त भर कर देने का है। समास की कैंची अधिक चलाने से कविता को डाली ठूँठी तथा श्रीहीन हो जाती है।"

पन्त ने कविता की भाषा को बदलने के लिये जितनी दलीलें दी हैं वे सभी मान्य नहीं हुई किन्तु इससे भाषा सम्बन्धी स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति अवश्य बढ़ी। भाषा की गठन और सुन्दर शब्दों के चयन की ओर अधिक ध्यान देते हुये भी

पन्त ने स्वयं कहीं-कहीं उभली हुई, असंगठित और अनावश्यक शब्दावली का प्रयोग किया है :—

मेरा पावस ऋतु सा जीवन
मानस-सा उमड़ा अपार मन
गहरे धुंधले धुले सांवले
मेघों से मेरे भरे नयन
कभी उर में अगणित मृदुभाव
कूजते हैं विहगों से हाय।
अरुण कलियों से कोमल घाव
कभी खुल पड़ते हैं असहाय [आँसू – पन्त]

इसमें ऋतु सा, अपार, गहरे, भरे, हाय और असहाय का प्रयोग अनावश्यक रूप से हुआ है। इन शब्दों के बिना भी काव्यवस्तु की पूर्ण अभिव्यक्ति हो जाती और सम्भवतः अधिक सौन्दर्यपूर्ण होती। इनमें से कुछ शब्द पादपूर्त्ति के लिये और कुछ तुक-मोह के कारण प्रयुक्त हुये हैं। अपने सिद्धान्त के विरुद्ध कवि 'हैं' का प्रयोग भी अनावश्यक रूप से ही किया है। निराला और प्रसाद की कविता में भाषा सम्बन्धी यह शिथिलता कम दिखलाई पड़ती है। उदाहरणार्थ 'निराला' की एक कविता देखिये :—

सहज सहज पग धर आओ उतर ;
देखें, वे सभी तुम्हें पथ पर।
वह जो सिर बोझ लिये आ रहा
वह जो बछड़े को नहला रहा
वह जो इस-उस से बतला रहा
देखूँ, वे तुम्हें देख जाते भी हैं ठहर !

[सहज—'अनामिका']

इस कविता में शब्द का अपव्यय बिलकुल नहीं हुआ। भाषा साफ और शब्द जड़े हुये हैं। 'है' का अनावश्यक प्रयोग नहीं हुआ है। एक भी शब्द निकाल देने से भाव-श्रृंखला टूट जायगी। यह कविता बताती है कि भाषा कवि की वशवर्तिनी है। अशक्त कवियों के हाथ में पड़कर भाषा की दुर्दशा हो जाती है। अनावश्यक शब्दों के साथ ही साथ उनकी भाषा में पुनरुक्तिदोष, ग्राम्य प्रयोग और शब्दों के तोड़मोड़ की प्रवृत्ति भी दिखलाई पड़ती है।

पुनरुक्ति— (१) युग युग अजेय निर्बन्ध मुक्त

युग युग गर्वोनत नित महान [हुंकार—दिनकर]

(२) हृदय की पगडंडियों की राह की [माखनलाल चतुर्वेदी]

(३) बड़वानल का उत्ताप ताप [भगवतीचरण वर्मा]

(४) प्रमुदित मोदित मधु-मय हो [वीणा—पन्त]

(५) अम्बर-पट भीगा होता [प्रसाद]

(६) इन नयनों का अश्रु-नीर [महादेवी]

(७) पहन गेरुये रंगे वसन [पन्त]

(८) सुरा पी, मद पी, कर मधुपान
रही बुल-बुल डालों पर बोल । [बच्चन]

(९) पाषाण-शिलाओं से टकरा [नरेन्द्र]

ग्राम्य या प्रान्तिक प्रयोग—

पुनरुक्ति-दोष के समान अलंकारशास्त्र में ग्राम्य प्रयोग भी एक दोष माना गया है किन्तु आजकल भाषा की प्रवृत्ति पांडित्य प्रदर्शन छोड़कर बोलचाल के तथा एकदेशीय शब्दों को ग्रहण करने की ओर है क्योंकि इससे भाषा की व्यञ्जकता बढ़ती है। अत: ऐसे शब्द तभी अग्राह्य होते हैं जब कि काव्य भाषा में वे खप नहीं पाते अथवा दूसरे प्रान्तों के लिये वे बोधगम्य नहीं होते। कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं।

(१) क्या पलकों पर विचरे ही गी यौवन-धूम ।
(विचरेगी ही) [निराला]

(२) इस गुमरते दर्द की यह टीस (घुमड़ते) [दिनकर]

(३) ओदी आँच ; धुनी विरहिनि की (गीली) [दिनकर]

(४) पूजेगी आज आस (पूरी होगी) [दिनकर]

(५) रन वन में (अरण्य) [दिनकर]

(६) नवल कलियों के धोरे झूम [पन्त]

(७) जब लीला से तुम सीख रहे कोरक कोनों में लुक रहना ।
(छिप)—[प्रसाद]

(८) भ्रू युगल झटका चुकी है । [पन्त]

(९) पलकें 'जोग' रहीं (रक्षा करना) [दिनकर]

शब्द-निर्माण और शब्द-संग्रह—

छायावादी कवियों ने खड़ी बोली के रुखरापन को दूर करने और उसमें अधिक शक्ति लाने के लिए संस्कृत के तत्सम अथवा हिन्दी के प्रचलित शब्दों के आधार पर नये शब्द भी गढ़े हैं और परम्परागत व्रजभाषा, अवधी या भोजपुरी के शब्दों को भी अपनाया है। इन्होंने दो कारणों से ऐसा किया है; १—शब्दों को कुछ बदल कर उनमें नयी अर्थ-शक्ति भरने के लिये और २—अपनी व्यक्तिगत रुचि के कारण। अधिकतर उन्हें अपने प्रयोगों में सफलता मिली है और वे भाषा में लालित्य, चमत्कार और नवीनता ला सके हैं, पर कहीं-कहीं ये प्रयोग हिन्दी के प्रकृत प्रवाह के विरुद्ध जा पड़े हैं। यह अवश्य है कि शब्दों की टाँग तोड़ने में व्रजभाषा या अवधी के कवियों की सीमा तक वे नहीं गये हैं। कुछ ऐसे शब्द नीचे दिये जा रहे हैं:—

बिगाड़े शब्द—भों, भोंह (भौंह), पियाला (प्याला) नागन (नागिन) सेंदुर (सिन्दूर), निर्माऊँ (निमित करूँ,) प्रकटाऊँ, धनुषी (धनुष), मग्न (मगन)।

निरंकुशता (व्याकरण-दोष) प्रिऽह्लाद (प्रिया-आह्लाद या प्रियाह्लाद), निर्जीवित (निर्जीव), प्रभापूर्य प्रभापूर्ण), तमस्तूर्य (तम की तुरहीवाला), खैंच (खींच), ऐंचीला (ऐंचा), सोभार (सभार), कटिनी (कटि), प्ररिप्रोत, विहगिनी (विहगी), मिचौनी (आँख मिचौनी), मरुदाकाश (मरुताकाश), बे-आप आदि।

परंपरागत तथा जनता के शब्द—वितरता, सेवते, हौले-हौले, चहुँदिशि, नित, भौंर, ढिंग, हुलास, राजती, सुहलाना, गहे, रैन, मावस, बालम, निदारे (निद्रालु), पर्य्यौं, जगरमगर सुहाता, दुरता, दुराव, पात, चहुँओर, रुपीरार आदि।

कहा जा चुका है कि भाषा सफल कवि की वशवार्तिनी होती है और शब्द उसके अनुचर। किन्तु जब शब्द ही कवि के ऊपर शासन करने लगते हैं तो कवि अशक्त स्वामी बन जाता है। शब्द-मोह के कारण कवि वाग्जाल में उलझ जाते हैं। कुछ शब्दों के प्रति कुछ कवियों की आसक्ति इतनी अधिक हो जाती है कि अनजाने ही वे उनकी कविता में अनावश्यक रूप से आ जाते हैं। छायावादी

शब्द-मोह

कविता में अनेक शब्दों को नया अर्थ दिया गया और अनेक नये कोमलकान्त पदों का आविष्कार किया गया किन्तु उनके प्रति आसक्ति के कारण कवियो ने उनका इतना अधिक प्रयोग किया कि वे रूढ़ होकर सौन्दर्य और चमत्कार से हीन होने लगे। बाल का अर्थ बच्चा होता है किन्तु पन्त ने इसका कोमल या छोटे के अर्थ में प्रयोग किया। बाद में हर जगह उसका प्रयोग होने लगा। उसी तरह हाय, आः, रे, चिर, नव, स्वर्ण, मधु, सुभग, हृत्तंत्री, तार, मलय, उस पार, मधुर, मर्मर, गुंजन, नीरव आदि शब्दों का प्रयोग भी अत्यधिक हुआ है। यहाँ कुछ शब्दों के उदाहरण दिये जा रहे हैं:—

(१) रे—'बेधते मर्म बार रे बार।' 'आज बौरे रे तरुण रसाल।'
'हिला रे गयी पात सा गात।' [पन्त]
'रे कुछ न हुआ तो क्या?' 'कौन तम के पार रे कह?' [निराला]
प्राण पिक प्रिय नाम रे कह। [महादेवी]
तुम कौन प्राण के सर मे री? [दिनकर]

(२) चिर—मूक-चिर, चिर नव, चिर अनजान, चिर दिवस, चिर आकांक्षा, चिर अव्यय, चिर जन्म-मरण, चिर सजल, चिर सजग, चिर उद्वेलित।

(३) बाल—मेघों के बाल (छोटे बादल), मधुबाल (भौंरा), विहग बाल (छोटे विहग) पिक बाल (मीठी बोली वाला पिक) किरण बाल (फूल)

(४) सुभग—सुभग स्वाति, सुभग सीप, चिर सुभग, सुभगे।

(५) स्वर्ण—स्वर्ण मरन्द, स्वर्णिम प्रात, स्वर्णोदय, स्वर्ण सुहाग, स्वर्ण बिहार, स्वर्ण छवि, स्वर्ण रेख, स्वर्णाभ, स्वर्ण धूलि।

(६) मधु—मधु वात, मधु स्वप्न, मधु प्रात, मधु बाल, मधु प्यास, मधु कलश, मधु बन, मधुतार, मधुमय, मधुमाया, मधु यामिनी, रूप-मधु, मधुराका, मधु (सुरा), मधुवाला, मधुशाला।

(७) नव—नव असाढ़, नव पुष्प, अमृतमंत्र नव, नव गति, नव लय, ताल छन्द नव, नव रव, नव नभ, नव विहग, नव पर, नव स्वर, नव नवोन्मेष आदि।

छायावादी कवियों में पन्त का शब्द-मोह इतना तीव्र है कि उनके प्रिय शब्दों के कारण ही उनकी कविता में एकरसता का दोष आ जाता है। महादेवी की भी समान शब्दों की अधिक आवृत्ति की प्रवृत्ति है जिससे उनकी कविता अत्यधिक एकरस है। बच्चन तथा उनके समकालीन अन्य कवियों की शब्दावली भिन्न है पर उसकी भी आवृत्ति बहुत अधिक हुई है। यह शब्द-मोह इतना

बढ़ गया था कि छायावाद के बाद की कविता में प्रयत्न पूर्वक उन शब्दों का वहिष्कार किया गया ताकि छायावादी शैली से मुक्ति मिले। छायावादी कविता में शब्द- वैविध्य कम होने से ही ऐसा हुआ।

छायावादी कविता में कोमलकान्त पदावली की अधिकता बहुत कुछ उपर्युक्त शब्द-मोह के कारण ही है। कोमल आत्मगत भावों के लिये ऐसी पदावली आवश्यक भी है, किन्तु कहीं-कहीं ऐसे शब्द मनोनुकुल भावों के लिए घातक हो जाते हैं इसीलिए कवि को शब्दों को अपना सेवक बना कर उचित अवसर पर ही उनसे काम लेना चाहिए। शब्दों के औचित्यपूर्ण योग से ही शब्द-संगीत की उत्पत्ति होती है। शब्द-संगीत में भी वैविध्य की आवश्यकता होती है; एक ही प्रकार के शब्द-संगीत से पाठकों को अरुचि हो जाती है जैसे एक ही राग की अधिक आवृत्ति से श्रोताओं को ऊब होने लगती है। इसलिए भाषा में लालित्य के साथ पौरुष का होना भी आवश्यक है। शब्दों के सम्बन्ध में पन्त ने लिखा है :—

शब्दलालित्य और शब्द-संगीत

"जिस प्रकार समग्र पदार्थ एक दूसरे पर अवलम्बित हैं, ऋणानुबन्ध हैं, उसीप्रकार शब्द भी; इनका आपस का सम्बन्ध, सहानुभूति, अनुराग-विराग जान लेना, ...इनकी पारस्परिक प्रीति-मैत्री, शत्रुता तथा वैमनस्य का पता लगा लेना क्या आसान है? प्रत्येक शब्द एक कविता है; लक्ष और माल द्वीप की तरह कविता भी अपने बनाने वाले शब्दों की कविता को खा खाकर बनती है।" [पल्लव की भूमिका—पृष्ठ १८]

पन्तजी का तात्पर्य यह है कि भाषा के संगीत में प्रत्येक शब्द को अपना संगीत मिला देना चाहिए जैसे साज (आर्केस्ट्रा) में प्रत्येक वाद्य अपना योग दान करता है। जहाँ वाक्य के संगीत-प्रवाह से शब्द का संगीत अलग जा पड़ता है वहाँ वह शब्द अनमेल या बाधक प्रतीत होता है। पन्त और निराला ने शब्द-संगीत की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया है किन्तु इन्हीं कवियों में कहीं-कहीं शब्द-मैत्री का अभाव भी दीखता है:—

वितरती गृह-वन मलय समीर साँस, सुधि, स्वप्न, सुरभि सुख, गान,
मार केशर-शर मलय समीर हृदय हुलसित कर पुलकित प्रान।

[गुंजन—पन्त]

इसमें पहली पंक्ति की शब्द-योजना भावानुरूप है किन्तु दूसरी पंक्ति में फिर 'मलय समीर' के अनावश्यक प्रयोग और ग्राम्य शक हुलास से हुलसित शब्द गढ़ कर प्रयोग करने से शब्द-संगीत बाधित हो जाता है।

डोलने लगी मधुर मधु वात, हिला तृण, व्रतति, कुंज, तरु-पात !

[गुंजन]

इसमें भी 'मधुर' जैसे मधुर किन्तु अनावश्यक तथा तृण और व्रतति (लता) जैसे परुष वर्ण वाले अनुपयुक्त शब्दों के प्रयोग से शब्द-संगीत नष्ट हो गया है। संस्कृत के तत्सम शब्दों के बीच में अकेले-दुकेले उर्दू या देशज शब्दों का प्रयोग भी संगीत को बिगाड़ देता है। उसी तरह सामान्य बोलचाल की सरल भाषा में कहीं-कहीं तत्सम शब्दों का मेल नहीं बैठता। विशुद्ध तत्सम शब्दों वाली या विशुद्ध उर्दू शब्दों वाली भाषा भी हिन्दी कविता के लिए अनुपयुक्त है। ऊपर की पंक्ति में डोलने, हिला और पात का साथ के अन्य शब्दों से विजातीय सम्बन्ध सा प्रतीत होता है।

राक्षस विरुद्ध प्रत्यूह,—क्रुद्ध-कपि-विषम-हूह।

[निराला]

यहाँ समस्त तत्सम पदों के साथ 'हूह' जैसे कवि की हँसी उड़ा रहा है। समासयुक्त शब्दावली के अधिक प्रयोग से भी शब्द-संगीत नष्ट होता है:—

विच्छुरित वह्नि राजीव-नयन-हत-लक्ष्यवाण,
लोहित-लोचन-रावण-मद मोचन महीयान।

[निराला]

एक तो तितलौकी, दूसरे नीम चढ़ी। एक तो हिन्दी संस्कृत के क्लिष्ट शब्द, दूसरे उनका समास। विभक्तियों के लोप से अर्थ समझने में पाठकों को कितनी किठिनाई होगी, इसका ध्यान कवि ने नहीं रखा। विभक्तियों के रहने से कम से कम भाषा तो हिन्दी मालूम पड़ती है :-

भारत के नभ का प्रभापूर्य
शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे, तमस्तूर्य दिङ्मण्डल !

यहाँ के, का और आज से भाषा हिन्दी प्रतीत होती है। जहाँ संस्कृत के ऐसे अप्रचलित शब्दोंका प्रयोग हुआ है वहाँ हिन्दी पाठकों को संस्कृत के शब्द-कोश की जरूरत पड़ जाती है जैसे:—प्रस्रवण, प्रेक्षण, स्वस्त्ययन, पृथु, घूर्ण्य, क्षर, व्रतति, प्रतति, प्रियंगु, स्फार, वीक्षण, अराल, निश्चलत्प्राण, वंधुर, प्रमन, वशंवद आदि संस्कृत के शब्दों के अतिरिक्त छायावादी कवियों ने कहीं-कहीं बँगला और उर्दू के शब्दों को भी ग्रहण किया है। पन्त तथा निराला ने बँगला के 'सकाल' (सबेरा-सकारे) का व्यवहार कई जगह किया है। उर्दू के शब्दों को तद्भव बना कर प्रयोग करने की प्रवृत्ति बुरी नहीं है जैसे सब्ज, खबर, जिन्दाबाद, गरूर, साकी आदि। रवानी, रूह,

तमन्ना, खामोश, अरमान, मेहनत, तकदीर, शरम-हया जैसे प्रचलित शब्द भी लिये गये हैं जो उचित हैं। पर जहाँ सुरूर, गुलचीं, सैयाद, कफस जैसे हिन्दी के लिए अपरिचित शब्दों का प्रयोग हिन्दी शब्दों के साथ-साथ होता है वहाँ शब्द-संगीत नष्ट हो जाता है। उदाहरणार्थ :-

सूझता आगे न कोई पन्थ है, है घनी गफलत-घटा छाई हुई;
नौजवानों कौम के तुम हो कहाँ, नाश की देखो घड़ी आई हुई।

[दिनकर]

ध्वन्यात्मक शब्दों से भाषा का लालित्य तो बढ़ता ही है, भावों की प्रेषणीयता में भी बहुत अधिक सहायता मिलती है।

१—झींगुरों की झीनी झनकार
घनों की गुरु गम्भीर घहर!
बिन्दुओं की छनती छनकार,
दादुरों के वे दुहरे स्वर! [पन्त]

२—छपी सी, पी सी, मृदु मुसकान? [पन्त]

पहले में शब्दों से ही झींगुर, घन, बिन्दु और दादुर की बोलियों की ध्वनि निकल रही है। दूसरे में हँसी की कोमलता शब्दों में जैसे फैल कर बिम्बित हो रही है। ऐसे जीवन्त शब्दों से कविता में जान आ जाती है। पन्त, निराला, प्रसाद और महादेवी ने बहुधा शब्दों को परख कर उनका प्रयोग किया है। अन्य छायावादी कवियों में शब्द-शिल्प का ज्ञान अधिक नहीं दिखलाई पड़ता।

वाक्य-विन्यास और भाषा-शैली

इस अध्याय के प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि भाषा की अपनी लय होती है जो युग-जीवन की लय के मेल में होती है। भाषा की यह लय मुख्यतया वाक्य में ही दिखलाई पड़ती है, वर्ण और शब्द तो वाक्य के सहायक मात्र हैं। वस्तुतः भाषा में प्रधान वस्तु वाक्य-विन्यास ही है और उसी से भाषा की जाति तथा शैली का पता चलता है। आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति से युक्त पद-समूह को वाक्य कहते हैं *। योग्यता का अर्थ है शब्दों के परस्पर सम्बन्ध में किसी प्रकार की अड़चन का न होना। आकांक्षा का अर्थ है वाक्यार्थ की अपूर्णता। शब्दों की आकांक्षा पूर्ण होने पर ही वाक्य पूरा होता

---

* वाक्यं स्याद्योग्यताकांक्षासत्तियुक्त पदोच्चयः।

[साहित्यदर्पण—दूसरा परिच्छेद—१]

है। आसत्ति शब्दों के बीच का सम्बन्ध-ज्ञान है। 'आग से बाग को सींचो', यह वाक्य नहीं होगा, क्योंकि इसमें योग्यता का अभाव है। 'मोहन ने राम को' अपूर्ण वाक्य है, 'मारा' कहने से आकांक्षा पूरी होगी और वाक्य पूरा होगा। वाक्य में सम्बन्धित शब्दों के बीच में उच्चारण स्थान या काल का व्यवधान आ जाने से आसत्ति का अभाव हो जाता है; जैसे कापी के एक पन्ने में 'राम' और दूसरे में 'जाता है' लिखा जाय और बीच में अन्य शब्द हों तो यह वाक्य न होगा। वाक्य विन्यास में इन तीनों का समान हाथ रहता है। जहाँ किसी एक का भी अभाव होता है वहाँ वाक्य सदोष या अधूरे हो जाते हैं। भाषा की लय का तात्पर्य यही है कि उसमें पर्याप्त प्रेषणीयता हो अर्थात वाक्यों को समझने और अर्थ को भली भाँति हृदयंगम करने में सुनने या पढ़ने वाले को कोई कठिनाई न हो। भाषा की विभिन्न शैलियों पर विचार करते समय वाक्य-गठन सम्बन्धी इस सिद्धान्त को ध्यान में रखना आवश्यक है।

यह सत्य है कि छायावादी कवियों ने हिन्दी कविता को एक नयी भाषा और इसके भीतर नयी शैलियों को जन्म दिया, किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि उनकी भाषा सामान्य जनता की भाषा से दूर हो गयी। छायावाद-युग के प्रथम दशक की भाषा बहुत कुछ उच्चमध्यवर्ग के शिष्ट जनों की साहित्यिक भाषा (Gorgan) है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह खड़ी बोली से भिन्न कोई दूसरी भाषा है *। शिष्ट-भाषा कहने का अर्थ इतना ही है कि वह किसान-

---

*" But people, the various social groups, the classes, are far from being indifferent to language. They strive to utilise the language in their own interest, to impose their own vocabulary, special terms, special expressions upon it. The upper strata of the propertied classes, who have divorced themselves from and detest the people–the aristocratic nobility, the upper strata of the bourgeoisie particularly distinguish themselves in this respect. "Class" dialects, jargons, high society "languages" are created. These dialects and jargons are often incorrectly referred to in literatune as languages."

[I. V. Stalin—Marxism In Linguistics—Page 9]

मजदूर या निम्नमध्यवर्ग के कम पढ़े-लिखे लोगों के लिए अधिक बोधगम्य नहीं है। वह स्वाभाविक ढंग से विकसित भाषा नहीं है। यों तो सभी अच्छी कविताओं की भाषा बोलचाल की भाषा से उत्कृष्ट होती है पर वह हमेशा जन सामान्य के लिए अबूझ नहीं होती। उत्कृष्टता और अबोध्यता दो चीजें हैं। छायावादी कविता की भाषा का गुण यह है कि वह उत्कृष्ट है और दोष यह है कि जन सामान्य की भाषा से दूर और उसके लिए अबोध्य है। द्विवेदी-युग की भाषा में यह दोष नहीं था पर शैली सम्बन्धी दोषों के कारण वह ग्राह्य नहीं हुई। बाद में चलकर बच्चन, दिनकर, नेपाली और निराला ने भाषा की उत्कृष्टता को बहुत कुछ सुरक्षित रखते हुए उसे जनता के निकट लाने का प्रयत्न किया।

काव्य-भाषा की उत्कृष्टता उसकी शैली में दिखलाई पड़ती है। भाषा-शैली का तत्सम, तद्भव, देशज या विदेशी शब्दों के ग्रहण या त्याग से उतना सम्बन्ध नहीं है जितना वाक्य-विन्यास के ढंग और कथन की भंगिमा से है। इस दृष्टि से छायावादी कविता में इतनी शैलियाँ दिखलाई पड़ती हैं :—

१—गूढ़ या सांकेतिक शैली, (२) गुम्फित या क्लिष्ट शैली, (३) अलंकृत शैली, (४) सरल शैली।

सांकेतिक शैली—

छायावाद-युग के प्रथम दशक में इसी शैली की प्रधानता थी। दूसरे दशक में यद्यपि निराला और पन्त ने अपनी भाषा में अन्य शैलियों का प्रयोग किया पर प्रसाद और महादेवी की कविता में यही शैली पूर्ववत बनी रही। पर अन्य कवियों ने दूसरी शैलियों का सहारा लिया। इस शैली में भाषा बहुत कुछ चित्रात्मक और सांकेतिक होती है। चित्रात्मकता के लिए अप्रस्तुत-विधान में कल्पना की अधिक आवश्यकता होती है। उसी तरह सांकेतिकता के लिए शब्द-शक्तियों का सहारा लेना पड़ता है। दूरारूढ़ या क्लिष्ट कल्पना के कारण भाषा अव्यावहारिक हो जाती है। पर सामान्यतः कल्पनाशक्ति की सहायता बिना भाषा उत्कृष्ट नहीं हो सकती। चित्रात्मकता और सांकेतिकता के कारण ही इस युग की भाषा उत्कृष्ट हो सकी। सांकेतिकता में प्रतीक-योजना, लाक्षणिकता, व्यंजकता और ध्वनि सभी आ जाते हैं। प्रतीकों को उपमान या अप्रस्तुत भी कहा जा सकता है। ये दो प्रकार के होते हैं। परम्परागत और नवीन। पुराने उपमानों जैसे चन्द्र, कमल, कोयल, आदि पुराने प्रतीक हैं पर इस युग में अधिकतर नये प्रतीकों का विधान किया गया। छायावादी कवियों ने प्रतीकों का विधान प्रभाव-साम्य की दृष्टि से किया, रूप या गुण-साम्य की दृष्टि से नहीं। इससे भाषा तो

चित्रात्मक होती ही है, भावों में भी मार्मिकता और नवीनता मालूम पड़ने लगती है। प्रतीक कहीं तो रूपकातिशयोक्ति या समासोक्ति अलंकार के रूप में आते हैं और कहीं लक्षणा-व्यंजना के रूप में। अलंकारों की चर्चा पहले हो चुकी है। लक्षणा-व्यंजना के सम्बन्ध में अगले अध्याय में विचार किया जायगा। इन प्रयोगों के कारण ही छायावादी कविता की भाषा बहुधा सांकेतिक या गूढ़ हो गयी है। चूँकि इस शैली में बात अभिधा की तरह सीधे-सीधे नहीं कही जाती, अतः साधारणतया यह उन्हीं के लिए बोधगम्य होती है जो इसकी पद्धति से पहले से परिचित रहते हैं। इसी से इसे शिष्टों की भाषा (jargon कहा जा सकता है। वाक्यों के वाच्यार्थ का बोध होने पर लक्षणा-व्यंजना से अर्थ निकलता है। इस शैली का एक उदाहरण देखिये जिसमें अधिकांश शब्द सांकेतिक या प्रतीकात्मक हैं :—

> तू धूल भरा ही आया !
> साधों ने पथ के कण मदिरा से सींचे,
> झंझा-आँधी ने फिर-फिर आ दृग मींचे !
> आलोक-तिमिर ने क्षण का कुहक बिछाया ! [महादेवी]

गुम्फित शैली—

इसमें अधिकतर गुम्फित वाक्यों का प्रयोग होता है अर्थात् एक ही वाक्य के भीतर कई वाक्य समाये रहते हैं। ऐसे वाक्यों में बहुधा मुख्य कथन तक पहुँचने में कष्टत्व की प्रतीति होती है अथवा ध्यान उसकी ओर से हट कर दूसरी बातों की ओर चला जाता है। काव्य के लिए यह शैली कष्टसाध्य और अनुपयुक्त है। छायावादी कविता में बहुधा ऐसी भाषा के भी दर्शन हो जाते हैं। 'कामायनी', 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति पूजा' में यह शैली दिखलाई पड़ती है। इस शैली में समस्त पदों और तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक होता है। कामायनी के लज्जा सर्ग में "अम्बर चुम्बी हिमशृंगों से" प्रारम्भ होकर बाद के ११ पदों या ४४ पंक्तियों तक का एक वाक्य चलता है। 'राम की शक्ति पूजा' की शुरू की १८ पंक्तियों में एक ही वाक्य है। उसी कविता से दूसरे स्थल का एक वाक्य दिया जा रहा है।

> ऐसे क्षण अन्धकार घन में जैसे विद्युत
> जागी पृथ्वी-तनया—कुमारिका—छवि, अच्युत
> देखते हुए निष्पलक, याद आया उपवन
> विदेह का—प्रथम स्नेह का लतान्तराल-मिलन

नयनों का—नयनों से गोपन–प्रिय सम्भाषण
पलकों से नव पलकों पर प्रथमोत्थान–पतन—
काँपते हुए किसलय ·········आदि— [निराला]

अलंकृत शैली—

यह शैली अलंकारबहुला भाषा में होती है। छायावादी कविता में अलंकारों की कमी नहीं है पर वे इतने प्रबल नहीं हैं कि भावों के ऊपर छा जाँय। फिर भी कहीं-कहीं अलंकारों की अधिकता खटक जाती है जैसे प्रसाद के 'आँसू' और पन्त की 'छाया' में। अलंकार-विधान वाले अध्याय में इस विषय पर विस्तृत विवेचन किया जा चुका है; अतः यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त है कि छायावाद-युग के प्रथम दशक में अलंकृत भाषा अधिक मिलती है और दूसरे दशक में बहुत कम।

सरल शैली—

छोटे वाक्यों और प्रसाद गुण से युक्त भाषा को सरल शैली की भाषा कह सकते हैं। सरलता के साथ रसात्मकता का योग होने पर ही काव्य भाषा उत्कृष्ट बन सकती है। निराला, बच्चन, दिनकर, नेपाली और नरेन्द्र में यह शैली मिलती है। इस शैली के भी कई भेद किये जा सकते हैं जैसे अभिधा-प्रधान, उक्ति-प्रधान, व्यासात्मक, भाषणात्मक या उपदेशात्मक। अभिधा प्रधान शैली में साधारण ढंग से नीरस या रसात्मक वाक्यो की योजना होती है। 'भारत-भारती' और 'निशा-निमंत्रण' की भाषा इसका उदाहरण हैं! उक्ति-प्रधान शैली में चुभते हुए वाक्यों या मुहावरों की योजना की जाती है। बच्चन और दिनकर की भाषा सरल और कहीं-कहीं उक्ति प्रधान दिखलाई पड़ती है। भाषा की जान मुहावरे ही हैं। वस्तुत: वे समूची जाति की देन है और उनमें से होकर जातीय जीवन प्रवाहित होता रहता है। अतः उनके प्रयोग से भाषा में जीवन्तता और ताजगी आती है। छायावादी कवियों ने जो भाषा विकसित की उसमें जातीय जीवन का योग कम था, यह इसी से स्पष्ट है कि उनमें मुहावरों, लोकोक्तियों और जनता के शब्दों की कमी है। जन-संस्कृति के निकट सम्पर्क में रहने वाले कवि ही चुटीली, व्यंग्यात्मक, मुहावरेदार भाषा का प्रयोग कर सकते हैं। निराला में यह शैली शुरू से ही थी, बाद में उन्होंने इसका अधिक प्रयोग किया। प्रसाद ने भी कहीं-कहीं मुहावरों का प्रयोग किया है। सरल और मुहावरेदार भाषा के कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं:—

प्रसाद—**लाल पीला होता था** ·दिगन्त निज क्षोभ से। [प्रलय की छाया]
भ्रान्त अर्थ बन आगे आए, **बने ताड़ थे तिल के**। [कामायनी-कर्म]

कब तक मैं देखूँ जीवित पशु, घूँट लहू का पीऊँ। [कामायनी-कर्म]

निराला—खा कर पत्तल में करें छेद।

× × ×

वे जो यमुना के से कछार
पद फटे-बिवाई के, उधार
खाये के मुख ज्यों, पिये तेल
चमरौधे जूते से सकेल
निकले, जी लेते, घोर गन्ध

× × ×

ऐसे शिव से गिरिजा-विवाह
करने की मुझको नहीं चाह। [सरोज-स्मृति]

बच्चन—सुयश का पीटे कोई ढोल, [बुलबुल]
रक्त से सींची गई है राह मन्दिर-मस्जिदों की। [पथभ्रष्ट]
कुछ आग बुझाने को पीते— [प्याला]

कुछ कवियों ने मुहावरों का रूप विकृत कर उनका प्रयोग किया है जिससे वे अशक्त हो गये हैं; यथा—

आठ आँसू रोते निरुपाय [पन्त]
[आठ आठ आँसू रोना]
वारि पी कर पूछता घर कौन है ? [पन्त]
[पानी पीकर घर पूछना]
बार बार भर ठंडी साँस— [पन्त]
[बार बार ले ठंडी साँस]
आज कम्पित मूल क्यों संसार का [दिनकर]
[नींव हिलना]

छायावादी कविता में कुछ अंग्रेजी के मुहावरों और उक्तियों का अनुवाद कर के उन्हें अपना भी लिया गया है जो हिन्दी भाषा को समृद्ध बनाने की दृष्टि से अनुचित नहीं हैं; जैसे :—जीवन का यह पृष्ठ पलट मन !—बच्चन। (To turn the page of life); स्वप्निल (Dreamy), रजत रात (Silver night) आदि। बाद के कवियों ने उर्दू की लोकोक्तियों और मुहावरों को भी धड़ल्ले से अपनाया जैसे :—रंजमलाल, दिल हलका करना दौर चलना आदि।

भाषण-शैली का उदाहरण उन कविताओं की भाषा है जो उद्बोधनात्मक या

२३

क्रान्तिवादिनी हैं जैसे दिनकर की हुंकार की अधिकतर कवितायें और अंचल, शिवमंगलसिंह सुमन आदि की प्रगतिवादी रचनायें। उनमें व्यास या स्फीति अधिक होने से शब्दों का दुरुपयोग और कला का ह्रास हुआ है।

छायावादी कविता में भाषा सम्बन्धी अराजकता इतनी अधिक है जितनी इसके पहले कभी नहीं थी। खड़ी बोली का रूप स्थिर करने के लिए महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अथक परिश्रम किया था। अपने युग के कवियों और लेखकों को उन्होंने परिमार्जित और व्यवस्थित भाषा के मार्ग पर काफी आगे बढ़ा दिया था। किन्तु छायावाद-युग की व्यक्तिवादी स्वतंत्रता की भावना के कारण नये कवियों को भाषा के प्रतिमानीकरण का बन्धन कठोर प्रतीत हुआ। अतः उन्होंने कहीं तो जानबूझ कर व्याकरण के नियमों को तोड़ा है और कहीं सहज निरंकुशतावश या असावधानी के कारण भाषा सम्बन्धी गलतियाँ की हैं। यों तो सभी बड़े कवि भाषा-शैली के सम्बन्ध में निरंकुशता दिखलाते हैं, पर पूँजीवादी युग में यह निरंकुशता किसी किसी कवि में इतना अधिक बढ़ जाती है कि उसकी भाषा सामान्य भाषा से विच्छिन्न-सी हो जाती है। छायावाद-युग में भी यही बात दिखलाई पड़ती है। पन्त, निराला और प्रसाद ने कहीं-कहीं जानबूझकर व्याकरण की कड़ियाँ तोड़ी हैं और दिनकर, बच्चन, नरेन्द्र आदि ने सम्भवतः भाषा सम्बन्धी अज्ञान के कारण कहीं-कहीं गलत भाषा का प्रयोग किया है। छायावादी कवियों की भाषा सम्बन्धी अराजकता का कुछ परिचय ऊपर वर्ण, शब्द और वाक्य पर विचार करते हुए दिया जा चुका है। भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने पाँच प्रकार के रसापकर्षक दोषों में तीन तो भाषागत दोष (पदांशदोष, पददोष, वाक्यदोष) ही गिनाये हैं। उनमें से वाक्यगत दोषों के भीतर अधिकपदत्व, पुनरुक्ति, इतिवृत्तत्व, प्रतिकूलवर्णत्व, सन्धिकष्टत्व, गर्भितत्व (गुम्फित वाक्य) आदि की चर्चा हो चुकी है। यहाँ न्यूनपदत्व, अक्रमत्व (दूरान्वय), संकीर्णत्व जैसे कुछ व्याकरण-दोषों पर, जो छायावादी कविता में दिखाई पड़ते हैं, विचार किया जायगा।

भाषा संबंधी अराजकता

पहले ही कहा जा चुका है कि भाषा की पहिचान वाक्य से होती है और वाक्य योग्यता, आकांक्षा तथा आसत्ति से युक्त होते हैं। आकांक्षा से वाक्य पूरा होता है अर्थात व्याकरण के नियमों का पालन किये बिना वाक्य पूर्ण नहीं हो सकता। उसी तरह सम्बन्धित शब्दों के बीच उच्चारण, काल या स्थान का व्यवधान आ जाने से वाक्य दूषित हो जाता है। व्याकरण में विभक्ति, लिंग, वचन, विशेषण और क्रिया की प्रधानता है। वाक्य की शुद्धता इसी बात पर

निर्भर करती है कि इनके सम्बन्ध में व्यवहार में जो नियम मान्य हों या व्याकरण-शास्त्र ने जो व्यवस्था दी हो, उसका पालन किया जाय। छायावाद-युग में बहुधा जानबूझ कर इन नियमों को तोड़ा गया है। पन्त ने 'पल्लव' की भूमिका में लिखा है; "मैंने अपनी रचनाओं में, कारणवश, जहाँ कहीं व्याकरण की लोहे की कड़ियां तोड़ी हैं ·······मुझे अर्थ के अनुसार ही शब्दों को स्त्रीलिंग-पुल्लिग मानना अधिक उपयुक्त लगता है।······प्रभात और प्रभात के पर्यायवाची शब्दों का चित्र मेरे सामने स्त्रीलिंग में ही आता है······'बूँद' 'कम्पन' आदि शब्दों का प्रयोग मैं उभयलिंग में करता हूँ, जहाँ छोटी सी बूँद हो वहाँ स्त्रीलिंग, जहाँ बड़ी हो वहाँ पुल्लिग।" पन्त का उद्देश्य यह प्रतीत होता है कि भाषा में नयी और अधिक व्यंजना लाने के लिए व्याकरण के नियमों को भी तोड़ा जा सकता है। यह तो ठीक है किन्तु कवि जो नया अर्थ भरना चाहता है उसको पाठकों तक पहुँचाने के लिए फिर पहले उसे नया व्याकरण ग्रन्थ लिखकर उसका प्रचार करना चाहिए। अन्यथा उसकी नयी व्यंजना कोई नहीं समझ सकेगा, उल्टे वह भाषा को नष्ट करने वाला माना जायगा। व्याकरण के नियम एक आदमी के बनाये नहीं बनते। फिर भी पन्त या अन्य छायावादी कवियों का प्रयत्न इस अर्थ में अवश्य विचारणीय है कि उन्होने व्याकरण को शाश्वत नहीं, परिवर्तनशील माना। उनके इस नवीन पथ-प्रदर्शन को हिन्दी वालों ने स्वीकार तो नहीं किया, पर भाषा की अराजकता अवश्य कुछ बढ़ गयी। उनके व्याकरण सम्बन्धी अराजकता के कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं :—

लिंगदोष—खुले पलक फैली सुवर्ण छवि।—पन्त। (खुली पलक)
हृदय के सुरभित साँस—पन्त। (की साँस)
कितने बार पुकारा!—निराला। (कितनी बार)
मैं सोया पथ पर खिन्नमना—निराला। (खिन्नमन)
बह चली अब अलि शिशिर समीर।—निराला (बहचला)
जीवन घट की युगल बिन्दुएँ।—माखनलाल चतुर्वेदी
[घट के बिन्दु]
पल्लवों की यह सजल प्रभात।—पन्त। (का प्रभात)
मन मधुवन की प्यारी कोकिल!—नरेन्द्र। (प्यारा कोकिल)
हो न जिसका खोज सीमा में मिला।—महादेवी
(जिसकी खोज मिली)
धधकती है जलदों से ज्वाला।—पन्त (धधकता है)

वचनदोष— जानती हैं सिर्फ झाँसी वालियाँ। माखनलाल चतुर्वेदी—
(पंजाबी प्रयोग)—[झाँसी वाली रानियाँ]
बर्फें गिरें रोज, —दिनकर (बर्फ गिरे)
इतिहासों में अमर रहूँ—दिनकर (इतिहास में)
कितनी करुणाओं का मधुर—महादेवी (कितनी करुणा का)

विभक्तिदोष—अरे आ गई है भूली सी मधुऋतु यह दो दिन को—प्रसाद
(दो दिन के लिए)
धधकती है जलदों से ज्वाल—पन्त (में ज्वाल)
सजग शशक नभ को चरते—पन्त (नभ में)
वे स्मृति बनकर मानस में खटका करते हैं निशिदिन;
उनकी इस निष्ठुरता को जिसमें मैं भूल न जाऊँ—महादेवी
(जिससे कि)
तेरे रूप रंग पर कैसे हृदय फँसेगा—दिनकर (रूपरंग में)

क्रियादोष—अंगरेजी और संस्कृत में संज्ञा से क्रिया बनाने की प्रवृत्ति बहुत अधिक है। हिन्दी की बोलियों में भी यह प्रवृत्ति कम नहीं है पर खड़ी बोली में इसका अभाव सा है। छायावादी कवियों ने इस तरह के कुछ प्रयोग किये हैं जो प्रचलित नहीं हो सके :—

निःश्वासों का पवन प्रचारो (प्रचार करो या बहाओ)

इसी तरह 'निर्माऊँ', 'विकसाया', 'विचारो', 'हर्षाऊँ' आदि का भी प्रयोग हुआ है। ब्रजभाषा, अवधी और भोजपुरी की क्रियाओं का प्रयोग भी कुछ कवियों ने किया है। संयुक्त क्रिया में पूरक पद का लोप तो इन कवियों ने बहुत अधिक किया है। पन्त ने तो 'है' को काव्य की भाषा से निकाल ही देने की अपील की है। पर पूरक क्रियाओं के बिना वाक्य कहीं-कहीं अधूरे और अस्पष्ट हो जाते हैं :—

हिलते द्रुम-दल कल किसलय, देती गलबाँहीं डाली
फूलों का चुम्बन, छिड़ती मधुपों की तान निराली (आँसू—प्रसाद)

इसमें 'हिलते थे' और 'छिड़ती थी' की जगह केवल हिलते और छिड़ती क्रियाओं का प्रयोग हुआ है जिससे वे वर्तमान काल की प्रतीत होती हैं। अर्थ-प्रतीति में इससे बाधा उपस्थित होती है। कहीं-कहीं क्रिया को विकलांग करके ही रख दिया गया है :—

झलका हास कुसुम अधरों पर हिल मोती का सा दाना [पन्त]
जग धोका, तो रो क्या ! [निराला]

यहाँ 'हिलते हुए' की जगह छन्द की पादपूर्ति के लिए 'हिल' का प्रयोग किया गया है जिससे वाक्य अधूरा प्रतीत होता है। उसी तरह 'रोता है' को छाँट कर 'रो' कर दिया गया है।

सन्धि और सवनाम—

सन्धि के सम्बन्ध में भी छायावादी कवियों ने मनमानी की है। 'मरुताकाश' और 'प्रिऽह्लाद' के लिए तो पन्त ने सफाई दी ही है, निराला ने भी कहीं तो 'निश्चलत्प्राण' जैसी अशुद्ध सन्धि की है और कहीं संस्कृत के विसर्गयुक्त शब्दों में भी सन्धि नहीं की जैसे 'ज्योतिःकारा'। 'सर्वनामों में कहीं-कहीं संस्कृत के ही शब्द उठा लिए गये हैं जो हिन्दी के लिए अव्यवहार्य या पुराने हैं जैसे मम, तव। यदि मम, तव ग्राह्य हैं तो 'तस्य' क्यों नहीं होना चाहिये ?

दूरान्वय-दोष—

आसत्ति के लिए वाक्य-गठन में शब्दों का स्थान निश्चित होता है। कविता में गद्य जैसा वाक्य-गठन नहीं होता पर ऐसा भी नहीं होना चाहिए कि अक्रमत्व या दूरान्वय दोष उत्पन्न हो जाय। साकांक्ष पदों के दूर पड़ जाने से दूरान्वय-व्यवधान होता है। इससे अर्थ का अनर्थ हो जाने की आशंका रहती है।

१—विपिन में पावस के से दीप—पन्त (पावस के दीप से)

२— फिर सौरभ कर दो संचार—महादेवी (फिर कर दो सौरभ-संचार)

३—मिलन का मत नाम लो मैं विरह में चिर हूँ।—महादेवी (चिर विरह में हूँ)

४—छोटी सी कुटिया मैं रच दूँ नई व्यथा साथिन को—प्रसाद (साथिन नई व्यथा को)

न्यूनपदत्व-दोष—

वाक्य में कुछ आवश्यक पदों जैसे विभक्तियों तथा पूर्वकालिक क्रियाओं-के 'कर' और क्रियाविशेषणों के 'हुआ' 'हुए' आदि के लोप से अर्थ-प्रतीति में बाधा होती है। यह दोष भी छायावादी कविता में अधिक दिखलाई पड़ता है:— 'ओस-आँसुओं-धुली नवगात।' 'किसलयों-बँधे', 'झुकी थी जो यौवन के भार' इन तीनों में 'से' विभक्ति लुप्त है।

क्रियापदों का लोप प्रवाहमयी और भावात्मक भाषा में होता है पर उसकी अधिकता को वाक्यदोष ही कहा जायगा:—'जग धोका, तो रो क्या ?' में 'है' लुप्त है। उसी तरह निम्नलिखित कविता में सभी जगह क्रियापद लुप्त हैं:—

वहाँ प्राणों के निकट परिचय, प्रथम अवदान,
प्रथम मधु संचय, नवल वयसिके, नव सम्मान ! (निराला)

———

शब्दशक्तियाँ

जब हम कहते हैं कि छायावादी कवियों ने हिंदी भाषा को नवीन रूप दिया है तो उसका अर्थ सिर्फ यही नहीं है कि उन्होंने द्विवेदी-युग की नीरस और गद्यात्मक काव्यभाषा की जगह कोमलकान्त पदावली और भावानुरूप शब्दों की योजना की है; उसका अर्थ प्रधानतया यह है कि उनकी काव्यभाषा बहुत कुछ चित्रभाषा है अर्थात उन्होंने अपनी भाषा में नवीन और अधिक अर्थशक्ति भरने के लिये नये प्रकार के अप्रस्तुत तथा नवीन भाव–भंगिमा से युक्त भाषा का व्यवहार किया। अतिशय आत्मकेन्द्रित होने तथा दूरारूढ़ कल्पनाओं का सहारा लेने के कारण उनकी भाषा स्वतः भंगिमायुक्त हो गयी है*। इस खण्ड के पहले अध्याय में कहा जा चुका है कि शब्द और अर्थ का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है और शब्द भावों का प्रतिनिधित्व करने वाले, बाह्य वस्तु हैं। इसका तात्पर्य यह है कि नवीन सामाजिक परिस्थितियों में नवीन अर्थों की उद्भावना होने पर शब्द भी नवीन रूप ग्रहण करते हैं। किन्तु अर्थ अनन्त हैं और शब्द सीमित; इसलिये शब्द अर्थ की सम्यक और पूर्ण अभिव्यक्ति करने में सदैव सफल नहीं होते।

---

* "......जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया। रीतिकालीन प्रचलित परम्परा से—जिसमें वाह्य वर्णन की प्रधानता थी—इस ढंग की कविताओं में भिन्नप्रकार के भावो की नये ढंग से अभिव्यक्ति हुई। ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे। आभ्यन्तर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा वाह्य स्थूल आकार में भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है। सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पदयोजना असफल रही। उनके लिये नवीन शैली, नया वाक्य-विन्यास आवश्यक था। हिन्दी में नवीन शब्दों की भंगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णन केलिए प्रयुक्त होने लगी। शब्द विन्यास में ऐसा पानी चढ़ा कि उसमें एक तड़प उत्पन्न करके सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया!"

[प्रसाद—काव्य कला तथा अन्य निबन्ध-पृष्ठ १४३]

कवि का भाव-भाण्डार जितना ही समृद्ध होता है उसका शब्द-ज्ञान भी उतना ही विस्तृत होता है। किन्तु ऐसे कवि को भी शब्द की कमी का अनुभव होता ही है; अतः वह शब्दों की ऐसी योजना करता है जिससे उसके भावों की पूर्ण अभिव्यक्ति बहुत कुछ हो जाती है। पिछले अध्याय में वाक्ययोजना के सम्बन्ध में विचार करते हुये हम कह चुके हैं कि छायावादी कविता की भाषा में सांकेतिक शैली की प्रधानता है। इस सांकेतिकता का कारण नवीन प्रतीकों और अप्रस्तुतों की योजना तो है ही, शब्दों की लाक्षणिकता और व्यंजकता भी है। द्विवेदी-युग की कविता में यह सांकेतिकता नहीं दिखलाई पड़ती क्योंकि उसकी शैली अधिकतर अभिधाप्रधान और उपदेशात्मक है। छायावादी कविता की विशिष्टता बहुत कुछ उसकी गूढ़ और सांकेतिक शैली अर्थात लाक्षणिक और व्यंजक भाषा के कारण ही है। इस शैलीगत विशिष्टता के कारण ही कुछ समर्थ आलोचकों तक को यह भ्रम हो गया कि छायावाद एक शैली मात्र है और प्रसाद जी को इसी भ्रम के निवारण के लिये लिखना पड़ा; "छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीकविधान तथा उपचारवक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषतायें हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तरस्पर्श करके भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति-छाया कान्तिमयी होती है।" ध्वनि, वक्रोक्ति और अभिव्यंजना के प्रकरण में वाक्य भंगिमा के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा चुका है, यहाँ केवल उसकी लाक्षणिकता और व्यंजकता के सम्बन्ध में ही विचार किया जायगा।

भाषा पदार्थों और भावों का वाचिक संकेत है। इसी संकेत के सहारे मनुष्य-समाज एक दूसरे की बातों को समझता तथा अपना काम चलाता है। इसप्रकार भाषा में शब्द और अर्थ जल और लहर की तरह मिलेजुले हैं, इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध ही शक्ति या व्यापार कहलाता है। बिना इस शक्ति-ज्ञान के किसी भी शब्द के अर्थ का बोध नहीं हो सकता। इस तरह शक्ति या सम्बन्ध ही शब्द को सार्थक बनाता है। यह सम्बन्ध परिवर्तनशील है अर्थात शब्द का अर्थ देश और काल के अनुसार बदलता रहता है। एक ही शब्द एक युग या देश में एक अर्थ देता है तो दूसरे युग या देश में दूसरा अर्थ, उसी तरह एक ही शब्द से बने हुये अनेक शब्दों से विभिन्न पदार्थों या भावार्थों का बोध होता है। भाषा के परिवर्तन और विकास का कारण शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का परिवर्तन या विकास ही है। यह शक्ति तीन प्रकार की मानी गयी है। अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना। शब्द या वाचक से ही ये तीनों शक्तियाँ

उद्भूत होती हैं, इसलिये इन्हें शब्दशक्ति भी कहते हैं। सृष्टि में जितने प्रकार के पदार्थ हैं उनमें से प्रत्येक के लिये कोई न कोई वाचक या शब्द अवश्य रहता है। वाचक अर्थ की ओर संकेत करता है अतः इस क्रिया को संकेतग्रह कहते हैं। संकेतग्रह के विषय चार प्रकार के माने गये हैं—जाति, गुण, क्रिया, यदृच्छा या द्रव्य। अत: वाचक अर्थात साक्षात संकेतित अर्थ का बोध कराने वाले शब्द भी अपने विषयों के अनुसार चार प्रकार के ही माने गये हैं।

शब्द जब बिना बाधा के सीधे-सीधे साक्षात संकेतित अर्थ का बोध कराता है तो इस व्यापार, सम्बन्ध या शक्ति को अभिधा कहते हैं। अभिधाशक्ति जिस अर्थ का बोध कराती है वही मुख्य अर्थ होता है अतः उसे वाच्यार्थ या मुख्यार्थ कहते हैं और जिस शब्दों से संकेतग्रह होता है उसे वाचक कहते हैं। सूक्ष्म मानोभावों की अभिव्यक्ति अभिधाशक्ति द्वारा पूर्णतया नहीं हो पाती। अतः स्वभावतः मनुष्य वाचकपदो का व्यवहार इस ढंग से करने लगता है कि मुख्यार्थ के बोध में बाधा उपस्थित हो जाती है और तब मुख्यार्थ से भिन्न नवीन अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। यह नया अर्थ अधिक शक्तिपूर्ण और चमत्कार उत्पन्न करने वाला होता है। शब्द और इस नवीन अर्थ के सम्बन्ध को लक्षणा-व्यापार या लक्षणाशक्ति कहते हैं। इस शक्ति से उत्पन्न अर्थ को लक्ष्यार्थ और ऐसे शब्दों को लक्षक शब्द कहते हैं। किन्तु कभी कभी वक्ता या लेखक ऐसे अर्थ की ओर संकेत करता है जिसकी प्रतीति अभिधा या लक्षणा द्वारा नहीं हो सकती अर्थात अभिधा लक्षणा और तात्पर्य वृत्तियों द्वारा अपना काम करके उपशमित हो जाने के बाद जिस शक्ति के द्वारा अन्य अर्थ की प्रतिति होती है उसे व्यंजनाव्यापार या व्यंजनाशक्ति कहते हैं; और ऐसे पद व्यंजक पद कहे जाते हैं *।

छायावादी कविता में अभिधा नामक शब्दशक्ति से कवियों ने अधिक काम नहीं लिया क्योंकि इससे साक्षात संकेतित अर्थ का ही बोध होता है, अप्रत्यक्ष,

---

* तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा
संकेतो गृह्यते जातौ गुणद्रव्यक्रियासु च। ४
मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते
रूढेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता। ५
विरतास्वभिधाद्यासु ययार्थो बोध्यतेपरः। १२
सा वृत्तिर्व्यंजना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च। १३

[साहित्य दर्पण— द्वितीय परिच्छेद]

अभिधा सूक्ष्म और आभ्यन्तर अर्थों को व्यक्त करने की क्षमता इसमें नहीं होती। फिर भी अभिधाशक्ति का निरादर नहीं किया जा सकता क्योंकि तीनों शक्तियों में वही प्रधान है, इसीसे उसे मुख्या या अग्रिमा भी कहते हैं। ऐसी कविता या वाक्यावली की स्थिति सम्भव नहीं है जिसमें अभिधाशक्ति से किसी न किसी रूपमें काम न लिया गया हो। लक्षणा से तो इसका सीधा सम्बन्ध है ही, व्यंजना भी अभिधा पर ही आधारित होती है। जब लक्षणा भी किसी वाक्य का प्रकरणसापेक्ष्य अर्थ नहीं दे पाती तो अभिधाशक्ति के बल पर ही व्यंजना वांछित अर्थ को व्यक्त करती है। इसलिए अभिधाशक्ति का महत्व कम नहीं है। देव ने तो अभिधात्मक काव्य को ही सर्वोत्तम काव्य मान लिया है *। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी अभिधाशक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ स्वीकार करते हुये लिखते हैं :—

'यह स्पष्ट है कि लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ भी योग्यता या उपयुक्तता को पहुँचा हुआ, समझ में आने योग्य रूप में आया हुआ अर्थ ही होता है। अयोग्य और अनुपपन्न वाच्यार्थ ही लक्षणा या व्यंजना द्वारा योग्य और बुद्धिग्राह्य रूपमें सामने आता है।' (चिन्तामणि भाग २)। अभिधा का बहुत अधिक महत्व है इसमें दो मत नहीं हो सकते। किन्तु अभिधात्मक काव्य ही उत्तम काव्य है, यह मत उचित नहीं प्रतीत होता; हाँ, अभिधा द्वारा भी उत्तम काव्य की रचना हो सकती है और हुई है। रसात्मक काव्य के लिये लक्षणा और व्यंजना अनिवार्य नहीं हैं, इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आलम्बन के अभिधात्मक संश्लिष्ट चित्रण में ही बिम्बग्रहण और साधारणीकरण की स्थिति मानते हैं, उस संकेतग्रह में नहीं जिससे केवल अर्थग्रहण या तथ्यचित्रण होता है। इस दृष्टि से छायावादी कविता में जहाँ संश्लिष्ट चित्रण करते हुये सीधे-सीधे मुख्यार्थ का बोध कराया गया है शुक्ल जी ने उन स्थलों की बहुत प्रशंसा की है और गुरुभक्त सिंह, श्यामनारायण पाण्डे आदि अभिधावादी कवियों को अधिक महत्व दिया है। अभिधात्मक काव्य में प्रयुक्त रूढ़, यौगिक, योगरूढ़ और यौगिकरूढ़ शब्दों का अर्थ लोक व्यवहार से अथवा कोष और व्याकरण से आसानी से प्राप्त हो जाता है साथ ही इसमें जन सामान्य के लिए बोधगम्य अर्थों की सीधे ढंग से अभिव्यक्ति होती है, अतः लोक-मंगल की साधना करने वाले कवियों के लिए यह शक्ति बड़े काम की होती है। यथार्थवादी और प्रगतिवादी कवियों जैसे-बच्चन,

---

* अभिधा उत्तम काव्य है मध्य लक्षणा लीन।
अधम व्यंजना रस विरस उलटी कहत प्रवीन ॥

दिनकर, नरेन्द्र, नेपाली, शिवमंगल सिंह 'सुमन', केदारनाथ अग्रवाल आदि—ने अधिकतर अभिधात्मक शैली में ही कवितायें लिखी हैं। उदाहरण के लिए नेपाली की यह कविता लीजिये :—

देहरादून के मधुर बेर
जंगल में मिलते ढेर ढेर।
सामने खड़ा ऊँचा पहाड़, है गर्मी में भी यहाँ जाड़
फैली जंगल में घनी झाड़, हैं बेर नदी की आड़ आड़।
पड़ता लाने में बड़ा फेर!
देहरादून के मधुर बेर।
जब आता है रे शरद काल, लदती बेरों से डाल-डाल,
लख पीले-पीले लाल-लाल, हो जाती मंसूरी निहाल,
थकते न नयन ये हेर हेर।
देहरादून के मधुर बेर।

इस उद्धरण में सिर्फ एक वाक्य 'हो जाती मंसूरी निहाल' लाक्षणिक है; अन्य वाक्य सीधे-सीधे मुख्यार्थ का संकेत करते हैं। 'बच्चन' की निम्नलिखित कविता भी अभिधाप्रधान ही है :—

दोनों चित्र सामने मेरे!
सिर पर बाल घने घुंघराले काले, कड़े, बड़े, बिखरे से,
मस्ती, आजादी, बेफिक्री, बेखबरी के हैं संदेश!
माथा उठा हुआ ऊपर को, भौंहों में कुछ टेढ़ापन है,
दुनिया को है एक चुनौती, कभी नहीं झुकने का प्रण है!
सिर पर बाल कढ़े कंघी से तरतीबी से चिकने, काले,
जग की रूढ़ि-रीति ने जैसे मेरे ऊपर फन्दे डाले।
भौंहें झुकी हुई नीचे को, माथे के ऊपर है रेखा,
अंकित किया जगत ने जैसे मुझ पर अपनी जय का लेखा।

[आकुल—अन्तर]

कहा जा चुका है कि मुख्यार्थ की बाधा होने पर जिस शक्ति से अन्य अर्थ का प्रकाश होता है उसे लक्षणा कहते हैं। लक्षणा द्वारा शब्द का जो अर्थ निकलता है वह शब्दकोष या व्याकरण-ग्रन्थ द्वारा सिद्ध नहीं होता,

लक्षणा

पर लोकव्यवहार या साहित्य में इस शक्ति का पद-पद पर सहारा लिया जाता है। जब कोई कहता है कि 'घृत ही आयु है' तो सुनने वाले आयु का अर्थ 'उम्र' नहीं, 'बलदायक' लगाते हैं। आयु का यह

अर्थ शब्दकोष में नहीं मिल सकता। इस तरह अभिधा में शब्द के एक या पर्याय रूप में अनेक अर्थ हो सकते हैं पर उसी शब्द का दूसरे रूप में व्यवहार करके लक्षणा शक्ति द्वारा मुख्यार्थ से भिन्न और कभी-कभी विपरीत अर्थों का बोध होता है। वाक्य में मुख्यार्थ की बाधा होने का तात्पर्य यह है कि उसमें प्रयुक्त शब्दों के परस्पर सम्बन्ध में अयोग्यता मालूम पड़ती है। योग्यता का अभाव (अन्वयानुपपत्ति) होने पर रूढ़िवश या किसी प्रयोजन से जब मुख्यार्थ से सम्बन्धित या उस पर आधारित जिस अन्य अर्थ की उत्पत्ति होती है वही लक्ष्यार्थ है। इस प्रकार अभिधा में मुख्यार्थ ही सब कुछ होता है और लक्षणा में मुख्यार्थ बाधित होता है पर मुख्यार्थ के बाधित होने पर भी लक्ष्यार्थ मुख्यार्थ पर ही आधारित और उससे सम्बद्ध होता है। मुख्यार्थ स्वाभाविक या सिद्ध अर्थ है और लक्ष्यार्थ को स्वाभाविकेतर, कृत्रिम, अरोपित या कल्पित अर्थ कह सकते हैं। लक्ष्यार्थ दो हेतुओं से उत्पन्न होता है; १—रूढ़ि और २—प्रयोजन। अतः उन्हीं के अनुसार रूढ़ा और प्रयोजनवती दो प्रकार की लक्षणा होती है। उसी तरह उपादान और उपलक्षण की दृष्टि से उसके दो भेद हैं, उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा। फिर उपमेय-उपमान के आरोप या अध्यवसान के आधार पर सारोपा और साध्यवसाना ये दो लक्षणायें मानी गयी हैं। सादृश्य और सादृश्येतर आधार पर खड़ी होने से उसके गौणी और शुद्धा दो रूप और हो जाते हैं। ये सब आपस में मिल कर अनेक प्रकार की लक्षणाओं को उत्पन्न करते हैं जैसे प्रयोजन के साथ सादृश्य, उपादान और अध्यवसान का योग होने पर प्रयोजनवती शुद्धा उपादान साध्यवसाना लक्षणा होती है। गूढ़ और अगूढ़ अर्थ के अनुसार प्रयोजनवती लक्षणा के भी दो भेद हो जाते हैं। पदगत और वाक्यगत होने से रूढ़ि लक्षणा के कुल १६ भेद और प्रयोजनवती के धर्म-भेद तथा धर्मि-भेद और पदगत तथा वाक्यगत होने से कुल ६४ भेद हो जाते हैं। इस प्रकार कुल मिला कर ८० लक्षणायें होती हैं।

इन सब के परिचय तथा उदाहरण के लिये न तो अवकाश ही है और न आवश्यकता ही। छायावादी कविता में जो लक्षणायें अधिक दिखलाई पड़ती हैं उन्हीं के बारे में यहाँ विचार किया जायगा।

शब्द का वह अर्थ जो व्युत्पत्ति तथा शब्दकोष द्वारा मान्य अर्थ से भिन्न होते हुए भी लोक स्वीकृत होता है, रूढ़ अर्थ कहलाता है और ऐसे शब्द को रूढ़ शब्द कहते हैं, ऐसे रूढ़ शब्द या वाक्य के आधार पर जब मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ का बोध होता है तो वहाँ रूढ़ा लक्षणा होती है।

रूढ़ा लक्षणा

हैं कुपथ पर पांव मेरे आज दुनिया की नजर में। (बच्चन)
इसमें दुनियाँ का रूढ़ अर्थ 'दुनियाँ वाले' है।

सो रहा है पंचनद आज उसी शोक में (प्रसाद)

इसमें भी 'पंचनद सो रहा है' का अर्थ है पंचनद के लोगों में जागृति नहीं है। भाषा में प्रचलित अधिकांश मुहावरे लाक्षणिक प्रयोग ही हैं जो रूढ़ हो जाने के कारण रूढ़ि-लक्षणा कहलाते हैं जैसे :—

मैं बाट जोहती आशा (निराला)
अब लोहे के चने मिलेंगे दांतों को अजमाओ (बच्चन)
गिरती कठिन गाज सी सिर पर कवि का हृदय दहल जाता है,
आँसू पी बरबस हँस हँसकर प्राण पिया को समझाती है! (दिनकर)

प्रयोजनवती लक्षणा—

किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिये जब लक्षणा होती है तो उसे प्रयोजन-वती लक्षणा कहते हैं।

नारी का वह हृदय, हृदय में सुधासिन्धु लहरें लेता
बाड़व-ज्वलन उसी में जलकर कंचन सा जल रँग देता। (प्रसाद)

इसमें मुख्यार्थ की बाधा यह है कि सुधा का सिन्धु नहीं होता और अगर हो भी तो हृदय में लहरें नहीं ले सकता, फिर उसमें बाड़व-ज्वाला का जलना तो और भी कठिन है। अतः इसका लक्ष्यार्थ यह है कि नारी के हृदय में अत्यधिक पवित्रता, शान्ति और माधुर्य भी होता है और प्रेम अथवा दुख की ज्वाला भी जला करती है।

उपादान लक्षणा—

वाक्य का मुख्यार्थ जब बाधित होने के बाद भी लक्ष्यार्थ के अंग के रूप में बना रहता है तो वहाँ उपादान लक्षणा होती है, जैसे 'तलवारें चल रही हैं' इसका मुख्यार्थ बाधित है क्योंकि तलवार अपने से नहीं चल सकती; इसलिये लक्ष्यार्थ यह हुआ कि लोग तलवार से लड़ रहे हैं। यहाँ तलवार का मुख्यार्थ अंगरूप से लक्ष्यार्थ में बना हुआ है!

मुकुट पहनते थे सिर, कभी लोटते थे
रक्त दिग्ध धरणी में रूप की विजय में। (प्रसाद)

इसमें लक्ष्यार्थ यह है कि किसी के सिर पर मुकुट रखा जाता था और किसी का सर तलवार से काट दिया जाता था। यहाँ भी लक्ष्यार्थ में अंगरूप में सिर का वाच्यार्थ बना हुआ है।

कलम उठी कविता लिखने को (दिनकर)

बात बात पर बजीं किरीचें। (दिनकर)

इन दोनों में भी मुख्यार्थ लक्ष्यार्थ के साथ अंग रूप में वर्तमान है।

लक्षण-लक्षणा—

इसमें शब्द का मुख्यार्थ अपने स्वरूप को छोड़कर लक्ष्यार्थ का उपलक्षण मात्र रह जाता है—

रोम - रोम में नन्दन पुलकित
सांस सांस में जीवन शत - शत
स्वप्न - स्वप्न में विश्व अपरिचित
मुझमें नित बनते मिटते प्रिय, स्वर्ग मुझे क्या, निष्क्रिय लय क्या?

यहाँ पुलकित नन्दन का अर्थ पुलक उत्पन्न करने वाला आनन्द और 'स्वप्न-स्वप्न' का अर्थ कल्पना और इच्छित विश्वास है। इस प्रकार उक्त शब्दों के मुख्यार्थ उनके लक्ष्यार्थ के उपलक्षणमात्र रह गये हैं।

सारोपा लक्षणा—

इसमें उपमान और उपमेय का अभेद-भाव होते हुये भी उपमेय निगीर्ण नहीं होता, बना रहता है। यह लक्षणा रूपकालंकार का बीज है।

तेरा मुख सहास अरुणोदय, परछाईं रजनी विषादमय महादेवी]
इस हृदय-कमल का घिरना अलि-अलकों की उलझन में,
आँसू-मरन्द का गिरना मिलना निश्वास-पवन में। [प्रसाद]

इन पंक्तियों में मुख पर अरुणोदय का, अलकों पर रजनी का, हृदय पर कमल का, अलक पर अलि का, आँसू पर मरन्द का और निश्वास पर पवन का आरोप किया गया है।

साध्यवसाना लक्षणा—

इसमें उपमेय का उपमान में अध्यवसान होने से ऐसा अभेद-भाव उत्पन्न होता है कि उपमेय निगीर्ण या आच्छादित हो जाता है। अर्थात उपमेय शब्दतः प्रकट नहीं होता, उपमान द्वारा ही उसका बोध होता है। यह लक्षणा साध्यवसान-रूपक या रूपकातिशयोक्ति का बीज है।

पतझड़ था, झाड़ खड़े थे सूखी सी फुलवारी में,
किसलय, नव कुसुम बिछाकर आये तुम इस क्यारी में।

× × ×

बाँधा था विधु को किसने इन काली जंजीरों से,
मणिवाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से?

इन पंक्तियों में पतझड़, झाड़, फुलवारी, किसलय, कुसुम, क्यारी, विधु,

आदि उपमानों में उनके उपमेय नीरसता, असौन्दर्य, यौवन, आनन्द, जीवन, मुख आदि का अध्यवसान किया गया है जिससे उपमानों के वाच्यार्थ बाधित होने पर लक्ष्यार्थ उपमेयों का ज्ञान होता है।

गौणी लक्षणा—

जब सादृश्य के आधार पर लक्ष्यार्थ का बोध होता है तब गौणी लक्षणा होती है। ऊपर के साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरण की दूसरी कविता में गौणी लक्षणा स्पष्ट है।

शुद्धा लक्षणा—

सादृश्य के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धों जैसे कार्य-कारण, अंगांगि-भाव आदि से उत्पन्न लक्षणा शुद्धा लक्षणा होती है।

हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो मौन बने रहते हो क्यों? [प्रसाद]
सतत व्याकुलता के विश्राम अरे, ऋषियों के कानन-कुञ्ज! [प्रसाद]
जगती के तरुवर में प्रतिपल जो लगते गिरते पल्लव दल! [बच्चन]
आँसुओं का कोष उर, दृग अश्रु की टकसाल [महादेवी]

इन पंक्तियों में 'सौन्दर्य' और 'व्याकुलता' का प्रयोग सुन्दर और व्याकुल व्यक्तियों के लिए हुआ है। अतः यहाँ आधार-आधेय सम्बन्ध है। उसी तरह जगती में तरुवर का तथा दृग में टकसाल का अभेद आरोप किया गया है जिसका आधार कर्मसाम्य है, अतः यहाँ शुद्धा लक्षणा है।

गूढ़ और अगूढ़ व्यंग्या लक्षणा—

जहाँ वाक्य के व्यंग्यार्थ को उसकी गूढ़ता के कारण कुछ ही लोग समझ सकें उसे गूढ़ व्यंग्या लक्षणा कहते हैं और जहाँ उसका व्यंग्यार्थ सहज बोध्य होता है वहाँ अगूढ़ व्यंग्या लक्षणा होती है। ये दोनों ही प्रयोजनवती लक्षणा के भीतर आती हैं।

इस प्रकार आलंकारिकों ने लक्षणा के अनेक भेद अनेक दृष्टियों से किये हैं। ये स्वच्छन्द होते हुए भी एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। उनके मिश्रण से लक्षणा के कुल ८० भेद माने गये हैं। उनमें से कुछ के उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं:—

प्रयोजनवती गौणी सारोपा लक्षण लक्षणा—

पलक-यवनिका के भीतर छिप **हृदयमञ्च** पर छा छविमय [पन्त]
निश्चल जल के शुचि दर्पण [पन्त]
सिकता की सस्मित सीपी पर **मोती की ज्योत्स्ना** रही विचर [पन्त]
व्योम-सर में हो उठा विकसित **अरुण आलोक शतदल** [दिनकर]

यहाँ उपमान-उपमेय का अभेद-भाव होते हुये भी उपमेय के बने रहने के कारण सारोपा लक्षणा है। उपमेय का महत्त्व और सौन्दर्य बढ़ाने के प्रयोजन से ऐसा किया गया है, अतः यह प्रयोजनवती और मुख्यार्थ के लक्ष्यार्थ का उपलक्षणमात्र होने से लक्षण-लक्षणा हुई। उपमेय और उपमान में सादृश्य-सम्बन्ध होने के कारण यह गौणी लक्षणा है।

प्रयोजनवती शुद्धा सारोपा लक्षण लक्षणा—

(१) नव **अपांग-शर**-हत व्याकुल उर [निराला]

(२) भावुकता अंगूर लता से खींच कल्पना की हाला,
कवि बन कर है साक़ी आया भरकर कविता का प्याला।
पाठक गण हैं पीने वाले पुस्तक मेरी मधुशाला [बच्चन]

इसमें उपमेय-उपमान में सादृश्येतर सम्बन्ध होने से शुद्धा लक्षणा है।

प्रयोजनवती गौणी साध्यवसाना लक्षण लक्षणा—

बाँधा था विधु को किसने इन काली जंजीरों से,
मणिवाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से?
विद्रुम सीपी सम्पुट में मोती के दाने कैसे
है हंस न, शुक यह फिर क्यों चुगने को मुक्ता कैसे? [प्रसाद]

यहाँ उपमान में उपमेय का अध्यवसान हो गया है। उक्त पदों का मुख्यार्थ बाधित होने से सादृश्य-सम्बन्ध के आधार पर लक्ष्यार्थ का बोध होता है। शेष बातें पूर्ववत हैं। अतः यहाँ प्रयोजनवती गौणी साध्यवसाना लक्षण लक्षणा है।

प्रयोजनवती शुद्धा साध्यवसाना लक्षण लक्षणा—

झंझा, झंकोर, गर्जन था, बिजली थी, नीरद माला,
पाकर इस शून्य हृदय को सबने आ डेरा डाला। [प्रसाद]

उठ–उठ री लघु–लघु लोल लहर!
तू भूल न री पंकज-वन में
इस जीवन के सूनेपन में
ओ प्यार पुलक से भरी, ढुलक आ चूम पुलिन के विरस अधर! [प्रसाद]

इसमें उपमान में उपमेय का अध्यवसान होने तथा मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सादृश्येतर सम्बंध होने से शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा है। अप्रस्तुत-योजना के साभिप्राय होने और मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ के उपलक्षण मात्र होने से यह प्रयोजनवती लक्षण लक्षणा भी है।

प्रयोजनवती शुद्धा साध्यवसाना उपादान लक्षणा—

उठती है नग्न तलवार जब स्वतन्त्रता की।—निराला

सतत **व्याकुलता** के विश्राम अरे, ऋषियों के आनन-कुञ्ज!—प्रसाद

उपर्युक्त पदों का मुख्यार्थ बाधित होते हुए भी लक्ष्यार्थ के अंग रूप में वर्तमान है। यहाँ 'तलवार उठती है' का यह अर्थ है कि तलवार चलाने वाले वीर तलवार से युद्ध करते हैं। इसी तरह 'व्याकुलता' का अर्थ है ऐसे व्यक्ति जिनके हृदय में व्याकुलता है। अतः यहाँ प्रयोजनवती शुद्धा साध्यवसाना उपादान लक्षणा है।

रूढ़ा शुद्धा साध्यवसाना लक्षण लक्षणा—

(१) किन्तु जब **पर्वत पड़ा आ शीश पर** मैं सह न पाया।—बच्चन

(२) किस विजय पर **ढोल पीटूँ** किस पराजय पर **धुनूँ सिर**।—बच्चन

(३) **ईंट का जवाब हमें पत्थर से** देना है।—निराला

रेखांकित मुहावरे लोक-प्रसिद्ध हैं अतः यह रूढ़ा लक्षणा है। इन मुहावरों का मुख्यार्थ बाधित होने से लक्ष्यार्थ 'मुसीबतों की अधिकता', 'खुशी मनाना' और 'अपकार का बदला अत्यधिक अपकार से देना' है। इन अर्थों का उपर्युक्त मुहावरों में अध्यवसान हुआ है, उनमें परस्पर सादृश्य-सम्बन्ध होने के कारण शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा है। साथ ही मुख्यार्थ के लक्ष्यार्थ का उपलक्षण मात्र रह जाने से लक्षण लक्षणा भी है।

रूढ़ा शुद्धा सारोपा लक्षण लक्षणा—

(१) छोड़ो यह हीनता,
साँप आस्तीन का,
फेंको दूर।—निराला

(२) **बादल** घिर आये जो **विपत्तियों** के क्षत्रियों पर।—निराला

लोक-प्रसिद्ध होने से उपर्युक्त मुहावरों में रूढ़ा लक्षणा है। पहले में 'हीनता' और 'आस्तीन के सांप' में अभेद भाव होते हुए भी हीनता के मुख्यार्थ के बने रहने के कारण सारोपा लक्षणा है। उसी तरह दूसरे में विपत्तियों और बादल का आरोपित अभेद है। दोनों में उपमान-उपमेय के बीच तात्कर्म्य-सम्बन्ध होने से शुद्धा लक्षणा है। उपर्युक्त मुहावरों का मुख्यार्थ अपने को खोकर लक्ष्यार्थ का उपलक्षण मात्र रह गया है, अतः लक्षण लक्षणा है।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि छायावादी कविता में लाक्षणिक प्रयोगों की अधिकता है। यदि केवल लाक्षणिक प्रयोगों की अधिकता ही रहती तो छायावादी कविता में कोई अधिक विशेषता नहीं रहती क्योंकि संस्कृत और हिन्दी के पुराने साहित्य में भाषा-भंगिमा और लाक्षणिक वैचित्र्य की कमी नहीं रही है। वस्तुतः छायावादी कविता की विशेषता लाक्षणिक प्रयोगों की नवीनता में है।

उसमें कवियों ने अपनी सूक्ष्म कल्पना के बल पर नवीन अप्रस्तुतों–प्रतीक उपमान आदि---की योजना अधिकतर लक्षणा शक्ति के सहारे की है। उन्होंने लाक्षणिक प्रयोगों में कहीं-कहीं इतना अधिक साहस दिखलाया है कि लक्ष्यार्थ का बोध होना कठिन हो जाता है। कहीं-कहीं दोहरी तेहरी लक्षणाओं तक की योजना की गई है जिससे कविता अत्यन्त दुरूह प्रतीत होती है। इन्हीं अस्वाभाविक और दुरूह लाक्षणिक प्रयोगों के कारण ही छायावादी कविता जन सामान्य के बीच नहीं पहुँच सकी। फिर भी लाक्षणिक प्रयोगों के कारण हिन्दी भाषा अधिक शक्तिमती, व्यञ्जक और चित्रात्मक हुई, इसमें कोई सन्देह नहीं।

व्यंजना

कहा जा चुका है कि जब किसी वाक्य के अर्थबोध में अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य वृत्तियाँ अपना अपना कार्य करने के बाद शमित हो जाती हैं उस समय यदि किसी अन्य अर्थ का बोध होता है तो वह उस वाक्य का व्यंग्यार्थ है और शब्द की जिस शक्ति के सहारे इस अर्थ का बोध होता है उसे व्यंजना कहते हैं। व्यंजना से भाषा में सूक्ष्म और गूढ़ भावों तथा उनकी तीव्रता और गहराई को व्यक्त करने की शक्ति उत्पन्न होती है। न्याय और मीमांसा के आचार्य व्यंजना शक्ति को नहीं मानते, किन्तु आलंकारिक इसे स्वीकार करते हैं। अभिधा और लक्षणा से व्यंजना इस अर्थ में भिन्न है कि अभिधा और लक्षणा केवल शब्द के बल पर अर्थबोध कराती हैं किन्तु व्यंजना अर्थ के बल पर भी अन्यार्थ को व्यंजित करती है। इस प्रकार शाब्दी और आर्थी दो प्रकार की व्यंजना होती है। वस्तु, अलंकार और रस की दृष्टि से तीन प्रकार की व्यंजना होती है:– वस्तुव्यंजना, अलंकार-व्यंजना और भाव-व्यंजना। व्यंजना जहाँ शब्द के बल पर व्यंग्यार्थ का बोध कराती है वहाँ वह दो प्रकार की होती है; अभिधामूला और लक्षणामूला। इनमें अभिधामूला शाब्दी व्यंजना के १५, लक्षणामूला के ३२ और आर्थी व्यंजना के ३० भेद माने गये हैं।

अभिधामूला शाब्दी व्यंजना—

अभिधामूला शाब्दी व्यंजना में संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्यसन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति, स्वर, चेष्टा आदि के कारण अनेकार्थी शब्दों के किसी एक अर्थ के बोध होने से वाच्यार्थ के उपरान्त व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। अभिधा के नियंत्रित होने पर इसकी उत्पत्ति होती है, अतः अभिधा–आश्रित होने के कारण यह अभिधामूला कही जाती है।

(१) आह यह मेरा गीला गान !
वर्ण-वर्ण है उर की कम्पन,
शब्द-शब्द है सुधि की दंशन
चरण-चरण है आह । [पन्त]
(२) चातक की चकित पुकारें
श्यामाध्वनि सरल रसीली । [प्रसाद]

यहाँ 'वर्ण' और 'चरण' का अर्थ 'रंग' और 'पांव' न होकर प्रकरण के कारण 'ध्वनि का वर्ण' और 'कविता का चरण' हो गया है । अतः यहाँ प्रकरण-सम्भवा अभिधामूला व्यंजना है । उसी तरह श्यामा का अर्थ यहाँ स्त्री या रात्रि न होकर कोयल है ।

(१) लोचनों में लावण्य अनूप । [पन्त]
(२) निर्जन जलधि-वेला रागमयी संध्या से । [प्रसाद]

यहाँ पहली पंक्ति में औचित्य के कारण लावण्य का अर्थ सौन्दर्य है क्योंकि लोचनों में नमक का गुण नहीं होता । उसीप्रकार 'जलधि—वेला' में साहचर्य के कारण बेला का अर्थ तट है, बेला फूल नहीं । अतः पहले में औचित्यसंभवा अभिधामूला शाब्दी व्यंजना है ।

लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना—

यह लक्षणा पर आश्रित होती है । लक्ष्यार्थ का प्रयोजन जिस शक्ति के द्वारा ज्ञात होता है वह लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना कहलाती है । प्रयोजनवती लक्षणा के जितने भेद होते हैं, लक्षणामूला व्यंजना के भी उतने ही भेद होते हैं । प्रयोजनवती लक्षणा के उदाहरण ही इसके भी उदाहरण हैं ।

जल उठा स्नेह दीपक सा नवनीत हृदय था मेरा
अब शेष धूम-रेखा से चित्रित कर रहा अँधेरा । [प्रसाद]

इसमें पहली पंक्ति में प्रयोजनवती सारोपा लक्षण लक्षणा है और दूसरी में प्रयोजनवती साध्यवसाना लक्षण लक्षणा। इसमें विरहजन्य निराशा की अतिशयता व्यंग्य है, अतः यहाँ लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना है ।

तीर पर कैसे रुकूँ मैं आज लहरों में निमंत्रण ।
आ रहीं प्राची क्षितिज से खींचने वाली सदायें,
मानवों के भाग्य-निर्णायक सितारो, दो दुवायें ।
नाव नाविक फेर ले जा, है नहीं कुछ काम इसका
आज लहरों से उलझने को फड़कती हैं भुजायें । [बच्चन]

इसमें प्रयोजनवती साध्यवसाना लक्षण लक्षणा है। लक्ष्यार्थ से कवि का अत्यधिक उत्साह व्यञ्जित हुआ है। इस प्रकार यहाँ लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना है।

आर्थी व्यंजना—

आर्थी व्यंजना वह शब्दशक्ति है जो निम्नलिखित दस बातों में से किसी एक या कई की विशेषता द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराती है :—१—वक्ता, २—बोधव्य या श्रोता, ३—काकु, ४—वाक्य, ५—वाच्य, ६—अन्यसन्निधि अर्थात किसी तीसरे को सुनाकर किसी से कुछ कहना, ७—प्रस्ताव या प्रकरण, ८—देश, ९—काल और १०—चेष्टा। वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ पर आधारित होने से इन दस भेदों में प्रत्येक के तीन भेद हो जाते हैं। इस प्रकार आर्थी व्यंजना के तीस भेद हैं। यहाँ सबका उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं।

देशवैशिष्ट्य—

हिलते द्रुम-दल कल किसलय, देती गलबाँही डाली।
फूलों का चुम्बन, छिड़ती मधुपों की तान निराली। [प्रसाद]

इसमें वातावरण के चित्रण द्वारा कवि के अतीत जीवन के मिलन-क्षणों के अभिसारादि की व्यंजना हुई है। अतः वातावरण या देश के वर्णन से संभूत होने के कारण तथा वाच्यार्थ से व्यंग्य की प्रतीति होने से यहाँ देश-वैशिष्ट्योत्पन्न वाच्यसंभवा आर्थी व्यंजना है।

कालवैशिष्ट्य—

स्तब्ध निशा है, सुप्त सकल जग, बेसुध है मदमत्त समीरण,
अंग-राग से गंध-अंध जग, सुरभित चंदन-चर्चित यौवन। [नरेन्द्र]

इसमें अभिसार के लिये उपयुक्त काल के चित्रण द्वारा कवि ने अपनी प्रिया से अपनी वासना की तृप्ति के लिए व्यंग्य रूप में निवेदन किया है। लक्ष्यार्थ से व्यंग्य की प्रतीति होने से यह कालवैशिष्ट्योत्पन्न लक्ष्यसंभवा आर्थी व्यंजना है। विरहजन्य वेदना की अतिशयता की प्रतीति निम्नलिखित कविता में भी कालवैशिष्ट्य के कारण ही व्यंग्य द्वारा हो रही है :—

कितनी निर्जन रजनी में तारों के दीप जलाये,
स्वर्गङ्गा की धारा में उज्वल उपहार चढ़ाये। [प्रसाद]

वाच्यवैशिष्ट्य—

जिसने उसको ज्वाला सौंपी, उसने इसमें मकरन्द भरा,
आलोक लुटाता वह घुल-घुल, देता झर यह सौरभ बिखरा,

दोनों संगी, पथ एक, किन्तु कब दीप खिला, कब फूल जला।
[महादेवी]

इसमें दीपक और फूल का वर्णन करती हुई कवयित्री कहती है कि दोनों का निर्माता एक है, दोनों का जीवन त्यागमय और रंगीन है, दोनों ही विश्व का हित-साधन करते हैं किन्तु फिर भी फूल खिलता है और दीपक जलता है। व्यंग्यार्थ यह है कि दुखमय त्याग से ही पवित्र और महान उद्देश्य की पूर्ति होती है। इस व्यंग्यार्थ से फिर यह व्यंग्य ध्वनित होता है कि विश्व-नियन्ता जिस वस्तु से जो कार्य-साधन करना चाहता है, करता है, व्यक्ति या वस्तु उसके साधन मात्र हैं। इस प्रकार वाच्य की विशिष्टता से उत्पन्न होने और व्यंग्य से उत्पन्न व्यंग्य होने के कारण यहाँ वाच्यवैशिष्ट्योत्पन्न व्यंग्यसंभवा आर्थी व्यंजना है।

———

छंद और लय

काव्य के रूपों और अभिव्यक्ति के विभिन्न ढंगों के अतिरिक्त छायावाद-युग में कविता के छंद और लय में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। इस परिवर्तन के मूल में भी वही कारण थे जो छायावादी कविता की भावना और विचारों के परिवर्तन के मूल में थे। कहा जा चुका है कि काव्य में भाव और शैली दोनों ही अन्योन्याश्रित हैं। प्रत्येक नये युग की अनुभूतियाँ पिछले युगों की अनुभूतियों से बहुत कुछ भिन्न होती हैं, अतः उनकी अभिव्यक्ति में भी स्वभावतः भिन्नता आ जाती है। भाषा में अपनी एक स्वाभाविक लय होती है और कविता इस लय में कुछ ऐसी विशेषता पैदा कर देती है जिससे वह गद्य की भाषा से भिन्न हो जाती है। वह विशेषता प्रधानतया इस कारण उत्पन्न होती है कि कविता सामूहिक भावनाओं की वैयक्तिक और उत्कृष्ट अभिव्यक्ति होती है। सामूहिक भावनाओं के कारण ही कविता में वह शक्ति आ जाती है कि वह समाज के विभिन्न व्यक्तियों को एक दूसरे के निकट सम्पर्क में ला देती है। साधारणतया समाज में लोग एक दूसरे को देखते-जानते हुए भी अपनी अलग-अलग सत्ता बनाये रखते हैं यद्यपि उनकी शारीरिक और सामाजिक क्रियाएँ बहुत कुछ एक सी होती हैं। कविता का सम्बन्ध बहुत कुछ सहजात प्रवृत्तियों से है इसलिए वह समाज के विभिन्न व्यक्तियों को ऐसी उत्तेजनापूर्ण स्थिति में पहुँचा देती है जहाँ वे चेतना के व्यक्तिगत घेरे को तोड़कर सामाजिक चेतना की भूमि पर पहुँच जाते हैं। इसी प्रक्रिया को साधारणीकरण कहते हैं जिसमें पाठक अथवा सामाजिक अपने स्व को सामूहिक भावनाओं में विलीन कर व्यक्तिगत सुख-दुख से ऊपर उठ जाता है। इस स्थिति में पहुँचाने के लिए कविता का सबसे बड़ा अस्त्र लय है।

लय और उसके विशिष्ट तथा मर्यादित रूप छंद का आधार आवृत्ति और आशान्विति है। कविता ही नहीं, गद्य में भी एक लय होती है जो उच्चारण और व्याकरण के नियमों से अनुशासित होती है। चूँकि भाषा सामाजिक होती है अतः प्रत्येक व्यक्ति भाषा की लय को संस्काररूप में बचपन से ही ग्रहण करने लगता है और इसी

लय

लिए जब कोई व्यक्ति दूसरी भाषा बोलता है तो उसकी लय को सहज ही नहीं पकड़ पाता और बहुधा उपहास का पात्र बनता है। अँगरेजों और बंगाली लोगों को हिन्दी बोलते हुए सुनकर हँसी इसलिए आती है कि हमारे कान उस लय के अभ्यस्त नहीं हैं जिसमें वे हिन्दी बोलते हैं। उसी प्रकार प्रत्येक भाषा की अपनी लय, अपना उच्चारण, अपने स्वराघात आदि होते हैं और उन भाषाओं के बोलने वाले उन्हीं के अभ्यस्त होने के कारण जब किसी को उस भाषा में बोलते हुए सुनते हैं तो चाहते हैं कि बोलने वाला व्यक्ति भी उन्हीं की तरह उचित ढंग से शब्दों का उच्चारण, उसकी ध्वनियों की आवृत्ति और स्वर या व्यंजन पर आघात करे, अर्थात वे बोलने वाले से एक खास प्रकार की समन्वित लय की आशा रखते हैं। यह क्रिया किसी व्यक्ति में सचेत रूप से नहीं, अनायास होती रहती है। वस्तुतः लय भाषा के शरीर की नाड़ी की गति की तरह है जो शरीर की विभिन्न अवस्थाओं में बदलती रहती है। उसी तरह भाषा की लय भी मानसिक स्थितियों, उत्तेजना, अवसाद और चिन्तन आदि के अनुरूप बदलती रहती है। अतः दर्शन और कविता की भाषा और उसकी लय एक सी नहीं हो सकती। गद्य और पद्य की भाषा और उसकी लय में भी इसी नियम के अनुसार भिन्नता होती है। जब किसी विषय पर ठीक-ठीक सोच-विचार किया जायगा तो उसकी अभिव्यक्ति गद्य में ही होगी। लय, छंद और तुक की सीमाएँ गद्य के लिए बन्धन की तरह हैं। गद्य में ठीक-ठीक सोच-विचार और वर्णन के लिए कोई रोक नहीं रहती किन्तु कविता की लय और उसके छंद बुद्धि से अधिक भावनाओं से और वर्णन से अधिक चित्रण से सम्बन्ध रखते हैं।

गद्य या पद्य में ही नहीं, मनुष्य के जीवन में भी एक लय है जो विविध अवस्थाओं और रूपों में प्रकट होती है। मधुर भावों का संगीत, परुष विवेक का वादन और नाना प्रकार की क्रियाओं का लास्य तथा ताण्डव नृत्य, ये सब जीवन की लय और उसके छंद की विविध अभिव्यक्तियाँ हैं। इसलिए भाषा की लय जीवन की लय से असंबद्ध नहीं है और यही कारण है कि व्याकरण, भाषाविज्ञान, छंदशास्त्र, अलंकारशास्त्र, संगीतशास्त्र आदि का रूप विभिन्न युगों के परिवर्तित जीवन की लय के साथ बदलता रहता है और मनुष्य-जीवन ही क्यों, विश्व की प्रत्येक जड़-चेतन वस्तु के अस्तित्व—उसके जीवन—में एक प्रकार की गति और लय है। गति का अर्थ है प्रवाह। प्रत्येक वस्तु का जीवन प्रवाहमय है और उस प्रवाह में एक प्रकार का स्पन्दन, एक लय अवश्य है जिसे दिशा और काल की भूमिका में रखकर देखा जाता है। नदी का प्रवाह और उसकी

कल-कल ध्वनि संगीतमय होती है। पेड़-पौधे हवा में एक लय के साथ झूमते और मर्मर संगीत सुनाते हैं। प्रत्येक अणु-परिमाणु में आकर्षण और विकर्षण, स्थिति और विकास के द्वन्द्व के बीच एक गति दिखलाई पड़ती है; विश्व-ब्रह्मांड के नक्षत्र-ग्रह आदि सभी एक गति से संचालित हैं, सबमें एक निश्चित लय है। अँगरेजी के रिद्म (Rhythm) का अर्थ भी जीवन्त वस्तुओं का निरंतर स्पन्दन या प्रवाह ही होता है। इस प्रकार जड़-चेतन वस्तुओं की स्पन्दनशील लय को मनुष्य प्रतिक्षण सहज और अनजान रूप से ग्रहण करता रहता है। इसी-लिए कहा जाता है कि भाषा, छंद, संगीत आदि की उत्पत्ति प्रकृति के अनुकरण से हुई। घड़ी की नियमित ध्वनि का अनुकरण कर कोई कहता है कि वह टिक टिक-टिक कर रही है, कोई कहता है कि टिक-टाक-टिक-टाक कर रही है। रेल-गाड़ी की लय का भी इसी प्रकार अनुमान द्वारा अनुकरण किया जाता है। किन्तु वस्तुतः उन वस्तुओं की लय को व्यक्ति अपनी मानसिक भावनाओं के अनुरूप ग्रहण करता और इसीलिए भिन्न-भिन्न ढंग से उसका अनुमान या आरोप करता है। अपने ध्यान को काल और स्थान विशेष में केन्द्रित करने के लिए सहज भाव से मनुष्य जिस मानसिक गति का विधान करता है वही लय है। अतः लय वस्तु पर आधारित होते हुए भी आत्मगत होती है। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति का शारीरिक स्पन्दन, उसकी चिन्तन-शक्ति तथा अन्य मानसिक और शारीरिक शक्तियाँ भिन्न होती हैं, अतः किन्हीं भी दो व्यक्तियों का किसी वस्तु पर आरोपित या अनुमित स्पन्दन, गति, लय और ध्वनि का स्वरूप एक जैसा नहीं होता। इस कारण प्रत्येक व्यक्ति की भाषा, प्रत्येक कवि का छंद और लय-विधान भिन्न होता है।

किन्तु ऊपर कहा जा चुका है कि कविता की लय एक सामाजिक वस्तु है और वह व्यक्ति को सामाजिक व्यक्ति बनाती है। यह कथन ऊपर-ऊपर से देखने पर लय की व्यक्तिनिष्ठ सत्ता के सिद्धान्त का विरोधी मालूम पड़ता है किन्तु बात ऐसी नहीं है। सहजात प्रवृत्तियों में समानता होने के कारण समाज के भिन्न-भिन्न व्यक्ति अप्रत्यक्ष रूप से परस्पर सम्बद्ध होते हैं। इसलिए उनका लय-बोध भी एक दूसरे के समान ही होता है। लय सबको एक सूत्र में पिरोती है और व्यक्तिगत पृथकता के घेरे को तोड़कर सभी व्यक्तियों को सहजात प्रवृत्तियों की समान भूमि पर पहुँचाती है। एक समाज के भीतर प्रचलित भाषा और छन्द की लय दूसरे समाज के व्यक्तियों को उत्तेजित कर समानता की भूमि पर पहुँचाने में अधिक समर्थ नहीं हो सकती। संगीत की लय एक सीमा तक ऐसा कर सकती है क्योंकि वह भाषा की आश्रिता नहीं होती, किन्तु गद्य या कविता की

लय ऐसा नहीं कर सकती। पंत जी का यह कथन ठीक ही है कि "भाषा संसार का नादमय चित्र है, ध्वनिमय स्वरूप है। वह विश्व के हृत्तंत्री की झनकार है जिसके स्वर में वह अभिव्यक्ति पाता है। विश्व की सभ्यता के विकास तथा ह्रास के साथ वाणी का भी युगपद् विकास तथा ह्रास होता। भिन्न-भिन्न भाषाओं की विशेषताएँ भिन्न भिन्न जातियों तथा देशों की सभ्यता की विशेषताएँ हैं। संस्कृत की देव वीणा में जो आध्यात्मिक संगीत की परिपूर्णता है वह संसार की अन्य शब्दतंत्रियों में नहीं, और पाश्चात्य साहित्य के विशद यंत्रालय में जो विज्ञान के कल-पुर्जों की विचित्रता बारीकी तथा सज-धज है वह हमारे भारती-भवन में नहीं। प्रत्येक युग की विशेषता भी संसार की वाणी पर अपनी छाप छोड़ जाती है। एक नित्य सत्य है, एक अनित्य; अनित्य सत्य के क्षणिक पदचिन्ह संसार की सभ्यता के राजपथ पर बदलते जाते; पुराने मिटते, नवीन उनके स्थान पर स्थापित होते रहते हैं। नित्य सत्य उसके शिलालेखों में गहरा अंकित हो जाता है उसे कालानिल के झोंके नहीं मिटा सकते।...... जो अपने सद्यःस्वर में सनातन सत्य के एक विशेष अंग को वाणी देता है, वही नाद उस युग के वायुमंडल में गूँज उठता, उसकी हृत्तन्त्री से नवीन छंदों-तालों में नवीन रागों-स्वरों में प्रतिध्वनित हो उठता; नवीन युग अपने लिए नवीन वाणी, नवीन जीवन, नवीन रहस्य, नवीन स्पन्दन-कम्पन तथा नवीन साहित्य ले आता और पुराना जीर्ण पतझड़ इस नवजात वसंत के लिए बीज तथा खाद स्वरूप बन जाता है। नूतन युग संसार की शब्दतंत्री में नूतन ठाट जमा देता, उसका विन्यास बदल जाता; नवीन युग की नवीन आकांक्षाओं क्रियाओं, नवीन इच्छाओं, आशाओं के अनुसार उसकी वीणा से नये गीत, नये छन्द, नये राग, नई रागिनियाँ, नई कल्पनाएँ तथा भावनाएँ फूटने लगती हैं।" [पल्लव की भूमिका—पृष्ठ १५–१६]

पंतजी ने छंद और लय के सम्बन्ध में परिवर्तन की जो बात कही है इससे किसी का विरोध नहीं हो सकता। छन्द और लय सामाजिक वस्तुएँ हैं और देश तथा काल के परिवर्तन के साथ इनमें भी परिवर्तन होता रहता है। किन्तु यह परिवर्तन क्यों होता है, इसके सम्बन्ध में उन्होंने आंशिक रूप से विचार किया है। स्थान-भेद से लय-भेद क्यों होता है, इसके सम्बन्ध में वे कहते हैं—

"भौगोलिक स्थिति, शीत, ताप, जलवायु, सभ्यता आदि के भेद के कारण संसार की भिन्न-भिन्न भाषाओं के उच्चारण-संगीत में भी विभिन्नता आ जाती है। छन्द का भाषा के उच्चारण, उसके संगीत के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है।"

इस कथन में सांस्कृतिक और सामाजिक तत्व की उपेक्षा की गई है। वस्तुतः

पन्तजी ने भाषा, छन्द और लय में होने वाले परिवर्तनों के सामाजिक पक्ष की ओर ध्यान नहीं दिया है। इन परिवर्तनों का मूल कारण यह है कि समाज के आर्थिक सम्बन्ध व्यक्ति की चेतना को निरंतर बदलते रहते हैं। इसलिये विभिन्न समाजों की विभिन्न आर्थिक स्थितियों में व्यक्तियों की सहजात प्रवृत्तियाँ विभिन्न रूपों में दिखलाई पड़ती हैं। अतः एक समाज की भाषा और उसकी लय अन्य समाज के लोगों को समानरूप से प्रभावित नहीं कर सकती। यही कारण है कि प्रत्येक समाज की कविता उसके छन्द, लय आदि भिन्न होते हैं। यही नहीं, एक ही समाज में विभिन्न आर्थिक मंजिलों पर सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन के साथ भाषा छन्द, लय आदि भी बदलते रहते हैं। किसी समाज की सामन्ती संस्कृति की कविता का छन्द और लय-तत्व उसकी पूँजीवादी व्यवस्था में जाकर दूसरा रूप धारण कर लेते हैं। अतः पूँजीवादी युग में वह समाज अपने सामन्त-युगीन भाषा, छन्द, और लय से अधिक उत्तेजित और प्रभावित नहीं होता; फिर भी समाज संस्कृति के, जिसके भाषा, साहित्य आदि अंगरूप हैं, विभिन्न युगों के बीच में सूत्रवत रहने वाले नैरन्तर्य को स्वीकार करता है। अतः प्रत्येक युग की भाषा, छन्द और लय पिछले युगों से बहुत कुछ ग्रहण भी करती हैं, वे सर्वथा नवीन नहीं होतीं। उनका परिवर्तन नैरन्तर्ययुक्त होता है। सहजात प्रवृत्तियों और सांस्कृतिक परिवेश के निरंतर संघर्ष के कारण समाज के मानस का विकास होता है। उसी तरह सहजात प्रवृत्तियों से उत्पन्न आंतरिक भावों और आवेगों तथा बाह्य परिवेश से उत्पन्न वस्तुगत विचारों के द्वन्द्व के फलस्वरूप भाषा, छन्द और लय में परिवर्तन होता रहता है। यह द्वन्द्व निरंतर होता रहता है, अतः परिवर्तन का क्रम भी निरंतर चलता रहता है। चूँकि सहजात प्रवृत्तियाँ हमेशा रहेंगी इसलिए कविता छन्द और लय भी प्रत्येक समाज और प्रत्येक युग में किसी न किसी रूप में बनी रहेंगी।

पहले कहा जा चुका है कि भाषा की लय जब काल और स्वराघात के साम्य और अन्विति द्वारा नियंत्रित होती है तो उसी का नाम छन्द है। छन्द

छन्द

का अर्थ ही है बन्धन। भाषा में शब्द तो यों भी स्वच्छन्द नहीं होते, अर्थ द्वारा नियंत्रित होते हैं, फिर कविता में तो उन्हें अपनी स्वतंत्र लय को कविता के समन्वित लय में डुबा देना पड़ता है। उन्हें स्वर और भाव की मैत्री में पूर्ण रूप से योग देना पड़ता है। इसलिए कविता के शब्द बन्धनग्रस्त होते हैं किन्तु इस बन्धन से ही संगीत की सृष्टि होती है जिसका आधार है स्वरमैत्री, स्वर-संप्रसारण, आरोह-अवरोह आदि। कविता में भी यही बात दिखलाई पड़ती है। कविता के भीतर निहित

संगीत या लय की छन्द के भीतर ही पूर्ण रूप से अभिव्यक्ति हो सकती है। छन्द के सम्बन्ध में सुमित्रानन्दन पन्त कहते हैं :—

"कविता तथा छंद के बीच बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छंद हृत्कम्पन, कविता का स्वभाव ही छंद में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बंधन से धारा की गति को सुरक्षित रखते,—जिनके बिना वह अपनी ही बन्धनहीनता में अपना प्रवाह खो बैठती है—उसी प्रकार छंद भी अपने नियंत्रण से राग को स्पन्दन-कम्पन तथा बेग प्रदान कर निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल, कलरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं। वाणी की अनियंत्रित साँसें नियंत्रित हो जातीं तालयुक्त हो जातीं, उसके स्वर में प्राणायाम, रोमों में स्फूर्ति आ जाती, राग की असंबद्ध झंकारें एक वृत्त में बँध जातीं, उनमें परिपूर्णता आ जाती है। [पल्लव की भूमिका—पृष्ठ—२४]

कुछ लोग कविता को बहिरंग और अंतरंग दो रूपों में विभाजित करते हैं और छंद, तुक, अन्त्यानुप्रास आदि को बहिरंग मानकर उन्हें काव्य के लिए अनिवार्य नहीं समझते हैं। वे उसकी लय को ही महत्व देते हैं। उनके अनुसार काव्य में वर्ण्यवस्तु के संगीत अथवा लय-तत्व को यथावत चित्रित कर देना ही पर्याप्त है चाहे उसमें छंद अन्त्यानुप्रास आदि हों या न हों। वे कहते हैं कि भाव, विचार या सम्वेदना की अभिव्यक्ति काव्य नहीं है, बल्कि उस वस्तु की लय, उसकी गति और ध्वनि का सफल प्रतिनिधित्व करने वाली रचना ही काव्य है। पश्चिम के मूर्त्तिमत्तावादियों (impressionists) का यही विचार है। इसीलिए वे छंद आदि का बहिष्कार करते हैं और कहते हैं कि अलंकारों की तरह छंद भी काव्य के आभूषण मात्र हैं। शेली ने भी इस सम्बन्ध में कहा था कि "कवियों और गद्य लेखकों में अन्तर करना एक भद्दी गलती है। प्लेटो मूलतः एक कवि था; उनके चित्रण में सत्य और वैभव और उसकी भाषा में लालित्य इतना अधिक है जिसकी कल्पना ही की जा सकती है......लार्ड बेकन भी एक कवि ही था।" कालरिज का कहना था कि प्लेटो, और बर्नेट की रचनाएँ इस बात का अकाट्य प्रमाण हैं कि छंद के बिना भी उच्च कोटि की कविता हो सकती है"। पंतजी का उपर्युक्त उद्धरण शेली और कालरिज के कथन के विरुद्ध पड़ता है। मेरे विचार से पंतजी के कथन में बहुत अधिक सचाई है। वस्तुतः किसी न किसी प्रकार के छंद-बंधन के बगैर भाषा की लय अनियंत्रित होकर अपना प्रभाव खो देती है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि छंदोबद्ध लय कवि और पाठक का ध्यान एक विशेष स्थल पर केन्द्रित करती है और उसमें सहजात प्रवृत्तियों की उत्तेजनापूर्ण अवस्था को स्थायित्व

प्रदान करने का गुण होता है । इसी कारण स्मृति में छंदोबद्ध रचना शीघ्र अंकित हो जाती है और उसे बार-बार याद करके दुहाराया जा सकता है । प्रारम्भिक मानव-समाज में इसी कारण छंदमय साहित्य की ही प्रधानता थी और सभी विषय छंदोबद्ध रूप में ही उपस्थित किए जाते थे । इससे यह प्रतीत होता है कि जो कुछ छन्दोबद्ध है सब कविता नहीं हैं, किन्तु सब कविताएँ छंदोबद्ध अवश्य होती हैं । शेली और कालरिज के कथन में इस बात की ओर संकेत किया गया है कि छंद के बंधनों को कवि का बंधन नहीं बनना चाहिए । अलंकार, नायक-नायिका भेद, विभावादि के नियम, गुणरीति के शास्त्रीय विधान आदि की तरह छंद-तुक आदि के नियम भी जब काव्य को शिकंजे में कसकर उसे स्वतंत्र भावों के प्रकाशन में अक्षम बना देते हैं तो उन नियमों को तोड़कर स्वतंत्र और नए नियमों की ओर क्रान्तदर्शी कवियों का ध्यान जाता है । इसी अर्थ में 'निरंकुशाः कवयः' की लोकोक्ति भी प्रचलित हुई थी। तात्पर्य यह कि काव्य को सामाजिक बनाने के लिए उसमें छंद-विधान का होना अत्यंत आवश्यक है । छंदों के कारण लय और भाव का नैरन्तर्य बना रहता है जिससे अतीत और वर्तमान तथा कवि और पाठक के बीच सम्बन्ध की कड़ी जुड़ती है । छंद केवल कवि के ही मन में नहीं होता, पाठक के मन में भी होता है । उसी तरह छंद शब्द अथवा वाद्य की ध्वनि और ताल ही में नहीं होता बल्कि ग्रहीता के भीतर होने वाली प्रतिक्रिया में भी होता है । लय के भीतर गति, यति, ताल, आरोह-अवरोह के नियमन द्वारा छंद का विधान होता है, किन्तु उसका प्रभाव श्रोता या ग्रहीता अपने मन के संस्कारों में पड़े हुए छान्दिक साँचे के अनुसार ग्रहण करता है । आवृत्ति और आशान्विति पर ही छंद आधारित होता है । किसी कविता की कुछ पंक्तियाँ पढ़ या सुनकर पाठक अपने मन के छांदिक साँचे में उसे ढालता और तब उसकी आवृत्ति करके यह आशा करता है कि अगली पंक्तियाँ भी उसी ढले हुए छंद और लय के अनुरूप होंगी । संगीत और काव्य का विद्यार्थी इसी आशान्विति के गुण के आधार पर ही प्रशिक्षित होता है ।

मात्रासाम्य और स्वरसाम्य

नियमित छंदों में पंक्तियों में मात्रा-साम्य और स्वर-साम्य का विधान रहता है । उदाहरण के लिए दोहा में दो पंक्तियाँ अथवा चार चरण होते हैं, पहले और तीसरे चरणों में तेरह-तेरह और दूसरे और चौथे चरणों में ग्यारह-ग्यारह मात्राएँ होती हैं । विषम (पहिला और तीसरा) चरणों के आदि में जगण नहीं होना चाहिए और सम (दूसरे और चौथे) चरणों के अंत में गुरु-लघु होना चाहिए । इस प्रकार दोहा एक नियमित छंद है । इसमें सम चरणों के

अंत में स्वरमैत्री (तुक) भी आवश्यक है। इससे छंद में सामंजस्य (Harmony) उत्पन्न हो जाता है। यह सोचना कि नियमित छंदों के सामंजस्य के कारण ही प्रभावान्विति उत्पन्न होती है, उतना ही गलत है जितना यह सोचना कि अनियमित छंदों (मुक्त छंदों) की अनन्यरूपता के कारण प्रभावान्विति उत्पन्न होती है। सामंजस्य या अनुरूपता के कारण आगे आने वाली पंक्तियों के सम्बन्ध में जो आशा उत्पन्न होती है उसमें निश्चयात्मकता रहती है। इसी कारण ऐसा छंद पाठक का ध्यान अपनी ओर खींचता है। उर्दू की गजलों में यह गुण बहुत अधिक होता है और सुनाने के पहले ही सुनने वाला बाद वाली पंक्तियों या अन्त्यानुप्रासों का अनुमान कर लेता है। इसी कारण उर्दू की अथवा रीतिकालीन कविताओं में चमत्कार और प्रभावान्विति दिखलाई पड़ती है। किन्तु यह नियमितता (regularity) ही बहुधा प्रभावान्विति में बाधा भी उत्पन्न करती है। जिस आगे आने वाली बात को पाठक या श्रोता पहले ही से जान लेता है उसका प्रभाव क्षणिक और छिछला होता है और गम्भीर पाठक के लिए जानी हुई बात को बार-बार सुनना या पढ़ना कष्टदायक मालूम पड़ता है। गद्य में आगे आने वाले शब्दों या अनुबन्धों का पता लगाना कठिन होता है। इसी कारण कुछ लोग मात्र लय के आधार पर ही अनियमित छंदों का विधान करते हैं। अतः छंद में सम-विषम मात्राओं का प्रश्न इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना प्रभावान्विति का। दोनों ही तरीकों से छंद में प्रभावान्विति आ सकती है और दोनों ही में असफलता की आशंका भी सदैव बनी रहती है। कोई भी सच्चा कवि-छंद रचना करते समय मात्रासाम्य या स्वरसाम्य के लिए सचेष्ट होकर प्रयत्न नहीं करता। भावों के अनुरूप उसके छंद अपने-आप सूत्रवत निकलते चलते हैं। अन्त्यानुप्रासों के संबन्ध में भी यही बात लागू होती है। कहीं-कहीं तो अन्त्यानुप्रास संगीतात्मकता और सामंजस्य उत्पन्न कर प्रभाव को बढ़ा देते हैं और कहीं-कहीं वे भावाभिव्यक्ति में बाधक भी बन जाते हैं। उनका व्यवहार बहुत कुछ समाज की रुचि पर निर्भर करता है। अन्त्यानुप्रासों में स्वर और व्यंजन के साम्य के कारण बहुधा एकरसता भी उत्पन्न हो जाती है जो प्रभावान्विति में बाधा उत्पन्न करती है।

छन्द, लय और अन्त्यानुप्रास के सम्बन्ध में ध्यान देने की प्रधान बात यह है कि युग और समाज की रुचि के अनुसार ही उनका विधान हुआ करता है। प्रत्येक समाज अपने संस्कारों के रूप में जीवित रहता है; अतः वह ऐसे ही छन्द और लय को पसंद करता है उसके कान जिसके अभ्यस्त होते हैं। समाज के कानों का अभ्यास भी बदलता रहता है। विभिन्न समाजों और संस्कृतियों के सम्पर्क के

कारण नयी भाषा, नये छन्द और नयी लय का प्रचलन होता है और धीरे-धीरे समाज उसका अभ्यासी हो जाता है अर्थात जीवन के छन्द के अनुरूप काव्य का छन्द भी हो जाता है। छायावाद-युग के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त को लागू करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जीवन के छन्द के साथ काव्य का छन्द किस प्रकार बदलता है। कविता सहजात प्रवृत्तियों से सम्बन्धित रहने के कारण यों ही बहुत कुछ आत्मगत होती है पर पूँजीवादी समाज में व्यक्तिवाद की प्रधानता हो जाने के कारण कवि यह सोचने लगता है कि वह समाज से अलग हो कर अपनी ही आत्मा का प्रकाशन कर रहा है। किन्तु वस्तुतः वह अपनी आत्मा की नहीं, वाह्य समाज के ही भावनात्मक जगत की अभिव्यक्ति करता है। जब वह "कला कला के लिए" का सिद्धान्त मानकर अपने को समाज से पृथक् समझने लगता है तो उसे कविता के छन्द और लय-तत्व की चिंता नहीं रह जाती, वह मुक्तछन्द के माध्यम से अपनी वैयक्तिक भावनाओं की अभिव्यक्ति करने लगता है।

पूँजीवाद के उदय और उत्थान के काल में कवि छन्द और लय का उतना बहिष्कार नहीं करता। वह उसमें नवीनता उत्पन्न करके नवीन शक्ति और नया प्रभाव लाने का प्रयत्न करता है। उस समय पूँजीवादी वर्ग स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व के सिद्धान्त से समाज के अन्य वर्गों को मंत्रमुग्ध करके सामन्तवाद के बन्धनों से मुक्ति पाने के लिए संयुक्त मोर्चा कायम करता है। उसी तरह पूँजीवादी कवि भी कविता में स्वतंत्रता की सामूहिक भावना की अभिव्यक्ति करता है। इसके लिए वह लोक-छन्दों को ग्रहण करता और लय-तत्व की सहायता से समाज की सहजात प्रवृत्तियों को उत्तेजित करता है। कहने का तात्पर्य यह कि पूँजीवाद के उत्थान की अवस्था में कविता में लय-तत्व का बहिष्कार नहीं किया जाता, किन्तु सामन्ती कविता के लय-तत्व को भी नहीं अपनाया जाता। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, पूँजीवादी समाज में सांस्कृतिक परिवेश बदल जाता है और सहजात प्रवृत्तियों के साथ उसका द्वन्द्व भी दूसरा रूप धारण कर लेता है। इसलिए कविता का लय-तत्व भी सामन्तवादी कविता के लय-तत्व से भिन्न हो जाता है। हिन्दी में रीतिकालीन कविता का लय-तत्व अत्यन्त एकरस, शिथिल और शक्तिहीन हो गया था क्योंकि उसमें बदले हुए सांस्कृतिक परिवेश में समाज की सहजात प्रवृत्तियो को उत्तेजित करने और समाज को क्रियाशील बनाने की शक्ति नहीं रह गई थी। संक्रान्ति-युग में उस लय-तत्व में परिवर्तन का कार्य शुरू हो गया और कवियों ने रीतिकालीन छंदों और लय-तत्व को छोड़ कर लोकगीतों और लोकछंदों की लय ग्रहण करने की प्रवृत्ति दिखलाई।

किन्तु पुनरुत्थान युग की समझौतावादी प्रवृत्ति के कारण मध्यकालीन सामन्ती छंद और लय-तत्व को तो अवश्य छोड़ा गया पर उसकी जगह संस्कृत के अधिकांश वर्ण वृत्तों के नियम में बँधी हुई मर्यादित लय को स्वीकार करके पुनरावर्तन की प्रवृत्ति का पोषण किया गया। साथ ही कुछ कवियों ने लोकछंदों की सामान्य लय को भी स्वीकार किया और शास्त्रीय मात्रिक छंदों में स्वच्छंदता पूर्वक परिवर्तन करके समाज के लिए सहज बोधगम्य लय का विकास किया। छायावाद-युग में पुनरावर्तन की प्रवृत्ति बहुत कुछ छूट गई। इस युग के कवियों ने छंद, लय, अंत्यानुप्रास आदि के ऊपरी सामन्ती बंधनों से कविता को मुक्त किया और अपनी कविता के लिए छंद लय सम्बन्धी स्वतंत्र और मौलिक नियमों का विधान किया। इसलिए इस युग की कविता में छंदों की विविधता, मौलिकता और नवीनता दिखलाई पड़ती है। इन कवियों ने न केवल लोकगीतों के छंदों को अपनाया बल्कि प्रचलित मात्रिक और वर्णिक छन्दों में मात्राएँ घटा या बढ़ा करके, अंत्यानुप्रासों को छोड़कर, छंदों की पंक्तियों और चरणों की संख्या घटा-बढ़ा कर, गीतों में आन्तरिक पदों और टेकों का विधान कर तथा मुक्तछंद और लयहीन गत्यात्मक छंदों की रचना कर अपनी स्वतंत्रता की कामना को परितृप्त किया। यही नहीं उन्होंने धीरे-धीरे लोकरुचि को भी बदला और इस प्रकार समाज में स्वतंत्रता की भावना उत्पन्न करने की कोशिश की। इस युग के छंद-विधान में उसी प्रकार की तीव्र सम्वेदना का हाथ है जो शेली, कीट्स, स्विनबर्न ब्राउनिंग और वाल्ट ह्विटमैन में दिखलाई पड़ती है। वस्तुतः छायावादी कवियों ने प्रत्येक दिशा में नये प्रयोग किये जिनमें से अधिकतर प्रयोग सफल हुए। बाद में चलकर जब पूँजीवाद ह्रासोन्मुख होने लगा तो प्रयोग के लिए प्रयोग होने लगा।

छायावाद-युग में मुक्त छंद का भी प्रचार हुआ। जिसे व्यंग में रबर छंद या कंगारू छंद भी कहा गया। निराला, पंत, प्रसाद सभी ने छंदों के सम्बन्ध में स्वच्छंदता बरती। मुक्त-छंद का आधार लय है। ऊपर कहा

मुक्त-छंद

जा चुका है कि संयमित और बन्धनयुक्त लय ही छंद है। मुक्त छंद में यह बन्धन नहीं रहता। लय छंद के नियमों द्वारा अनुशासित नहीं होती बल्कि भावनाएँ उसका नियंत्रण करती हैं। इसलिए भाव और भाषा का सामंजस्य मुक्त छंद में पूर्ण रूप से निभाने का अवसर मिलता है। छंद में चरणों की मात्राएँ, यति और विराम नियमित होते हैं, इसलिए शब्दों को उन्हीं के चौखटे में कसना पड़ता है। भावों के अनुरूप वे शब्द जब उस चौखटे में नहीं अँट पाते हैं तो उन्हें बदल कर अन्य शब्द रखने

पड़ते हैं जो भावों का ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व नहीं कर पाते। चरणों की मात्राओं को पूरा करने के लिए बहुधा भरती के शब्द भी रखने पड़ते हैं और अन्त्यानुप्रास के लिए भी अनावश्यक शब्दों को भरना पड़ता है। छंद और तुक की नियमितता से मुक्ति मिल जाने पर भावनाओं को स्वच्छंद रूप से व्यक्त होने और अपने लिए उपयुक्त शब्द उपस्थित करने का अवसर मिलता है। इसलिए उसमें पंक्तियाँ कवि के सुविधानुकूल छोटी-बड़ी होती हैं। इस सम्बन्ध से पंत का यह वक्तव्य अवलोकनीय है :—

"इस प्रकार की कविता में अंगों के गठन (Solidity of expression) की ओर विशेष ध्यान रखना पड़ता है। इसमें चरण इस लिए घटाये-बढ़ाये जाते हैं कि काव्य संबद्ध, संयमित रहे; उसकी शरीर-यष्टि न गणेश जी की तरह स्थूल तथा मांसल हो न व्रजभाषा की विरहिणी के सदृश अस्पष्ट अस्थि-पंजर। जहाँ छन्द के पद भावानुसार नहीं जाते और मोहवश अपनी सजावट ही के लिए घटते-बढ़ते, चीन की सुन्दरियों अथवा पाश्चात्य महिलाओं की तरह केवल अपने चरणों को छोटा रखने के लिए तंग जूते, कमर को पतली रखने के लिए चुस्त पेटी पहनने लगते वहाँ उनके स्वाभाविक सौन्दर्य का विकास तो रुक ही जाता है, कविता अस्वस्थ तथा लक्ष्यभ्रष्ट हो जाती है।"

[पल्लव की भूमिका—पृष्ठ ३८]

इस कथन से स्पष्ट है कि अलंकारों की भाँति छन्द भी रीतिकालीन कविता के बन्धन थे जो साधन न रहकर साध्य बन गये थे। छायावादी कविता में उनके प्रति विद्रोह हुआ। यह विद्रोह पुराने छन्दों को छोड़कर नये छन्द ग्रहण करने और छन्द के बन्धनों को काटकर भाव और भाषा का सामंजस्य स्थापित करने के रूप में दिखलाई पड़ा। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि छायावादी कवियों ने छन्द और लय की तरफ ध्यान नहीं दिया। इसके विपरीत इस युग में छन्द और लय की तरफ जितना ध्यान दिया गया उतना इसके पहले किसी युग में नहीं दिया गया था। कवियों ने छन्दों की प्रवृत्ति को पहचान कर भावानुकूल छन्दों का व्यवहार किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने शास्त्रीय छन्दों में तोड़मोड़ करके उन्हें नया रूप दिया, उनकी एकरसता दूर की। अंत्यानुप्रास उनके लिए अनिवार्य नहीं रह गया। उन्होंने छन्दों के यति, विराम, मात्रा, संख्या आदि के बंधनों को छोड़कर मुक्तछन्द का भी प्रारम्भ किया। इस प्रकार मुक्तछन्द में छायावादी विद्रोह की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। फिर भी किसी न किसी प्रकार का छन्द छायावादी कविता में सर्वत्र दिखलाई पड़ता है। मुक्तछन्दों में भी परम्परागत छन्दों की लय, उनका संगीत-तत्व अवश्य ग्रहण किया गया,

भले ही उनका ऊपरी बंधन तोड़ दिया गया हो। कुछ मुक्त छन्द ऐसे भी हैं जिनमें बंगला या अँगरेजी के छन्दों की लय ग्रहण की गई है और कहीं-कहीं मात्र गद्य की लय का ही अनुसरण किया गया है।

काव्य और संगीत का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यों तो काव्य में अन्य सभी कलाएँ परोक्ष रूप से मिली रहती हैं किन्तु चित्र और संगीत का समन्वय उसमें स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। संगीत का आधार स्वर है जो मात्रा और ताल द्वारा नियंत्रित होता है। संगीत में शब्द का उतना महत्व नहीं होता जितना नाद का, अर्थात वह अर्थ को महत्व नहीं देता, केवल नाद द्वारा प्रभाव उत्पन्न करता है। किन्तु काव्य नाद-तत्व को छोड़ कर नहीं चल सकता। काव्य में शब्द और अर्थ का सामंजस्य नाद-तत्व द्वारा प्रकट किया जाता है और संगीत में नाद-तत्व ही प्रधान रहता है, शब्दार्थ का महत्व नहीं होता। फिर भी ये इतने निकटवर्ती हैं कि कभी-कभी दोनों एकरूप हो जाते हैं। भारतीय काव्य तो संगीत का ही सहारा लेकर चला और उसी तरह भारतीय संगीत भी काव्य को अपनाकर ही विकसित हुआ। लोकगीतों में काव्य और संगीत की एकता अब भी बनी हुई है। गीति-काव्य में दोनों का सम्बन्ध सबसे अधिक घनिष्ठ दिखलाई पड़ता है। भक्तिकाल में अधिकांश कवियों ने गेय पदों की रचना की। कबीर के पद तो जनता द्वारा सबसे अधिक गाये जाते हैं। अन्य कवियों जैसे सूर, तुलसी, मीरा आदि ने भी संगीत के आधार पर ही पदों की रचना की। तुलसी और सूर ने तो अपने गीतों के लिए रागों का नामकरण भी कर दिया। इस युग की कविता ने जिस संगीत को अपनाया वह शास्त्रीय, बंधनग्रस्त संगीत नहीं, मुक्त संगीत था, जो साधारण जन के लिए भी व्यवहार्य था। रीतिकाल की कविता सूक्ति और उक्ति प्रधान होने के कारण संगीतविरहित हो गई। छायावाद-युग में गीति-काव्य का प्रचलन होने पर काव्य में संगीत-तत्व का फिर प्राधान्य हो गया।

संगीत-तत्व

छायावादी युग में काव्य में जो संगीत दिखलाई पड़ता है वह शास्त्रीय संगीत न होकर कवियों द्वारा निर्मित उनका अपना संगीत है। उन्होंने शब्द और भाव के संगीत को पकड़ कर अपने संस्कारों के अनुरूप उन्हें ढालने का प्रयत्न किया है। व्यक्तिवादी और सर्वात्मवादी होने के कारण उन्हें प्रत्येक वस्तु में एक ही संगीत सुनाई पड़ा चाहे वह उस वस्तु में हो या न हो। उस संगीत का विधान उन्होंने अपनी कविता में किया। स्पष्ट ही वह संगीत शास्त्रीय नहीं स्वच्छन्द बटगायकों का संगीत था। किन्तु सभी कवि बटगायक ही नहीं थे। उनमें से निराला ने गीतों में जो संगीत दिया है वह बहुत कुछ शास्त्रीय है

यद्यपि उन्होंने भी शास्त्रीय संगीत में हेरफेर करके नवीन संगीत देने का प्रयत्न किया है। 'गीतिका' की रचना तो जैसे उन्होंने संगीत के लिए ही की है। निराला ने ही नहीं, रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी इसी प्रकार का संगीत दिया है। उन्होंने पाश्चात्य और भारतीय संगीत के मिश्रण से एक नवीन शैली ही चलाई जो रवीन्द्र-संगीत के नाम से प्रसिद्ध है। विभिन्न संस्कृतियों का सम्पर्क होने पर संगीत के तत्वों का मिश्रण होना भी स्वाभाविक ही है। इस सम्बन्ध में 'गीतिका' की भूमिका में निराला ने लिखा है:—

"जिस तरह मुसलमानों के शासन-काल में गजलों की एक नए ढंग की अदायगी देश में प्रचलित हुई और लोकप्रिय भी हुई—आज युक्तप्रांत, पंजाब, बिहार आदि प्रदेशों में गजलों का जनता पर अधिक प्रभाव है—उसी तरह यहाँ अँगरेजी संगीत का प्रभाव पड़ा। अभी अँगरेजी संगीत का प्रभाव बंगाल के अलावा अन्य प्रदेशों पर विशेष रूप से नहीं पड़ा। दूसरे लोगों ने अपने गीतों की स्वरलिपि उस तरह से तैयार करके जनता के सामने नहीं रखी; पर यह प्रभाव बंगाल के अलावा अन्यत्र भी अब फैल रहा है।"

इससे यह स्पष्ट है कि छायावादी कविता के संगीत पर पाश्चात्य और बँगला संगीत का प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से पड़ा है। पश्चिम में शास्त्रीय संगीत की तरह गाने वाले एक ही राग और एक ही स्वर को अनन्त काल तक नहीं दुहराते रहते। वहाँ संगीतज्ञ नई-नई राग-रागिनियों का विधान और नवीन स्वर-मैत्री द्वारा गीतों का निर्माण करते हैं। वे गायक नहीं विधायक (Composers) कहलाते हैं। इसलिए उनके यहाँ राग-रागिनियों की स्वरलिपियों का होना आवश्यक है और गायक-वादक उन स्वरलिपियों को देख-देख कर अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं। इस पद्धति का प्रभाव भारतीय संगीत पर भी पड़ा। विष्णुदिगम्बर, भातखण्डे आदि ने शास्त्रीय संगीत की स्वरलिपि तैयार की और देश भर में प्रचलित राग-रागिनियों का संग्रह किया। बाद में नवीन संगीत का विधान करने की प्रथा किस प्रकार तेजी से बढ़ी, सिनेमा के गानों से इसका पता चल जाता है। कविताओं के बारे में भी यही बात लागू होती है। कवियों ने अपनी कविताओं को गाने का नया नया ढंग निकाला अर्थात इन्होंने काव्य में संगीत भी दिया जो शास्त्रीय संगीत से भिन्न था। कविसम्मेलनों में सस्वर कविता-पाठ करने की प्रथा से काव्य में गेय गुण अधिक दिखलाई पड़ने लगा। सिर्फ निराला ही ऐसे कवि थे जिन्होंने अपनी कविताओं को शास्त्रीय संगीत में भी बाँधा। प्रसाद जी ने भी संगीत-तत्व को बहुत अधिक महत्व दिया क्योंकि वे स्वयं निराला की तरह शास्त्रीय संगीत के ज्ञाता थे। संगीत सम्बन्धी स्वच्छन्दता

के फलस्वरूप छायावादी कविता में नये छन्दों और नयी लय का आधिक्य दिखलाई पड़ने लगा, यहाँ तक कि गद्य की पंक्तियाँ भी तोड़-मोड़कर नीचे ऊपर रख दी गयीं और उनमें लयतत्व का आरोप कर दिया गया। ऐसे मुक्त छन्द में स्वरमैत्री नहीं होती वैसे गाने के लिए तो गद्य को भी गाया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि छंद, लय, तुक, संगीतात्मकता सभी में छायावादी कवियों ने क्रान्तिकारी परिवर्तन किये। सभी कवियों ने छंद की आवश्यकता भी महसूस की और साथ ही छंद के बंधनों को तोड़ा भी। पहले कहा जा चुका है कि सामन्तयुगीन कविता में अधिकतर कवित्त-सवैया और दोहा-सोरठा आदि छंदों का ही प्रयोग होता था। संक्रान्ति-युग में उसकी प्रतिक्रिया हुई और भारतेन्दु, प्रतापनारायण, प्रेमघन, बालमुकुन्द गुप्त आदि कवियों ने रीतिकालीन छन्दों के अतिरिक्त अन्य मात्रिक छन्दों—रोला, छप्पय, आदि तथा उर्दू की बहरों का भी प्रयोग किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने लोकगीतों—बिरहा, कजरी, लावनी, ख्याल आदि का भी काव्य में प्रयोग प्रारंभ किया किन्तु पुनरुत्थान-युग में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने कवियों से यह आग्रह किया कि हिन्दी के मात्रिक छन्दों के अतिरिक्त संस्कृत के वर्णवृत्तों में भी कविता लिखनी चाहिए। अतः उस युग में वर्णिक छन्दोंका प्रचलन अधिक हुआ यद्यपि हरिगीतिका, गीतिका, रोला आदि मात्रिक छन्दों का प्रयोग भी कम नहीं हुआ। श्रीधर पाठक, मुकुटधर पाण्डेय, मैथिलीशरण गुप्त आदि ने लोकगीतों में प्रचलित छन्दों को सुधार-सँवार कर अपनाया तथा मात्रिक छन्दों में ही परिवर्तन करके प्रगीत मुक्तक और गीत शैली का प्रारम्भ किया। गुप्त जी ने माइकेल मधुसूदन दत्त के मेघनाद-बध का अनुवाद अंत्यानुप्रासहीन छन्द में किया और इसी समय प्रसादजी ने महाराणा का महत्व और प्रेम पथिक नामक काव्योंकी रचना अन्त्यानुप्रासहीन छन्दों में की। छायावाद-युग का प्रारम्भ होने पर कवियों ने संक्राति-युग के बाद की नवीन छान्दिक परम्परा का उत्तराधिकार सँभाला। पर वर्णवृत्तों का बन्धन उन्हें सह्य नहीं था, अतः उन्होंने अधिकतर मात्रिक छन्दों का ही व्यवहार किया। उर्दू और बँगला के लयतत्व का भी इनके ऊपर प्रभाव पड़ा।

संस्कृत के वर्णवृत्तों का हिन्दी में प्रयोग अस्वाभाविक था क्योंकि वर्ण-वृत्तों में संस्कृत के समस्त पदों, विभक्तियुक्त शब्दों और लम्बे-लम्बे वाक्यों की खपत अंत्यानुप्रासहीन आसानी से हो सकती थी। किन्तु हिन्दी की प्रवृत्ति संस्कृत से विपरीत है। इस सम्बन्ध में पन्त ने लिखा है, "हिन्दी का

संगीत केवल मात्रिक छन्दों ही में अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता, उन्हीं के द्वारा उसमें सौन्दर्य की रक्षा की जा सकती है। वर्णवृत्तों की नहरों में उसकी धारा अपना चंचल नृत्य, अपनी नैसर्गिक मुखरता, कल-कल छल-छल तथा अपनी क्रीड़ा, कौतुक, कटाक्ष एक साथ ही खो बैठती है।" [पल्लव की भूमिका–पृष्ठ २६]

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि हिन्दी के मात्रिक छन्दों में मात्राओं और चरणों की संख्या नियमित होते हुए भी उनकी लय में शब्दों के लिए पर्याप्त स्वतंत्रता होती है और कवि अभ्यास द्वारा उन्हें नहीं सीखते, प्रयोग और संस्कार द्वारा ही समझ लेते हैं। अतः अंत्यानुप्रास उनके लिए बहुत बड़ा बंधन नहीं है। इसके विपरीत वह सौन्दर्य को बढ़ाने वाला हो जाता है। अतः छायावादी कवियों ने मात्रिक छन्दों का प्रयोग अधिक किया और रीतिकालीन छन्दों का बहिष्कार किया। पंत ने तो स्पष्ट घोषित किया कि "सवैया तथा कवित्त छन्द भी मुझे हिन्दी की कविता के लिए अधिक उपयुक्त नहीं जान पड़ते......सवैया में एक ही सगण की आठ बार पुनरावृत्ति होने से उसमें एक प्रकार की जड़ता, एकस्वरता आ जाती है।" सारांश यह कि छन्दों के चुनाव में कवियों का ध्यान भावनाओं के पूर्ण प्रकाशन पर था, अतः उन्होंने भावानुकूल मात्रिक छन्दों को चुना और दो दो छन्दों को एक ही में मिलाकर मिश्र छन्दों का भी निर्माण किया अथवा एक ही छन्द के विभिन्न चरणों में मात्राओं की संख्या में असमता रक्खी। विषम मात्रिक छन्द वाली कविता का यह उदाहरण है :—

अरे ये पल्लव बाल !
सजा सुमनों के सौरभ हार
गूथते वे उपहार
अभी तो हैं ये नवल प्रवाल,
नहीं छूटी तरु-डाल !

['पल्लव'—पंत]

शास्त्रीय छन्दों में चरणों और उनकी मात्राओं की संख्या निश्चित रहती है। ऊपर उद्धृत कविता में एक ही छन्द के विभिन्न चरणों में मात्राभेद द्वारा एकस्वरता दूर करने का प्रयत्न किया गया है। पहले, तीसरे और पाँचवें चरणों में बारह बारह मात्राएँ हैं और दूसरे और चौथे चरणों में सोलह सोलह मात्राएँ हैं। उसी कविता में आगे चलकर एक ही पद (Stanza) के चारों चरण समान मात्रा वाले हैं।

हृदय के प्रणय कुंज में लीन
मूक कोकिल का मादक गान,
बहा जब तन-मन बंधनहीन
मधुरता से अपनी अनजान।

इस पद में छन्द पहले ही पद वाला है और पहले पद के दूसरे और चौथे चरणों में जितनी मात्रायें हैं उतनी मात्रायें इस पद के सभी चरणों में हैं। निष्कर्ष यह है कि इस कविता में शुरू से अन्त तक एक ही छन्द प्रयुक्त हुआ है किन्तु विभिन्न चरणों की मात्राओं के सम्बन्ध में कवि ने स्वतंत्रता बरती है। गीतों की पद-योजना में भी छायावादी कवियों ने अधिकतर यही पद्धति अपनायी है। किसी किसी गीत में तो सभी चरणों में बराबर मात्राएँ होती हैः—

ले चल वहाँ भुलावा देकर
मेरे नाविक धीरे धीरे।
जिस निर्जन में सागर लहरी
अम्बर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे।

['लहर'—प्रसाद]

इसमें एक बड़ी पंक्ति को दो बराबर हिस्सों में तोड़कर उसे स्थायी या टेक के रूप में रखा गया है। तीसरी और चौथी पंक्तियाँ अन्तरा के रूप में हैं. और दोनों में मात्रासाम्य और अन्त्यानुप्रास है।

पद-योजना

पाँचवीं और छठी पंक्तियाँ भी एक बड़ी पंक्ति की दो सम टुकड़ियाँ हैं जिनका तुक स्थायी के तुक के साथ मिलता है। बाद वाली चारों पंक्तियाँ मिल कर एक पद (Stanza) बन गयी हैं। प्रगीता मुक्तकों में पद-योजना स्थायी और अन्तरा के आधार पर नहीं होती। उसमें दो-दो चार-चार या इससे अधिकपंक्तियों का एक साथ संयोजित समह पद कहलाता है।

'प्रसाद' का 'आँसू' एक मुक्तक प्रबन्ध काव्य है, पर उसमें भी चार चार चरणों के मुक्तक छन्द रक्खे गये हैं जिनमें दूसरे और चौथे चरणों में अन्त्यानुप्रास है। किसी किसी कविता में एक ही पद में दो छन्दों का मिश्रण करके पद-योजना की गई है। 'पल्लव' की अनेक कविताओं में यह बात दिखलाई पड़ती है :—

मधुरिमा के मधुमास !
मेरा मधुकर का सा जीवन
कठिन कर्म है कोमल है मन ;
['उच्छ्वास'—पंत]

इसमें पहली पंक्ति का छन्द बाद की दो पंक्तियों के छन्द से भिन्न है। दोनों में मात्रा और लय का भेद भी है। 'परिवर्तन' शीर्षक कविता में भावात्मक निबन्ध का गुण है, अतः उसमें भावावेग के अनुसार पदों की योजना की गई है। पदों के चरणों और मात्राओं की संख्या में भी विभिन्नता दिखलाई पड़ती है। कहीं-कहीं तो एक ही पद में कई छन्द प्रयुक्त हुये हैं :—

एक औ बहु के बीच अजान
घूमते तुम निज चक्र समान
जगत के उर में छोड़ महान
गहन चिह्नों में ज्ञान।
परिवर्त्तित कर अगणित नूतन दृश्य निरन्तर
अभिनय करते विश्व मंच पर तुम मायाकर,
जहाँ हास के अधर, अश्रु के नयन करुणतर
पाठ सीखते संकेतों में प्रकट अगोचर,
शिक्षास्थल यह विश्व-मंच, तुम नायक नटवर,
प्रकृति नर्तकी सुघर
अखिल में व्याप्त सूत्रधर
['परिवर्तन'—पंत]

इस पद में प्रथम चार चरणों और अन्तिम दो चरणों का छन्द और लय एक ही है। किन्तु प्रथम तीन चरणों में मात्रासाम्य है, उसी तरह चौथे और अन्तिम दो चरणों में सम मात्रायें हैं। बीच के पाँच चरणों का छन्द दूसरा है और उनमें मात्रा और तुक का साम्य है। यही बात इस कविता के अधिकांश पदों में दिखलाई पड़ती है। परिवर्तन की विराट और संश्लिष्ट भावना को चित्रित करने के लिये छन्द-लय और चरणों की मात्राओं में भी वैषम्य दिखलाना आवश्यक था। इसी प्रकार अन्य छायावादी कवियों ने भी एक ही कविता में भिन्न छन्दों का प्रयोग किया है। महादेवी ने तो कहीं-कहीं गीतों में भी लय-वैभिन्य दिखलाया है :—

घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय !
जलधि-मानस से नव जन्म पा,
सुभग तेरे ही दृग-व्योम में,
सजल श्यामल मन्थर मूक सा
तरल अश्रु-विनिर्मित गात ले,
नित घिरूँ झर झर मिटूँ प्रिय ! ['नीरजा'—महादेवी वर्मा]

इस गीत के पहले और अन्तिम चरण मात्रिक छन्द के हैं जिसमें चौदह-चौदह मात्रायें हैं। किन्तु अन्तरा के चार चरण वर्णवृत्त—द्रुतविलम्बित—के हैं जिसमें प्रत्येक चरण में बारह-बारह अक्षर होने चाहियें। किन्तु उपर्युक्त उद्धरण के अन्तरा के दूसरे चरण में ग्यारह ही अक्षर हैं क्योंकि 'तेरे' में चार मात्राओं के दो ही अक्षर हैं जब कि वहाँ भगण (गुरु, लघु, लघु) के तीन अक्षर होने चाहिये थे। इससे पता चलता है कि कवियों ने स्वच्छन्द रूप से भावों के अनुरूप प्रतीत होने वाले छन्दों का विधान किया, गणों और मात्राओं की गिनती करने के चक्कर में नहीं पड़े।

अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि छन्द के सम्बन्ध में कवियों ने लय का ही मार्ग-निर्देश स्वीकार किया। लय द्वारा ही उन्होंने काव्य-शरीर का निर्माण किया और कभी-कभी तो उन्होंने संगीत की तरह लय द्वारा ही स्वरों को खींच-तानकर पादपूर्ति की। व्रजभाषा, अवधी और उर्दू की कविताओं में भी लय में प्रयुक्त शब्दों के ह्रस्व दीर्घ रूप के सम्बन्ध में यही बात दिखलाई पड़ती है, किन्तु खड़ी बोली की प्रवृत्ति उससे भिन्न है। उसमें जो लिखा जाता है वही पढ़ा जाता है और वैसा ही उच्चारण भी होता है। मात्रिक छन्दों के कारण छायावादी कवियों के सामने यह एक बहुत बड़ा बन्धन था। इस बन्धन को पूर्णतया तोड़ने में छायावादी कविता वहीं सफल हुई जहाँ उसने उर्दू के छन्द—रुबाई, गजल, शेर आदि—को अपनाया। लाला भगवानदीन और गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' ने इस प्रकार के प्रयोग अधिक किये। 'निराला' ने बँगला से प्रभाव ग्रहण कर लय के अनुसार शब्दों को खींच-तानकर लय में मात्राओं की पूर्ति की है:—

मुक्त छन्द और लय

वह तोड़ती पत्थर,
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर,
कोई न छायादार,
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार
['तोड़ती पत्थर'—निराला]

इसमें पहली पंक्ति में जो लय उठती है वह 'पत्थर' शब्द के बाद कुछ देर तक स्वररूप में ही गूँजती है। इसे यदि छन्दोबद्ध किया जाय तो उसका रूप इस प्रकार होगाः—

वह तोड़ती पत्थर, (वहीं)
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर (कहीं)
कोई न छायादार (है)
(बस) पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार (है)

यदि इस प्रकार यह कविता लिखी जाती तो लय के कारण स्वर की खींचतान नहीं करनी पड़ती। किन्तु संगीतात्मकता जहाँ अधिक होती है वहाँ कवि का ध्यान छन्द के चरणों की समता और अन्विति पर नहीं रहता, केवल स्वर-मैत्री पर रहता है। इस कविता में 'कोई न छायादार' के बाद पाठक या गायक स्वर को तीन मात्रा तक और खींचता है। उसी तरह चौथे चरण में भी शुरू में ही दो मात्राओं की कमी है जो 'कोई न छायादार' के बाद स्वर खींचकर पूर्ण कर ली जाती है। इस प्रकार 'छायादार' के पश्चात चार मात्राओं का स्वर खींचना पड़ता है। निराला ने 'गीतिका' की भूमिका में इस सम्बन्ध में विशद रूप से विचार किया है। मुक्तछन्द में चरणों और मात्राओं में वैषम्य देखकर जो घबड़ाते हैं उन्हें लय और संगीत की इस प्रवृत्ति का अध्ययन करना चाहिये। छायावादी कविता की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि उसने लय को छन्द के बन्धनों से बहुत कुछ मुक्त किया है। मुक्तछन्द में यही विशेषता है कि वह अधिकतर लयप्रधान होता है। उसमें भावों के अनुकूल चरणों का प्रसार हो सकता है। मुक्तवृत्त दो प्रकार के होते हैं, एक तो वे जिनमें छन्द और लय दोनों ही होते हैं और दूसरे वे जिनमें छन्द नहीं होता, किसी न किसी प्रकार की लय ही होती है। उपर्युक्त मुक्तछन्द में लय और छन्द दोनों ही हैं। 'पन्त' की निम्नलिखित कविता में भी छन्द और लय दोनों ही हैं और स्वरमैत्री तथा अनुप्रास से उसे संगीतपूर्ण बना दिया गया है :—

हँसते भू के अँग अँग,
हरित हरित रँग,
दुर्वा — पुलकित भूतल
नवोल्लसित तृण-तरु-दल
इंगित करते चंचल
जीवन का जीवित रँग
हरित हरित रँग।—[हरीतिमा—युगवाणी—पन्त]

यह मुक्तछन्द की कविता होते हुये भी गेय है। निराला ने अधिकतर घनाक्षरी को तोड़कर मुक्तछन्दों की रचना की है। केवल लय पर आधारित मुक्तछन्दों की रचना छायावाद-युग में बहुत कम हुई, छायावाद-युग के बाद उसका चलन अधिक हुआ। उदाहरण के लिये 'अज्ञेय' की एक कविता का कुछ अंश पर्याप्त है :-

नये-नये मुहल्लों की ऊँची-ऊँची इमारतों के बीच से लाँघता हुआ
मैं क्षण भर ठिठक गया, मेरी बहकी हुई आँख
एक डाक्टरनी के नये बँगले के कंकरीट के बढ़े हुये
निराधार पोर्च पर टिक गई।

× × ×

मेरा ध्यान
धुँधला सा पड़ता हुआ,
गया
मैदान के किनारे वाली पटरी के उस मौलसिरी के
गाछ की ओर।

[कंकरीट का पोर्च—'इत्यलम्']

इसमें छन्द नहीं है और न संयमित लय ही है किन्तु असंयमित भावात्मक लय अवश्य है जो गद्य की लय से कुछ भिन्न है। इस प्रकार छायावाद-युग में लय और छन्द सम्बन्धी विविध प्रयोग हुये और विविध भाषाओं से प्रभाव ग्रहण करके हिन्दी काव्य-साहित्य को समृद्धि और प्रभावपूर्ण बनाया गया।

— - ——

सहायक ग्रन्थ-सूची

(हिन्दी-संस्कृत)

अज्ञेय, स० ही वात्स्यायन—त्रिशंकु, इत्यलम, आधुनिक हिन्दी साहित्य, तारसप्तक—दोनों भाग।

अग्रवाल, केदारनाथ—नींद के बादल, युग की गंगा।

आनन्दवर्धन—ध्वन्यालोक।

उपाध्याय, देवराज—रोमांटिक साहित्यशास्त्र।

उपाध्याय, बलदेव—भारतीय साहित्यशास्त्र (दोनों भाग)।

उपाध्याय, भगवतशरण—भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण।

कविराज, विश्वनाथ—साहित्य-दर्पण।

कुन्तक, राजानक—वक्रोक्तिजीवित।

केडिया, अर्जुनदास—भारती-भूषण।

गुप्त, प्रकाशचन्द्र—नया हिन्दीसाहित्य-एक दृष्टि।

गुप्त, मैथिलीशरण—झंकार, यशोधरा, द्वापर, साकेत, भारत-भारती, कुणाल।

गुर्टू, शचीरानी [सम्पादिका]—महादेवी वर्मा काव्यकला और जीवन-दर्शन।

गुप्त, सियारामशरण—दूर्वादल।

चौहान, सुभद्राकुमारी—मुकुल, त्रिधारा।

चौहान, शिवदानसिंह—साहित्य की परख, प्रगतिवाद।

चतुर्वेदी, माखनलाल—त्रिधारा, हिमतरंगिनी।

तिवारी, हंसकुमार—साहित्यिका।

दण्डी—काव्यादर्श।

दिनकर, रामधारी सिंह—मिट्टी की ओर, रसवंती, हुंकार, द्वन्द्व-गीत, रेणुका।

दीक्षित, अप्पय—कुवलयानन्द।

द्विवेदी, देवनारायण—देश की बात।

द्विवेदी, हजारीप्रसाद, आचार्य—साहित्य का साथी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, विचार और वितर्क, अशोक के फूल ।

दत्त, रजनी पाम—आज का भारत (अनु० डा० रामविलास शर्मा) ।

देवराज, डाक्टर—छायावाद का पतन, साहित्य-चिन्ता ।

निराला, सूर्यकान्त त्रिपाठी—प्रबन्ध-प्रतिमा, अनामिका, परिमल, अपरा, गीतिका, तुलसीदास ।

'नवीन' बालकृष्ण शर्मा,—कुमकुम, मानव ।

नरेन्द्र, (नरेन्द्र शर्मा)—शूलफूल, प्रभातफेरी, पलाश-वन ।

नगेन्द्र, डाक्टर—सुमित्रानन्दन पन्त, विचार और अनुभूति ।

नेपाली—पंचमी, उमंग, नवीन ।

प्रसाद, जयशङ्कर—कानन-कुसुम, कामायनी, आँसू, लहर, काव्य और कला तथा अन्य निबंध, चन्द्रगुप्त ।

पन्त, सुमित्रानन्दन—आधुनिक कवि, ग्राम्या, पल्लव, वीणा, गुंजन, युगवाणी ।

पांडेय, गंगाप्रसाद—महादेवी वर्मा, महाप्राण निराला, महादेवी का विवेचनात्मक गद्य ।

पण्डितराज, जगन्नाथ—रसगङ्गाधर ।

पोद्दार, कन्हैयालाल—संस्कृत साहित्य का इतिहास (तृतीय भाग) ।

प्रभात, केदारनाथ—संवर्त ।

प्रेमी, हरिकृष्ण—अग्निगान ।

बच्चन, हरिवंशराय—आकुल अन्तर, निशानिमंत्रण, एकान्त संगीत, मधुशाला, मधुबाला, मधुकलश ।

मम्मट—काव्यप्रकाश ।

मल्ल, विजयशंकर—काव्य में प्रगतिवाद ।

मिश्र, रामदहिन—काव्य में अप्रस्तुत योजना, काव्यालोक (द्वितीय उद्योत) ।

मिश्र, विश्वनाथप्रसाद—काव्यांग कौमुदी (द्वितीय कला), वांग्मय-विमर्श, हिन्दी का सामयिक साहित्य ।

रामखेलावन—गीतिकाव्य।

राय, गुलाब—काव्य के रूप, सिद्धान्त और अध्ययन।

राव, बालकृष्ण—कवि और छवि, आभास।

लाल, श्रीकृष्ण, डाक्टर—आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास।

वर्मा, भगवतीचरण—प्रेम-संगीत, मानव, मधुकण।

वामन—काव्यालंकार-सूत्र।

वर्मा, महादेवी—रश्मि, नीरजा, दीपशिखा, आधुनिक कवि।

वर्मा, रामकुमार—चित्ररेखा, रूपराशि आधुनिक कवि।

वाजपेयी, नन्ददुलारे—आधुनिकसाहित्य, हिन्दी साहित्य—बीसवीं सदी, जयशंकर प्रसाद।

वार्ष्णेय, लक्ष्मीसागर—आधुनिक हिन्दी साहित्य।

शिवनाथ—आधुनिक साहित्य की आर्थिक भूमिका, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

शुक्ल, रामचन्द्र—रसमीमांसा, हिन्दी साहित्य का इतिहास, चिन्तामणि [दूसरा भाग], काव्य में रहस्यवाद।

शुक्ल, केसरीनारायण, डाक्टर—आधुनिक काव्यधारा, आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत।

शर्मा, रामविलास—प्रगति और परम्परा, साहित्य और संस्कृति, भारतेन्दु-युग।

सुधीन्द्र—हिन्दी कविता में युगान्तर।

सुधांशु, लक्ष्मीनारायण सिंह—जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त, काव्य में अभिव्यंजनावाद।

सिंह, सूर्यबली—हिन्दी की प्राचीन और नवीन काव्यधारा।

सिंह, बच्चन—क्रान्तिकारी कवि निराला।

'सुमन', शिवमंगल सिंह—जीवन के गान, हिल्लोल, प्रलय और सृजन।

सुमन, रामनाथ—कवि प्रसाद की काव्य साधना।

त्रिपाठी, करुणापति—शैली।

BIBLIOGRAPHY.

Bose, Abinash Chandra	Three Mystic Poets
Bliss, Perry	A study cf Poetry
Coomarswami, Anand K.	The transformation of Nature
Croce, Bendetto	Aesthetics
Caudwell, Cristopher	Illusion and Reality, Studies in Dying Culture, Further Studies in Dying Culture.
Datta, Bhupendra Nath	Studies in Indian Social Polity.
Evans, Ifor	Tradition and Romanticism
Erskine	The Elizabethan Lyric.
Engels, Frederick	Anti Duhring
Fast, Howard	Literature and Reality
Francke, K.	Social Forces in German Literature.
Fuess	Byron as a Satirist in Verse
Flores, Angel	Literature and Marxism.
Fox, Ralph	The Novel and the People.
Gupta; Rakesh	Psychological Study in Rasa
Gorky, Maxim	Culture and the People.
Gilkes, Martin	A key to Modern English Poetry
Harrison, John Smith	Platonism in English Poetry
James, Scott, R. K.	The Making of Literature
Lucas, F. L.	The Decline and Fall of the Romantic Ideal
Lunacharsky, A. V,	Lenin on Art and Literature

Mair, G. H.	English Literature—Modern.
Mastse-Fung	Problem of Art and Literature.
Marx, Karl	Articles on India,
Marx and Engels,	Communist Manifesto, Literature and Art
Murry, Middleton,	Probems of Style
Priest, George M.	A Brief History of German Literature.
Potter, Simeon	Our Language.
Quiller Couch, Arthur,Sir,	On the Art of Writing
Read, Herbert	Art and Society, Phases of English Poetry, English Prose Style, Collected Essays in Literary Criticism.
Robertson, J. G.	The Literature of Germany
Richards, I. A.	Principles of Literary Criticism, Practical Criticism.
Spingaran, J.E.	The New Criticism.
Sastri, Pancapagesh, P.	The Philosophy .of Aesthetic Pleasure.
Sastri, Kuppuswami	Highways and Byways of Literary Criticism in Sanskrit.
Sabine, G. H.	History of Political Theory.
Stalin J.V.	Concerning Marxism in Linguistics .
Sully, James	Outline of Psychology.

Sushil Kumar	History of Sanskrit Literature.
Thompson and Garrratt	Rise and Fulfilment of British Rule in India.
Werner, Robert M.	Romanticism and the Romantic School in Germany
Woodworth, Robert S.	Psychology.
Waddington, C. H.	The Scientific Attitude.
Ward, A. C.	The Nineteen—Twenties, Twentieth Century English literature.
Zhdanov, A. A.	On Literature, Music and Philosophy; Tasks of Soviet writers.
Zacheria.	Renascent India.

अनुक्रमणिका

―――